माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जैनदर्शन-साहित्य-पुराण-आगमादिप्राचीनसाहित्योद्धारिका प्राकृत-संस्कृत-
अपभ्रंशादिभाषागुम्फिता जैनग्रन्थावलि ।

इयञ्च

साधुचरित-सदाशय-दानवीर-स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र जे. पी.
महाशयाना स्मरणकृते दि० जैनसमाजेन संस्थापिता ।



अवै० मन्त्री— { श्री पं० नाथूरामः प्रेमी, बम्बई ।
श्री प्रो० हीरालालः M A LL B अमरावती ।

कोषाध्यक्षः— श्री ठाकुरदास-भगवान्दासः जवेरी बंबई ।

ग्रन्थांक:—३९.

प्राप्तिस्थानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

हीराबाग

पो० गिरगाँव, बंबई नं० ४



स्थापनाब्दा] [वि० सं० १९७२.

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य

स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्या य कु मु द च न्द्रः

[द्वितीयो भागः]

(न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारलिखितटिप्पणादिसहितः)

स चायम्

काशीस्थ-श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन
'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-अकलङ्कग्रन्थत्रया'दिग्रन्थानां सम्पादकेन
न्यायाचार्य-न्यायदिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थाद्युपाधिभूषितेन
पं० म हे न्द्र कु मा र शा स्त्रि णा
प्रस्तावना-पाठान्तर-तुलनार्थबोधकटिप्पणी-अवतरणनिर्देश-परिशिष्टादिभिः
संस्कृत्य संशोधितः, सम्पादितश्च ।

प्रकाशकः—

मन्त्री-श्री पं० नाथूराम प्रेमी,
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

मुद्रक—बाबू रामकृष्णदास बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस बनारस ।

वीरनिर्वाणाब्द २४६७

विक्रमाब्द १९९८] प्रथमावृत्ति ६०० प्रति [ख्रिस्ताब्द १९४१.

MÂṆIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ.

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL, PHILOSOPHICAL, HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC WORKS OF JAIN LITERATURE IN PRAKRIT, SAMSKRIT AND APABHRAMŜA

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

LATE, DÂNVÎR, SÊTH MÂNIK CHANDRA HIRA CHANDRA

JUSTICE OF PEACE BOMBAY.

NUMBER 39

HONY. SECRETARIES:-

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti.*

CASHIER:—

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay*

TO BE HAD FROM—

Secy. MANIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

Founded] **[1915 A.D**

NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

ŚRÎMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[VOL II]

A commentary on Bhaṭṭâkalaṅkadeva's Laghîyastraya

EDITED WITH —*INTRODUCTION EXHAUSTIVE ANNOTATIONS, COMPARATIVE STUDY OF JAIN, BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES, AND THE VARIENT READINGS INDEXES ETC*

BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYACHARYA

NYAYA DIVAKAR, JAIN & PRÂCHÎN NYÂYÂTÎRTHA,

EDITOR OF '*AKALANK GRANTHATRAY*', '*PRAMEYA KAMAL MARTAND*' ETC

JAIN-DARŚANÂDHYÂPAK

ŚRÎ SYÂDVÂD DIG JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

BHADAINI, KASHI.

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂṆIK CHANDRA DIG JAIN SERIES

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY 4

PRINTED BY—RAMA KRISHNA DAS AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY PRESS BENARES

[V. E. 1998] *First Edition, 600 Copies.* [1941 A. D.

न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका अनुक्रम





समर्पणम्—

"श्रीजैनसिद्धान्तमहोदधिर्मे समग्रसिद्धान्तगुरुश्चकास्ति ।
वंशीधरो जैनकुलावतंसी हंसीयति न्यायनये जनोऽयम् ॥ १ ॥

स न्यायालङ्कारश्चश्चन्स्याद्वादवारिधिर्धीमान् ।
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञः कर्मकाण्डस्य ॥ २ ॥

तस्याद्य चरित्रस्यायामुपहारधिया मया ।
सम्पाद्य न्यायकुमुदोत्तरार्धमिदमर्प्यते ॥ ३ ॥"

तदन्यतमशिष्येण
न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारेण

आ० संज्ञक, ईडरभण्डारीय त्रुटित प्रति का ११ वाँ पत्र, द्वितीय पार्श्व.

प्रकाशककी ओरसे



लगभग दो वर्षके बाद न्यायकुमुदचन्द्रका यह दूसरा भाग भी पाठकोंके सामने उपस्थित किया जा रहा है और इस तरह कोई बीस वर्षके बाद इस महान् ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी मेरी इच्छा पूरी हो रही है। पूर्वार्धके समान इस उत्तरार्धका भी सर्वाङ्ग सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है और इसके लिए सम्पादक महाशय धन्यवाद के पात्र हैं। उनका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोंके लिए ग्रन्थ-सम्पादन कार्यमें मार्गदर्शकका काम देगा। हमें आशा करनी चाहिए कि आगे जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हों वे इसी सावधानी और ऐसे ही परिश्रमसे हों।

इन दो वर्षोंमें इस ग्रन्थमालाकी ओर से महापुराणका दूसरा खण्ड और जटासिंहनन्दिका वराङ्गचरित्र, ये दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हो चुके हैं। महापुराणका तीसरा खण्ड प्रेसमें है, और आशा है कि वह भी इस सालके अन्त तक समाप्त हो जायगा।

ग्रन्थमालाके आर्थिक संकटकी बात मैं पहले लिख चुका हूँ, वह अभी चल ही रहा है। ग्रन्थमालाके कोषाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जौहरीने अपने हाथकी अन्य संस्थाओंसे कुछ रकम कर्जके तौर पर ले ली है और इस तरह फिलहाल अधूरे ग्रन्थोंको पूरा करनेकी समस्याको हल कर लिया गया है। आगे क्या होगा, यह भविष्य ही बतलायगा, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह बात ग्रन्थमालाके मन्त्रीके अधिकारकी सीमाके भीतर नहीं आती कि वह ग्रन्थकर्त्ताके समय आदिके विषयमें भी कुछ लिखे और उसकी ऐसी कोई जरूरत भी नहीं मालूम होती। परन्तु सम्पादक महाशयका आग्रह है कि मुझे कुछ लिखना ही चाहिए, अत एव विवश हूँ।

पहले भागकी भूमिकामें पं० कैलासचन्द्रजीने और इस भागकी भूमिकामें पं० महेन्द्रकुमारजीने आचार्य प्रभाचन्द्रके समयादिके विषयमें खूब विस्तारके साथ ऊहापोह किया है। यद्यपि दोनों विद्वानोंमें अनेक बातोंमें मतभेद है, फिर भी उससे इस ग्रन्थके पाठकोंके समक्ष आचार्य प्रभाचन्द्रके समयकी शताब्दी तो कमसे कम निर्भ्रान्तरूपसे स्पष्ट हो जाती है, और यह बहुत बड़ी बात है।

मेरी समझमें प्रभाचन्द्राचार्य, जैसा कि उनके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें ही लिखा है, धारानरेश भोज-देव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके समयके विद्वान् हैं और अब इस विषयमें जरा भी सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।

अभी तक उनके समय-निर्णयमें सबसे बड़ा बाधक भगवज्जिनसेनके आदिपुराणका वह 'चन्द्रांशुशुभ्र-यशसं' आदि श्लोक* था, जिसने विद्वानोंको एक ऐसा दिग्भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि वे जिनसेनके बाद प्रभाचन्द्रके होनेकी बात सोच ही नहीं सकते थे। क्योंकि उसमें 'प्रभाचन्द्रकवि' और 'कृत्वा चन्द्रोदय' पद इतने स्पष्ट थे कि उनके कारण प्रभाचन्द्राचार्य और न्यायकुमुदचन्द्रके सिवाय दूसरी ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती थी। जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पं० कैलासचन्द्रजीने उक्त श्लोकके माने हुए अर्थमें शङ्का उठाई और अनुमान किया कि जिनसेन स्वामीने किसी और ही प्रभाचन्द्रकी स्तुति की होगी और उनका बनाया हुआ कोई 'चन्द्रोदय' नामका ग्रन्थ भी होगा।

उन्होंने द्वितीय जिनसेनके हरिवंशपुराणके 'आकूपारं यशो लोके' आदि श्लोक† में यह भी अनुमान

---

* चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे । कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥

† आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् । गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥

किया कि वे प्रभाचन्द्र कुमारसेन गुरुके शिष्य थे जब कि न्यायकुमुदचन्द्रकर्त्ताके गुरु पद्मनन्दि थे। अत एव दोनों जुदा जुदा समयके जुदा जुदा विद्वान् है।

इस उलझनके सुलझ जानेपर प्रभाचन्द्रके समय-निर्णयका मार्ग सुगम हो गया और अब तो पं० महेन्द्रकुमारजीने उनके ग्रन्थोंके अन्तरंग प्रमाणों तथा बहि प्रमाणोंसे बिल्कुल निश्चित ही कर दिया है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदके अतिरिक्त उनके और कौन कौन ग्रन्थ हैं, इसका पता लगानेकी और यह सप्रमाण सिद्ध करनेकी कि वे उन्हींके है, दूसरे प्रभाचन्द्र नामधारियोके नहीं है, अभी और जरूरत है।

मेरी समझमें प्रभाचन्द्रने टीका-टिप्पण ग्रन्थ बहुत लिखे हैं और अभी तक जिन्हें दूसरे प्रभाचन्द्रोंका समझा जाता था उनमेंसे नीचे लिखे टीका-ग्रन्थ तो उनके ही हैं यह प्राय निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। भूमिकामें इनमेंसे कुछकी चर्चा भी की जा चुकी है—

१ तत्त्वार्थवृत्तिपद विवरण (सर्वार्थसिद्धि-टिप्पण)।
२ प्रवचनसरोजभास्कर।
३ शब्दाम्भोजभास्कर।
४ रत्नकरण्ड-टीका।
५ क्रियाकलाप-टीका।
६ समाधितन्त्र-टीका।
७ आत्मानुशासन-तिलक।
८ महापुराण (पुष्पदन्त)-टिप्पण।
९ द्रव्यसग्रह-पंजिका।

पिछले ग्रन्थकी सूचना अभी हाल ही मुझे रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे ब्राचके हस्तलिखित ग्रन्थोंके कैटलॉगमें मिली। उक्त ग्रन्थकी प्रति सं० १८२२ की लिखी हुई है। उसका मङ्गलाचरण यह है—

"नत्वा जिनार्कमपहस्तितसर्वदोषं लोकत्रयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मम्।
ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थं षड्द्रव्यनिर्णयमहं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥"

मङ्गलाचरणकी यह शैली प्रभाचन्द्रकी ही है और उनके अन्य मङ्गलाचरणोंके साथ इसका शब्दसाम्य भी है।

आराधनाकथाकोश (गद्य) भी इन्हींका बनाया हुआ है।

अन्य ग्रन्थसूचियोंमें प्रभाचन्द्रके नामसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं। मेरा अनुमान है कि इनमेंसे अधिकाश इन्हीं प्रभाचन्द्रके होंगे—

१ अष्टपाहुड-पञ्जिका
२ स्वयभूस्तोत्र-पञ्जिका
३ देवागम-पञ्जिका
४ समयसार टीका
५ पञ्चास्तिकायटीका
६ मूलाचारटीका
७ आराधना-टीका
८ पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाटीका

इन टीका-ग्रन्थोंकी छान-बीन होने पर समयादिके सम्बन्धमें और भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सकेंगे। मैं गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजके प्रिंसिपल डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री और हिन्दू विश्वविद्यालयके जैनदर्शनाध्यापक पं० सुखलालजीका आभार मानता हूँ जिन्होने आदिवचन और प्राक्कथनके रूपमें बहुमूल्य विचार उपस्थित किए है।

बम्बई
२७-३-४१

—नाथूराम प्रेमी
मन्त्री ग्रन्थमाला।

॥ आदिवचन ॥



भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, भिन्न भिन्न समयमें अधिकारिभेदसे अनेक दर्शनोंका उत्थान इस देशमें हुआ। दृश्य जगत्‌के सम्पर्कसे विभिन्न परिस्थितियोंके कारण मनुष्यके हृदयमें जो अनेक प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है उनका समाधान करना ही किसी दर्शनका मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासाभेदसे दर्शनोंका भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझमें एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्योंने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढ़ियोंसे अपनेको पृथक् करके स्वतन्त्र दृष्टिसे दार्शनिक प्रमेयोंके विश्लेषणकी चेष्टा की है। हम यहां विश्लेषण शब्दका प्रयोग जान-बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थितिमें एक दार्शनिकका कार्य—जिस प्रकार एक वैयाकरण शब्दका व्याकरण अर्थात् विश्लेषण न कि निर्माण, करता है—इसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धोंके रहस्यका उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थोंकी सत्ता हमारे विचारोंसे निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्तको प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैन दर्शनका अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

अनेकान्तवादका मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि वस्तुके विषयमें साधारण न

होते हुए भी उसके विपयमें तत्तदवस्थाभेदके कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्तकी मौलिकतामें किसको सन्देह हो सकता है। क्या हम

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।" [महाभारत]

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥" [केनोपनिषत् २।३] इत्यादि वचनोंको मूलमें अनेकान्तवादका ही प्रतिपादक नही कह सकते? दर्शनशब्द ही स्वतः दृष्टिभेदके अर्थको प्रकट करता है। इस अभिप्रायसे जैनाचार्योंने अनेकान्तवादके द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनोंमें विरोध भावनाको हटाकर परस्पर समन्वय स्थापित करनेका एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अवस्थाओंसे बद्ध, सदैव विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थोंको देखनेका अभ्यासी मनुष्य, किसी पदार्थके अखण्ड सकल-स्वरूपको कैसे जान सकता है? उस अखण्ड मूल-स्वरूपको हम सच्चे अर्थमें "गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" कह सकते हैं। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यां वृतं दिवि" [यजुर्वेद पुरुपसूक्त] इस वैदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शनमें प्रतिपादित अनेकान्तवादके इस मौलिक अभिप्रायको समझनेसे दार्शनिक जगत्‌में परस्पर विरोध तथा कलहकी भावनाओंके नाशसे परस्पर सौमनस्य और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्मकी भारतीय संस्कृतिको बड़ी भारी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तवमें दार्शनिकभित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिकदृष्टिसे यदि अहिंसावादको ही जैनधर्ममें सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवादको ही उसका दार्शनिकदृष्टिसे अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्दका अर्थ भी मानवीय सभ्यताके उत्कर्षानुत्कर्षकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण मनुष्यके स्थूल विचारोंकी दृष्टिसे हिंसा किसीकी जान लेनेमें ही हो सकती है। किसीके भावोंको आघात पहुंचानेको वह हिंसा नही कहेगा। परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारोंकी असहिष्णुताको भी हिंसा ही कहेगा। उसका सिद्धान्त तो यही होता है कि—

"अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहताः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥"

[विदुरनीति २।७७,८०]

सभ्य जगत्‌का आदर्श विचार स्वातन्त्र्य है। इस आदर्शकी रक्षा अहिंसावाद (हिंसा—असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारोंकी सङ्कीर्णता या असहिष्णुता

ईर्षा-द्वेषकी जननी है। इस असहिष्णुताको हम किसी अन्धकारसे कम नहीं समझते। आज हमारे देशमें जो अशान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही विचारोंकी सङ्कीर्णता है। प्राचीन संस्कृत साहित्यमें पाया जानेवाला **'आनृशंस्य'** शब्द भी इसी अहिंसावादका द्योतक है। इस प्रकारके अहिंसावादकी आवश्यकता सारे संसारको है। जैनधर्मके द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टिसे जैनदर्शन भारतीय दर्शनोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

चिरकालसे ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देशमें दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे निकलकर विशुद्ध दार्शनिकदृष्टिसे किया जावे। और उसमें दार्शनिक समस्याओंको सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिका यथासंभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धतिके अवलम्बनसे भारतीय दर्शनका क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययनमें एक प्रकारकी सजीवता आ सकती है।

यह प्रसन्नताकी बात है कि कुछ विद्वानोंने बहुत कुछ इसी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थोंका सम्पादन प्रारम्भ कर दिया है। प्रज्ञाचक्षु प्रसिद्ध विद्वान् पं० सुखलालजीका नाम इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। दार्शनिक विद्वान् प० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने भी इसी पद्धतिका अवलम्बन कर जैनदर्शनके साहित्यका सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक आप न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके विद्वत्तापूर्ण संस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। न्यायकुमुदचन्द्रका यह द्वितीय भाग भी उसी प्रकार बड़े परिश्रमसे सम्पादन करके प्रकाशित किया जा रहा है। आपकी प्रस्तावनाओं और टिप्पणियोंसे पगपग पर यह स्पष्ट है कि आपने अनेकानेक अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करके यथासंभव इस बातकी चेष्टा की है कि प्रकृतग्रन्थका उनके साथ जो कुछ भी सम्बन्ध हो वह स्पष्ट हो जावे। इसके लिए संस्कृत विद्वन्मण्डली सम्पादक महाशयकी अवश्य आभारी होगी। हम अपनी ओरसे उनको हृदयसे इस सफलता पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थ सम्पादक महाशय उनकी पद्धतिका अवलम्बन करेंगे।

—मङ्गलदेव शास्त्री,
M.A., D.Phil., (Oxon)
[प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस
रजिस्ट्रार, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज एक्जामिनेशन्स
यू० पी०, बनारस]

सरस्वती भवन,
२८।३।३९

॥ प्राक्कथन ॥



न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागमें मै अपना प्राक्कथन लिख चुका हूँ। फिर भी इस दूसरे भागकी प्रस्तावना जब मै सुन गया तब प्राक्कथन रूपसे कुछ भी लिखनेके संपादकीय अनुरोधको टाल न सका। इसीलिए कुछ लिखने को प्रवृत्त हुआ हूँ। न्यायकुमुदचन्द्र यह दर्शनका ग्रन्थ है सो भी सप्रदायविशेषका, अतएव सर्वोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनका मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुत. उसका मतलब क्या होना चाहिए। इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि संप्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शन का सबन्ध कैसा रहा है तथा उस साप्रदायिक सम्बन्धके फल स्वरूप दर्शनमें क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि।

सब कोई सामान्यरूपसे यही समझते और मानते आए है कि दर्शनका मतलब है तत्त्वसाक्षात्कार। सभी दार्शनिक अपने अपने साप्रदायिक दर्शनको साक्षात्काररूप ही मानते आए है। यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सदेहको अवकाश न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो। अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक सप्रदायाश्रित विविध दर्शनोमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे? और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा? इस शकाका जवाब देने के लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझे। उसका जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमे वह समग्र दर्शनो द्वारा निर्विवाद और असंदिग्धरूपसे सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोमें ही घट सकता है—

१–पुनर्जन्म, २–उसका कारण, ३–पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४–साधनविशेषद्वारा पुनर्जन्मके कारणोका उच्छेद।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं। कभी न कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओको उक्त तत्त्वोका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है; क्योकि आज तक किसी आध्यात्मिक दर्शनमे इन तथा ऐसे तत्त्वोके बारेमें न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोके विशेष विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके ब्यौरेवार विचारमे सभी प्रधान प्रधान दर्शनोंका, और कभी कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी सप्रदायके ब्यौरेवार मन्तव्य साक्षात्कारके विषय हुए हों। अगर वे मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस सप्रदायके? किसी एक

संप्रदायको व्यौरेके बारेमें साक्षात्कर्ता—द्रष्टा साबित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोंमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद व्यौरेके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेसे जान पडता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबलप्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके **"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** इस सूत्रमे तथा इसकी व्याख्याओमे वह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं। वाचकश्रीने साफ कहा है कि प्रमेयोकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने है बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको संप्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका-विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यो तो संप्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्वचिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोमें भी परस्पर विरोधी अनेक सप्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्वचिन्तकोके सप्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके सप्रदाय मूलमे धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी सप्रदायोने तत्त्वचिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार मे भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्त्वचिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिकप्रदेश जुदे जुदे सप्रदायोके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमे जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक सप्रदाय अपने जिन मन्तव्यो पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योको दूसरा विरोधी संप्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य साप्रदायिक विश्वास या साम्प्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत सप्रदायोकी भूमि पर व्यौरेके विशेष प्रवाहोमे विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी संप्रदायोको कल्पनाओका—दलीलोका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी साम्प्रदायिक तत्त्वचिन्तक अपने अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा संप्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओका तथा सत्य असत्य और अर्धसत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एक तरफसे जहाँ सम्प्रदायने मूलदर्शन यानी साक्षात्कारकी रक्षा की और जहाँ उसे स्पष्ट करनेके लिए अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँ कीं, वहाँ दूसरी तरफसे संप्रदायकी बाड़ पर बढ़ने तथा फूलने-फलनेवाली तत्त्वचिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे सम्प्रदायोंके सिवाय दूसरा कोई सहारा ही न रहा। फलतः पर्देवाली स्त्रियोंकी तरह तत्त्वचिन्तनकी बेल भी कोमल और संकुचितदृष्टिवाली बन गई।

हम सांप्रदायिक चिन्तकोंका यह झुकाव रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तनमें तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितनाही लचरपन क्यों न हो उसे प्रायः देख नहीं पाते। और दूसरे विरोधी संप्रदायके तत्त्वचिन्तनोंमें कितना ही सादूगुण्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं। साम्प्रदायिक तत्त्वचिन्तकोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे संप्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपनाकर भी मुक्तकण्ठसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हमेशा हिचकिचाते हैं। दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लाँघकर विश्वासकी भूमिका पर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन सांप्रदायिक संकुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोंका पुञ्ज भी बन गया। अब तो यह पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है? हर एक संप्रदायका अनुयायी चाहे वह अपढ़ हो, या पढ़ा लिखा, विद्यार्थी एवं पंडित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचिंतक ग्रन्थोंको सुनता है या पढ़ता पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या संदेहको अवकाश ही नहीं है। तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी संप्रदायके ग्रन्थमें नहीं है। और अगर है तो भी वह हमारे संप्रदायसे ही उसमें गया है। इस प्रकारकी प्रत्येक संप्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बलवती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्यजातिका उपकार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा।

मै समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमें से एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तात्त्विकदृष्टिसे किया जाय वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाय। जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके प्रमेयोके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। वह जानकरी अधूरी या विपर्यस्त नहीं। पूरी और यथासंभव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है। ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमेंसे संकुचितता तथा तज्जन्य भय आदि दोषोको उसी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तम को। हम असर्वज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिकसे अधिक सत्यके निकट पहुँचना चाहते हैं। अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधिकाधिक सत्य या तत्त्वदर्शनके अधिकारी बनना चाहते है तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथा संभव सर्वांगीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी पढे।

न्यायकुमुदचन्द्रके सपादक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूल ग्रन्थके नीचे एक एक छोटे बड़े मुद्देपर जो बहुश्रुतत्वपूर्ण टिप्पण दिये हैं और प्रस्तावनामें जो अनेक संप्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेनदेनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपर्युक्त दृष्टिसे अध्ययन करने करानेमें ही है। सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रस्तावनाका

मर्मांश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकोंके लिए। जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमें से बहुत कुछ पा सकता है। अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुवास विद्यार्थियोंमें तथा अपढ अनुयायियोंमें भी अपने आप फैलने लगती है। इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाय तो मुझको यह कहनेमें लेश भी संकोच नहीं होता कि संपादकका टिप्पण तथा प्रस्तावनाविषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें सांप्रदायिकताकी संकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा।

भारतवर्षको दर्शनोंकी जन्मस्थली और क्रीडाभूमि माना जाता है। यहाँका अपढ जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दार्शनिक पौरुषशून्य क्यों हो गया है? इसका विचार करना जरूरी है। हम देखते हैं कि दार्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। पहली बात दर्शनोंके पठन-सम्बन्धी उद्देश्यकी है। जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धिप्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर झुकता है। मानो दार्शनिक अभ्यास का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या वादविजय एवं बुद्धिविलास। इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील। इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण-मृत्युकी गाथा सिखाकर अभयका संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं। जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्यका विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं। दर्शन जहाँ दिन रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदोंको और भी विशेषरूपसे पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं। यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है। इसका कारण एक ही है, और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक ठीक न समझना। दर्शन पढ़नेका अधिकारी वही हो सकता है और उसेही पढना चाहिए कि जो सत्य-असत्यके विवेकका सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो। सचमुच दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि। इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उस का पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेशमें नये संशोधनोंकी। अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक संप्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रूढ हो गई हैं उन्हींको उस संप्रदायमें सर्वसंपूर्ण माना जाता है। और आवश्यक नये विचार प्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता। पूर्व-पूर्व पुरुषोंके द्वारा किए गए और उत्तराधिकारमें दिए गए चिन्तनों तथा धारणाओंका प्रचार ही सम्प्रदाय है। हर एक संप्रदायका अनुगामी अपने मन्तव्योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकी प्रतिष्ठाका उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वह नहीं तक

ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और संशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डींग हाँकता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमे संशोधन करनेकी गुंजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जायगा तो यह सनातन दार्शनिकविद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जायगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्रमें संशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

दर्शन सम्बन्धी इतनी सामान्य चर्चा कर लेनेके बाद कुछ ऐतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलंकके समयका। प० महेन्द्रकुमारजीने **"अकलङ्कग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावनामे धर्मकीर्ति और उसके शिष्यों आदिके ग्रन्थोंकी तुलनाके आधार पर अकलङ्कका समय निश्चित करते समय जो विक्रमार्कीय शकसंवत् का अर्थ विक्रमीयसंवत् न लेकर शक-संवत् लेनेकी ओर संकेत किया है वह मुझको भी विशेष साधार मालूम पडता है। इस विषयमे पंडितजीने जो धवलाटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजीके कथनका उल्लेख प्रस्तावना (पृ० ५) में किया है वह उनकी अकलङ्कग्रन्थत्रयमे स्थापित विचारसरणीका ही पोषक है। इस बारेमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प० जयचन्द्र विद्यालङ्कारजीका§ विचार भी प० महेन्द्रकुमारजीकी धारणाका ही पोषक है। मै तो पहिलेसे ही मानता आया हूँ कि अकलंकका समय विक्रमकी आठवीं

---

§ वे **भारतीय इतिहासकी रूपरेखा** (पृ० ८२४-२९) में लिखते है कि-"महमूद गजनवीके समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्री अल्बेरूनीने अपने भारत विषयक ग्रन्थमें शकराजा और दूसरे विक्रमादित्यके युद्धकी बात इस प्रकार लिखी है-"शकसंवत् अथवा शककालका आरम्भ विक्रमादित्यके संवत्से १३५ वर्ष पीछे पडा है। प्रस्तुत शकने उन (हिंदुओ) के देश पर सिन्ध नदी और समुद्रके बीच, आर्यावर्त्तके उस राज्यको अपना निवास स्थान बनानेके बाद बडे अत्याचार किए। कइयो का कहना है, वह अलमन्सूरा नगरीका शूद्र था, दूसरे कहते है वह हिन्दू था ही नही और भारतमें पश्चिम से आया था। हिन्दुओको उससे बहुत कष्ट सहने पडे। अन्तमे उन्हे पूरब से सहायता मिली जब कि विक्रमादित्यने उस पर चढाईकी, उसे भगा दिया, और मुलतान तथा लोनीके कोटलेके बीच करूर प्रदेशमे उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध हो गई, क्योकि लोग उस प्रजा पीडककी मौतकी खबरसे बहुत खुश हुए, और उस तिथिमे एक संवत शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेषरूपसे वर्तने लगे। ... किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले संवत् के आरम्भ और शकके मारे जाने के बीच बडा अन्तर है, इससे मै समझता हू कि उस संवत् का नाम जिस विक्रमादित्य के नामसे पडा है, वही शकको मारनेवाला विक्रमादित्य नही है, केवल दोनोका नाम एक है।" पृ० (८२४-२५) "इस पर एक शका उपस्थित होनी है शालिवाहनवाली अनुश्रुतिके कारण। अल्बेरूनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारने की यादगारमें चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (९६६ ई०) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने भी लिखी है। वह संवत् अब भी पञ्चाङ्गोमें शालिवाहन-शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है। ..." (पृ० ८३६)। इन दो अवतरणोमे इतनी बात निर्विवाद सिद्ध है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकराजाको मारकर अपनी शकविजयके उपलक्ष्यमें एक संवत् चलाया था। जो सातवी शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाना है। धवलाटीका आदिमें जिस 'विक्रमार्कशक संवत्' का उल्लेख आता है वह यही 'शालिवाहनशक' होना चाहिए। उसका 'विक्रमार्कशक' नाम शकविजयके उपलक्ष्यमें विक्रमादित्य द्वारा चलाए गए शकसंवत् का स्पष्ट सूचन कर रहा है।

शताब्दीका उत्तरार्ध और नववीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही हो सकता है जैसा कि याकिनीसूनु हरिभद्रका है। मेरी रायमे अकलंक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्यटीकाकार सिद्धसेनगणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाणमे समसामयिक अवश्य हैं। आगे जो स्वामी समन्तभद्रके समयके बारेमें कुछ कहना है उससे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें पुरानी नववीं सदीकी मान्यताका तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजीने कर ही दिया है। अब उसके सम्बन्धमें इस समय दो मत हैं, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'जयसिंहदेवराज्ये' वाली प्रशस्तिओंका प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्रकर्तृकत्वकी कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तियाँ प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं है तो समयकी उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्रकर्तृक मानी जाय तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षोका सार है। पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावनामे उक्त प्रशस्तिओको प्रामाणिक सिद्ध करनेके लिए जो विचारक्रम उपस्थित किया है वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी रायमे भी उक्त प्रशस्तिओको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशामे प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं सदीके उत्तरार्धसे बारहवीं सदीके प्रथम पाद तक स्वीकार कर लेना सब दृष्टिसे सयुक्तिक है।

मैंने 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'के प्राक्कथनमे ये शब्द लिखे है–"अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंकके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध रहा है, क्योकि समन्तभद्रकी कृतिके उपर सर्वप्रथम अकलंककी ही व्याख्या है।" इत्यादि। आगेके कथनसे जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलंककी है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलंकमे साक्षात् गुरु-शिष्य भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीचमे समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समन्तभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अमुक भाग हो सकता है।

मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रयके ही प्राक्कथनमे विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा* एवं अष्टसहस्रीके स्पष्ट

* 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधे' वाला जो श्लोक आप्तपरीक्षामें है उसमें [illegible] ऐसा सामासिक पद है। श्लोकका अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पदको 'अम्बुनिधि' का [illegible]
[illegible]

उल्लेखोंके आधार पर यह निःशंक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आप्त-स्तोत्रके मीमांसाकार हैं अत एव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो वहुत दिनोंके पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आनेपर उसे सक्षेपमे अकलंकग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमे निविष्ट किया था। पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) मे यह अभ्रान्तरूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। अलबत्ता उन्होंने मेरी सप्तभंगीवाली दलीलको निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषयमे पंडितजी तथा अन्य सज्जनोसे मेरा इतना ही कहना है कि मेरी वह दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मनमे तो वह दलील एक स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरहसे वहाँ नहीं किया। जो जैन परम्परामें सस्कृत भाषाके प्रवेश, तर्कशास्त्रके अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्योंकी छोटीसी भी महत्त्वपूर्ण कृतिका उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानसको जानता है उसे तो कभी संदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिग्नागके पद्यको तो निर्दिष्ट करे पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्त-भद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमे स्पर्श भी न करे। क्या वजह है कि उमास्वातीके भाष्यकी तरह सर्वार्थसिद्धिमे भी सप्तभंगीका विशद निरूपण न हो? जो कि समन्तभद्रकी जैन-परपराको उस समयकी नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मै और भी कुछ बाते विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके समकालीन माननेकी ओर झुकाती हैं–

मुद्देकी बात यह है कि अभी तक ऐसा कोई जैन आचार्य या उनका ग्रन्थ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणो या बौद्धोने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्षका तो जैन संस्कृत एव तर्कवाङ्मयका ऐसा इतिहास है जिसमे ब्राह्मण एव बौद्ध परम्पराकी कृतिओका प्रतिबिम्ब ही नहीं, कभी कभी तो अक्षरशः अनुकरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बाँधनेके जो कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर यह सामान्यव्याप्तिकी धारणा भ्रान्त नहीं हैं तो धर्मकीर्ति तथा समन्तभद्रके बीच जो कुछ महत्त्वका साम्य है उस पर ऐतिहासिकोको विचार करना ही पड़ेगा। न्यायावतारमे धर्मकीति के द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभ्रान्त पदके बलपर सूक्ष्मदर्शी प्रो० याकोबीने सिद्धसेन दिवाकरके समयके बारेमे सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगो को समन्तभद्रकी कृतिमे पाये जाने वाले धर्मकीर्तिके साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयगत मंगलश्लोकके उपर ही उसके व्या-ख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक का प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाण-रूपसे सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्रने भी पूज्यपादके **'मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्'** वाले मगल पद्यको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमासा रची हैं और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त-प्रमाण स्थापित किया है। असल बात यह है कि कुमारिलने श्लोक-वार्तिकमे चोदना-वेद कोही अतिम प्रमाण स्थापित किया, और **'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे'**

इस मंगलपद्यके द्वारा दिग्नागप्रतिपादित बुद्धप्रामाण्यको खण्डित किया। इसके जवाब में धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमे बुद्धका प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे अपने ढगसे सविस्तर स्थापित किया। जान पड़ता है इसी सरणीका अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्रने किया। पूज्यपादका **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हे मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी। प्रमाणवार्तिकके सुगतप्रामाण्यके स्थानमे समन्तभद्रने अपनी नई सप्तभंगी सरणीके द्वारा अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे ही अर्हत्-जिन को ही आप्तप्रमाण स्थापित किया। यह तो विचारसरणीका साम्य हुआ। पर शब्दका सादृश्य भी बड़े मार्के का है। धर्मकीर्तिने सुगतको— **'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्'** (प्रमाणवा० १।१३५) **"वैफल्याद् वक्ति नानृतम्"** (प्र० वा० १।१४७) कह कर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी **"युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्"** (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ स्थापित किया है।

धर्मकीर्तिने चतुरार्यसत्यके उपदेशकरूपसे ही बुद्धको सुगत-यथार्थरूप साबित किया है, स्वामी समन्तभद्रने चतुरार्यसत्यके स्थानमें स्याद्वादन्याय या अनेकान्तके उपदेशक रूपसे ही जैन तीर्थंकरको यथार्थरूप सिद्ध किया है। समन्तभद्रने स्याद्वादन्यायकी यथार्थता स्थापित करनेकी दृष्टिसे उसके विषयरूपसे अनेक दार्शनिक मुद्दोको लेकर चर्चा की है, सिद्धसेनने भी सन्मतिके तीसरे काण्डमें अनेकान्तके विषयरूपसे उन्हीं मुद्दो पर चर्चा की है। सिद्धसेन और समन्तभद्रकी चर्चामें मुख्य अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्देकी चर्चामे जब केवल अनेकान्तदृष्टिकी स्थापना करते है तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तभंगी प्रणालीके द्वारा अनेकान्त दृष्टिका स्थापन करते हैं। इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेनके बीचका साम्य-वैषम्य एक खास अभ्यासकी वस्तु है।

स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्ति-समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होनेकी जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील विचारार्थ उपस्थित करता हूँ। समन्तभद्रके **"द्रव्यपर्याययोरैक्यम्"** तथा **"संज्ञासंख्याविशेषाच्च"** (आप्तमी० ७१, ७२) इन दो पद्योके और प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है, जिसे प० महेन्द्रकुमारजीने नवमीं शताब्दीका लिखा है। अर्चटने हेतुबिन्दु टीकामें प्रथम समन्तभद्रोक्त कारिकाके अशोको लेकर गद्यमें खण्डन किया है और फिर 'आह च' कहकर खण्डनपरक ४५ कारिकाएँ दी हैं। पण्डित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सुविस्तृत प्रस्तावनामें (पृ० २७) यह सभावना की है कि अर्चटोद्धृत हेतुबिन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीतिकृत होगी। पण्डितजीका अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्तिने ही अपने किसी ग्रन्थमें समन्तभद्रकी कारिकाओका खण्डन पद्यमें किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्तिका टीकाकार अर्चट कर रहा है। पर इस विषयमें निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक ग्रन्थ और प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुबिन्दु टीकाकी अनुटीका है। इस अनुटीकाका प्रणेता है दुर्वेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दीके आसपासका ब्राह्मण विद्वान् है। दुर्वेकमिश्र बौद्ध शास्त्रोका, खासकर धर्मकीर्तिके ग्रन्थोका, तथा उसके टीकाकारोका गहरा अभ्यासी था। उसने अनेक

बौद्ध ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारमें अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमे बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके ग्रन्थसंग्रहमेसे कॉपी होकर भिक्षु राहुलजीके द्वारा मुझको मिली है। उसमें दुर्वेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमे लिखा है कि–ये कारिकाएँ अर्चटकी हैं। अब विचारना यह है कि समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका शब्दशः खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने समन्तभद्रकी कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष संभावना थी। परऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्रने प्रमाणवार्तिकमें स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आप्तमीमांसामें जैनतीर्थंकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोसे निरास किया तब इसका जबाब धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। कर्णकगोमीने भी जो धर्मकीर्तिका टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओंका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्थामें मै अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोकी ऐतिहासिकतामें किसी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्यके उमास्वातीप्रणीत होनेके बारेमे भी अन्यदीय संदेहका उल्लेख किया है। मै समझता हूँ कि सदेहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामे सांप्रदायिक सस्कारके वश होकर अगर सदेह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अन्तमे मै पडितजीकी प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृतिका सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानो और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभी कृतियोका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते है और श्रीमान्, पडितजीकी साहित्यप्रवण शक्तियोका अपने साहित्योत्कर्ष तथा भण्डारोद्धार आदि कार्योमे विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मै पंडितजीसे भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। वह यह कि आगे अब वे दार्शनिक प्रमेयोको, खासकर जैन प्रमेयोंको केन्द्रमे रखकर उनपर तात्त्विक दृष्टिसे ऐसा विवेचन करें जो प्रत्येक या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपका निरूपण करनेके साथ ही साथ उसके सम्बधमे सब दृष्टिओमे प्रकाश डाल सके।

–सुखलाल संघवी
[प्रधान जैनदर्शनाध्यापक ओरियण्टल कालेज
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी,
भूतपूर्व दर्शनाध्यापक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद]

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी।
२५।३।४१

॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अवशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लाघता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि–इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पडा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वन्मण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उन्हीं के सदभिप्रायो में इसके प्रेरणावीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन-संशोधन ब०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथावसर उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणो में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थो के सिवाय प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, प्रमाणवार्त्तिक-मनोरथनन्दिनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थो के प्रूफ तथा हेतुविडम्बनोपाय, हेतुबिन्दुटीका, सिद्धिविनि-श्चयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायविनिश्चयविवरण जैसे अलभ्य लिखित ग्रन्थो का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये है।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रो के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठको को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने मे सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निकली हुई अर्धमागधीमय स्याद्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चावच दर्शनस्थानो से बहकर उन्हे सम बनाती है तथा कितनेक समन्तभद्र सिद्धसेन पूज्यपाद मल्लवादि अकलंक जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकल्प दार्शनिकवादो के स्वच्छ युक्तिसलिल-संभार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विकसित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तप्त जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अकथ आप्यायक सुषमा का सहज भाव से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की वह वाग्गंगा प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विकसित ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभाव से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उद्दाम जवानी में लोल बालभाव की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चावच शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदात्म हो रहे हैं। इस सब क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणो में की गयी बहुगामी तुलना से

हो सकेगा। इन उदात्त आचार्यों ने अपनी अहिंसारूपा अनेकान्तदृष्टि से विरोधी दर्शनों की सुयुक्तियों को भी उचित स्थान देकर उनका समन्वय किया है। दार्शनिक क्षेत्र में एकान्तमूलक चौका न लगाकर अनेकान्त का प्रकाश सर्वत्र फैलाया है और उसमें अहिंसा की जान स्याद्वाददृष्टि से सभी एकान्तों का उचित आदर किया है। और इस तरह उन्होंने दार्शनिक वादविवादों का समन्वय कर अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया है तथा उन वादो का उचित फैसला करने का प्रयत्न किया है। आज तक कितनेक वाद उदित हुए, अस्त हुए, तथा कितने आज भी अन्तिम श्वासे ले रहे हैं और वे किस पर अपना कितना और कैसा प्रभाव छोड़ गए हैं, यह सब कहानी इन टिप्पणों के परिशीलन से मानस पटल पर चित्रित होगी।

दर्शनशास्त्र स्थूलरूप से यदि मानसिक व्यायाम का प्रदर्शन है तो इसका दूसरा रूप अनेकों वादों के उत्थान-पतनो का अजायबघर भी है। इसके परिशीलन से उन उन युगों की विद्वन्मनोवृत्ति के साथ ही साथ अनेक सामाजिक प्रवृत्तियो का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। दर्शन ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके क्रमविकास की कहानी का तटस्थभाव से अवलोकन, हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि खण्डन मण्डन में सिद्धान्तो की समता और विषमता के कारण एक वादी दूसरे वादी का सहकार प्राप्त करने में, उसकी युक्तियो का अपने ढंग से अनुसरण करने में कभी नहीं हिचकता था। प्रत्युत ऐसी विनिमयपरम्परा के कारण ही आज दर्शनशास्त्र इस विकास को पा सका है। उदाहरणार्थ–नैयायिकाभिमत सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन में जहाँ जैन और बौद्धो के साथ मीमांसक भी अपना कन्धा लगाता है वहाँ मीमांसकाभिमत वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में नैयायिक, जैन और बौद्धो का साथ देता है। इसी तरह वैशेषिक आदि के खण्डन में साथ साथ चलने वाले बौद्ध और जैन भी, जहाँ क्षणिकत्व का विचार होता है, वहाँ वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं। उस समय वैशेषिक आदि यथासंभव जैन का खण्डन करने में बौद्धो का तथा बौद्धों का खण्डन करने में जैन का साथ देते हैं। पर जहाँ चार्वाक का खण्डन करने का प्रसग है वहाँ वैदिक दर्शनो के साथ ही साथ बौद्ध और जैन भी पूरी तरह मैदान में डट जाते हैं। सर्वज्ञत्व के विचार में जैन बौद्ध तथा वैशेषिक आदि मिलकर मीमासक का मुकाबिला करते हैं। पर जहाँ ब्राह्मणत्वजाति का विचार आता है वहाँ केवल बौद्ध और जैन ही एक ओर रह जाते हैं। इस तरह इस दार्शनिक महाभारत में सिद्धान्तो की समता और विषमता के कारण परस्पर विरोधी वादी भी कहीं समानतन्त्रीय बनकर किसी तीसरे वादी का खण्डन करते हुये देखे जाते हैं तो कहीं एक दूसरे का खण्डन करने में ही अपना बुद्धिकौशल दिखाते हैं। अतः विभिन्न वादों की समालोचना के समय एक ग्रन्थकार का दूसरे ग्रन्थकार की युक्तियों का शब्द अर्थ और भाव की दृष्टि से अनुसरण करना सिद्धान्तों के साम्य-वैषम्य का ही फल है। दार्शनिक क्षेत्र मे यह कोई अनहोनी या अनुचित बात नहीं है क्योकि यह विचार विनिमय ही तो दर्शन शास्त्र के विकास का आधार होता है और इसी मे उसकी प्राणप्रतिष्ठा है।

दर्शनशास्त्र का चरम उद्देश तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का यथावत् परिज्ञान करके शान्तिलाभ करना है। स्वदर्शनप्रभावना, लाभ पूजा ख्याति आदि तो वादियो के चित्त की विजिगीषा के परिणाम हैं। सच्चा दार्शनिक इस स्तरके ऊपर रहता है और वस्तुतत्त्व की समीक्षा मे ताटस्थ्य रखने में ही अपनी बुद्धि का सदुपयोग मानता है।

संस्करणपरिचय–इस भाग का मुद्रण भी प्रथम भाग की तरह ही कराया गया है। विशेषता यह है कि टिप्पणो मे ग्रन्थो के नाम मोटे टाइप मे दे दिये हैं। जिस ग्रन्थ का पाठ लिया है उस ग्रन्थ का (–) ऐसे डैश के साथ पाठ के बाद सर्वप्रथम निर्देश किया है। अन्य जिन ग्रन्थो के मात्र पृष्ठस्थल दिये हैं उन ग्रन्थो मे वैसी ही आनुपूर्वी से पाठ का होना आवश्यक नहीं है। उन ग्रन्थो के नाम तो अर्थसादृश्य, भावसादृश्य और कहीं शब्दसादृश्य मूलक तुलना के लिए दिये हैं। जो अर्थबोधक टिप्पण आ० प्रति के हॉसिए मे लिखे थे उनके आगे 'आ० टि०' ऐसा विभाजक निर्देश किया गया है। बाकी टिप्पण स्वय सम्पादक द्वारा ही लिखे गये है। टिप्पण या मूल ग्रन्थ मे जो शब्द त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सम्पादक ने जिन शब्दो को अपनी ओर से रखा है वे [ ] ऐसे ब्रेकिट मे मुद्रित हैं। तथा जिन अशुद्ध शब्दो को सुधारने का प्रसङ्ग आया है वहॉ सम्पादक द्वारा कल्पित शुद्ध पाठ ( ) ऐसे ब्रेकिट मे दिया गया है।

भूमिका में जो विषय प्रथम भाग की प्रस्तावना में चर्चित हो चुके है उनकी चरचा यहाँ नहीं की है। आ० प्रभाचन्द्र के समय के विषय में ही कुछ विशिष्ट सामग्री के साथ ऊहापोह किया है। मै अकलङ्कदेव के समय विषयक अपने विचार सिंघी सीरीज़ से प्रकाशित **"अकलङ्कग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावना में लिख आया हूँ। अतः यहॉ आवश्यक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं कर रहा हूँ।

परिशिष्ट–इस भाग में निम्नलिखित १२ परिशिष्ट लगाए गए हैं। जिनसे ऐतिहासिक या तात्त्विकदृष्टिवाले जिज्ञासु, ग्रन्थ के विषयो को अपनी दृष्टि से सहज ही खोज सकेंगे। १ लघीयस्त्रय के कारिकार्ध का अकाराद्यनुक्रम। २ लघीयस्त्रय और उसकी स्वविवृति में आए हुए अवतरण वाक्यो की सूची। ३ लघीयस्त्रय और स्वविवृति के विशेष शब्दों की सूची, इसमें लाक्षणिक शब्द काले टाइप मे दिए हैं। ४ लघीयस्त्रय की कारिकाएँ तथा विवृति के अश जिन दि० श्वे० आचार्यो ने अपने ग्रन्थो में उद्धृत किए है या उन्हे अपने ग्रन्थों में शामिल किया है उन आचार्यों के उन ग्रन्थों की सूची। ५ न्यायकुमुदचन्द्र में आए हुए ग्रन्थान्तरों के उद्धरणों की सूची। ६ न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त न्यायों की सूची। ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषो के नाम तथा भौगोलिक शब्दो की सूची। ८ न्यायकुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची। ९ न्यायकुमुदचन्द्र में जिन शब्दो के लक्षण या निरुक्तियॉ की गईं हैं उन लाक्षणिक शब्दो की सूची। १० न्यायकुमुदचन्द्र के कुछ विशिष्ट शब्द। ११ न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक शब्दों की सूची। १२ टिप्पणी में तथा मूलग्रन्थ

मे आए हुए अवतरणों के मूलस्थल निर्दिष्ट करने में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है उन ग्रन्थो के संस्करण आदि का परिचय, संकेत विवरण तथा न्यायकुमुद के जिन पृष्ठो पर उनका उपयोग किया है उन पृष्ठो की सूची ।

शुद्धिपत्र–प्रूफ देखने मे पर्याप्त सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष, यन्त्रपरिचालन आदि के कारण होने वाली स्थूल अशुद्धियो का निर्देश ही इस पत्रक मे किया है ।

आभार–आदरणीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी ने अपनी सहज विद्यारसिकता से यथावसर सत्परामर्श दिये है तथा सिद्धिविनिश्चयटीका, हेतुबिन्दुटीका एव तत्त्वोपप्लवसिंह आदि लिखित ग्रन्थों के उपयोग करने की पूरी पूरी सुविधा दी है। ग्रन्थमाला के प्राण, निर्व्याज साहित्योपासक यथार्थोपनामक पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के समय मे उपयुक्त होने वाली प्रशस्तियाँ, श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र नामक लेख की कच्ची नकल तथा अन्य आवश्यक सामग्री को बड़ी तत्परता एवं निरुत्सेक सहज भाव से जुटाया है। सच पूंछो तो प्रेमीजी जैसे सद्वृत्त मन्त्री की सदाशयता से ही इस ग्रन्थ का इस रूप मे सम्पादन, मुद्रण आदि हो सका है। त्रिपिटिकाचार्य महापंडित राहुलसांकृत्यायन ने प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, स्ववृत्तिटीका के दुर्लभ प्रूफ तथा प्रमाणवार्तिकालङ्कार की सर्वथा अलभ्य प्रेस कापी से यथेष्ट नोट्स लेने दिये हैं। सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के सहयोग से ही प्रथम भाग की प्रेस कापी के समय इस भाग मे मुद्रित अंश का प्रथमवाचन हुआ था और ब० प्रति के पाठान्तर लिए गये थे ।

प० परमानन्दजी वीर सेवा मन्दिर सरसावा ने प्राकृतपंचसंग्रह की गाथाओ के स्थल खोज कर भेजे। ओरियटल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने न्यायकुमुदचन्द्र की एक त्रटित प्रति भेजी। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासशोधनमन्दिर के अध्यक्ष ने हेतुविडम्बनोपाय तथा जैनसिद्धान्तभवन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री के० भुजबली शास्त्री ने सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ के उपयोग करने का अवसर दिया तथा पत्रोत्तर दिए। श्रीमान् प्रो० हीरालाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प० जुगलकिशोर जी मुख्तार, प० चैनसुखदास जी, प० लोकनाथ जी शास्त्री, प० वर्धमान शास्त्री, सा० र० प० हीरालाल शास्त्री, पं० नाथूलाल जी आदि विद्वन्मण्डल ने यथासमय प्रशस्ति आदि के वावत ज्ञातव्य प्रश्नो के उत्तर दिये। पद्माचार्य पं० भूपनारायण जी झा ने प्रशस्ति श्लोको की रचना करके सहायता की। श्री विजयमूर्ति जी एम० ए०, शास्त्री ने पाठान्तर लेने में तथा प्रियशिष्य गुलावचन्द्र जी न्याय-साख्यतीर्थ और उदयचन्द्रजी ने परिशिष्ट वनाने में पूरी पूरी मदद की है। मैं उक्त सभी महाशयो का हार्दिक आभार मानता हूँ।

पौष शुक्ल पूर्णिमा
मकरसक्रान्ति
वी० नि० २४६७

सम्पादक–
न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार
स्या० वि० काशी।

॥ प्र स्ता व ना ॥

इस संस्करणमें मुद्रित मूलग्रन्थ लघीयस्त्रय और उसकी व्याख्या न्यायकुमुदचन्द्रका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थकारोंके विषय में ही कुछ लिखना इष्ट है। प्रस्तुतग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र है। यह न्यायकुमुदचन्द्र अकलङ्कदेवके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय प्रकरणकी विस्तृत व्याख्या है। अतः मूलकार अकलङ्कदेव और व्याख्याकार प्रभाचन्द्रके विषयमें लिखना ही यहाँ प्रस्तुत है। न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावनामें सुहृद्वर प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने इन दोनो आचार्योंके समय आदिके विषयमें यथेष्ट ऊहापोह किया है। मै अकलङ्कदेवके समयविषयक अपने विचार **"अकलङ्क-ग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावनामें विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। जिस—

"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥"

कारिकाके 'विक्रमार्कशक' शब्द पर विद्वानो का मतभेद है कि 'अकलङ्कदेव का शास्त्रार्थ विक्रमसंवत् ७०० में हुआ है, या शक संवत् ७०० में ?' उसके विषयमें इतना और विशेष वक्तव्य है कि—'विक्रमार्कशक' शब्दका प्रयोग अनेक प्राचीन आचार्योंने 'शकसंवत्' के अर्थमें किया है। उदाहरणार्थ धवलाटीकाकी अन्तिम प्रशस्तिकी यह गाथा ही पर्याप्त है—

"अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥"

षट्खंडागम प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० २५-४५) मे प्रो० हीरालालजीने बहुमुख ऊहापोहके अनन्तर यह सिद्ध किया है कि उक्त गाथा में वर्णित **'विक्कमरायंकिए सुसगणामे'** पदसे 'शकसवत्' ही ग्राह्य हो सकता है। इसी प्रस्तावना (पृ० ४०) में प्रो० सा० ने अपने मतके समर्थनकेलिए त्रिलोकसारके (गा० ८५०) टीकाकार श्रीमाधवचन्द्रत्रैविद्यका यह अवतरण दिया है—**"श्रीवीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् 'विक्रमाङ्कशकराजो' जायते..."** इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शकराजको भी 'विक्रमांकशक' लिखने की प्राचीन परम्परा रही है और इसीलिए 'शकसवत्' का उल्लेख भी 'विक्रमाङ्कशकसंवत्' पदसे किया जाता था। मैंने **"अकलङ्क-ग्रन्थत्रय"** की प्रस्तावनामें अन्य प्रमाणोंके आधारसे विक्रमार्कशकाब्दका शक संवत् ७०० अर्थ करके अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। अस्तु।

आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है–१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यो से तुलना, २ समयविचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ।

§१. प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना–

इस तुलनात्मक भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागोंमें क्रमशः विभाजित कर दिया है। १ वैदिक दर्शन–वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, वैयाकरण, सांख्ययोग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमासा, उत्तरमीमांसा। २ अवैदिक दर्शन–बौद्ध, जैन-दिगम्बर, श्वेताम्बर।

(वैदिकदर्शन)

वेद और प्रभाचन्द्र–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे "पुरुष एवेदं यद्भूतं" "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं। कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र (पृष्ठ ७२६) में उद्धृत है–"प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" "रुद्रं वेदकर्त्तारम्" आदि। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७७०) में "आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियमुरूभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्" यह वाक्य उद्धृत है। यह ऋग्वेद के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" आदि सूक्तकी छाया रूप ही है।

उपनिषत् और प्रभाचन्द्र–आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनो न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोमें अनेकों उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, तैत्तिर्युपनिषत्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, जाबालोपनिषत् आदि उपनिषत् मुख्य हैं। इनके अवतरण अवतरणसूची में देखना चाहिये।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र–महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ८) में याज्ञवल्क्यस्मृति (२।२२) का "लिखितं साक्षिणो भुक्तिः" वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७५) में मनुस्मृतिका "अकुर्वन् विहितं कर्म" श्लोक उद्धृत है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में मनुस्मृतिके "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" श्लोकका "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस कूर्मपुराणके वाक्यसे विरोध दिखाया गया है।

पुराण और प्रभाचन्द्र–प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्यपुराणका "प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते।" यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में कूर्मपुराण (अ० १६) का "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ···" श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३६८ तथा ३०९) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक 'व्यासवचन' के नामसे उद्धृत हैं–"यथैधांसि समिद्धोऽग्निः " [गीता ४।३७] "द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः · " [गीता १५।१६,१७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का "नाभावो विद्यते सतः" अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका समय इतिसाहकारोने ईसवी सन्से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गभीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमे स्वयं ही लिखते हैं कि–

"शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्"

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्करमें पद पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोके मतसे गुण शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११९) से "यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे द्रव्यविनिवेशः" इत्यादि वाक्य उद्धृत किया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७ वीं शताब्दीमे भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हुए है। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोके साधुत्व-असाधुत्व विचार में पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्यपदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए "आख्यातशब्दः" आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोका सविस्तर खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्यपदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें वैखरी आदि चतुर्विधवाणीके स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो "स्थानेषु विवृते वायौ" आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्र पर व्यास-ऋषि का व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १०९) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोके अनेक उद्धरण दिए हैं। इसके विवेचनमें व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अणिमादि अष्टविध

ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमे योगभाष्यसे "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" "चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा" आदि वाक्य उद्धृत किये गये है।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र–ईश्वरकृष्णकी साख्यसप्तति या सांख्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। साख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका सांख्यकारिकामें सक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने साख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सांख्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें साख्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध साख्यग्रन्थोमें नहीं पाये जाते। यथा–"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" "आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः" "प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत" "प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म" आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन साख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र–सांख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें साख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं सांख्यकारिकाओं की व्याख्याका प्रसङ्ग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र–कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी "एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" इस पंक्तिको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५३१) में 'पदार्थप्रवेशकग्रन्थ' के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंकी षट्पदार्थपरीक्षाका यावत् पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसको पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें 'प्रशस्तमतिना च' लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते है, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र–प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खंडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा हैं। डॉ० कीथ इन्हे नवमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हे छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ–

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पजिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीकाओका इस क्रमसे निर्देश किया है-सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम सगत जान पडता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमे कुछ विचार प्रस्तुत करते है।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमे स्वय उन्होने कुछ भी नही लिखा। पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्त्तमान नारोदग्राम की एक वापी प्रशस्ति ❀ से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुतसी बाते मालूम होती है, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

"कदम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शखमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है, क्योकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमे अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि-"इनके वचनोका खण्डन आज भी बडे बडे नैयायिक नही कर सकते।"† स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोमे पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते है, सम्भव है वे पुरन्दर ये ही हो। इन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अवन्तिवर्माने इन्हे अपना राज्यभार सौप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरमे एक बडा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमे भी इन्हीने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रम मे तप साधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।" व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बडा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे।‡ 'ये सदनुष्ठानपरायण, मृदु-मितभाषी, विनय-नय-सयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एव सुधार किया था और वही एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था। इसी वापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमे शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त है—

"सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनि । गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतौ जैमिनि ॥
साख्येऽनल्पमति स्वय स कपिलो लोकायते सद्गुरु । बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिन को वाथ नाय कृती ॥
यद्भूत यदनागत यदधुना किंचित्क्वचिद्वर्ध (र्तं) ते । सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिल पश्यन् प्रमेय महत् ॥
सर्वज्ञ स्फुटमेष कोपि भगवानन्य क्षितौ स(श)कर । धत्ते किन्तु न शान्तधीर्विषमदृग्रौद्र वपु केवलम् ॥"

इन श्लोकोमे बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमे स्वय शिव, न्यायमे अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमे कणाद, मीमासामे जैमिनि, साख्यमे कपिल, चार्वाकशास्त्रमे बृहस्पति, बुद्धमतमे बुद्ध तथा जिनमतमे स्वय जिनके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोकी अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीर को धारण किए बिना वे पृथ्वी पर दूसरे शकर भगवान् ही अवतरे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय—व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरको अवन्तिवर्मा राजा अपने नगरमे ले गया था। अवन्तिवर्माके चाँदीके सिक्को पर "विजितावनिरवनिपति श्री अवन्तिवर्मा दिव

❀ प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग, शिलालेख न० १०८।

† "यस्याधुनापि विबुधैरितिकृत्यशसि व्याहन्यते न वचन नयमार्गविद्भि ॥"

‡ "अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्याताभिधानस्य च।"—वापीप्रशस्ति

जयति" लिखा रहता है तथा सवत् २५० पढा गया है ❀। यह सवत् सभवत गुप्त-सवत् है। डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्तसवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरी को प्रारम्भ होता है †। अत ५७० ई० में अवन्तिवर्माका अपनी मुद्राको प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होगे। तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरगुरुको अपने राज्यमे लाए होगे। ये अवन्तिवर्मा मौखरी-वशीय राजा थे। शैव होने के कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरुको अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था। इनके समयके सम्वन्धमे दूसरा प्रमाण यह है कि–वैसवशीय राजा हर्षवर्द्धनकी छोटी वहिन राज्यश्री अवन्ति वर्माके पुत्र ग्रहवर्माको विवाही गई थी। हर्षका जन्म ई० ५९० मे हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५-६ वर्ष बडा जरूर होगा। अत उसका जन्म ५८४ ई० के करीव मानना चाहिए। इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा हैं। अवन्तिवर्माका यह इकलौता लडका था। अत. मालूम होता है कि ई० ५८४ मे अर्थात् अवन्तिवर्माकी ढलती अवस्थामे यह पैदा हुआ होगा। अस्तु; यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरको अपने यहाँ ले गए थे।

यद्यपि सन्यासियोकी शिष्य-परम्पराके लिए प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नहीं है; क्योकि कभी कभी २० वर्षमें ही शिष्य-प्रशिष्यो की परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दरसे तीन पीढी के वाद हुए व्योमशिवका समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिकग्रन्थोके आधारसे समय–व्योमशिव स्वय ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) मे श्रीहर्षका एक महत्त्वपूर्ण ढगसे उल्लेख करते है। यथा–

"अत एव मदीय शरीरमित्यादिप्रत्ययेष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम्। श्रीहर्ष देवकुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्येव उभयत्रापि वाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुरागसदभावेऽपि विशेषणत्वे वाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति वाधकम् ।"

यद्यपि इस सन्दर्भका पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A.D राज्य) व्योमशिवके समयमे विद्यमान थे। यद्यपि यहा यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्षके बहुत वाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते है, परन्तु जव शिलालेखमे उनका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्षकी विद्यमानताका वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते है तव उक्त कल्पनाको स्थान ही नहीं मिलता।

व्योमवतीका अन्तः परीक्षण–व्योमवती (पृ० ३०६,३०७,६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (२-११,१२ तथा १-६८,७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई है। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्तिके हेतुविन्दु प्रथमपरिच्छेदके "डिण्डिकराग परित्यज्य अक्षिणी निमील्य" इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाणवार्तिककी और भी बहुतसी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती है।

व्योमवती (पृ० ५३१,५९२) मे कुमारिलके मीमासा-श्लोकवार्तिककी अनेक कारिकाएँ उद्धृत है। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकरका नाम लिया है, भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका (पृ० २० च) खण्डन किया है और प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषवादका भी (पृ० ५४०) खडन किया गया है।

इनमे भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्राय समसामयिक और ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् है। उद्योतकर छठी शताब्दीके विद्वान् है। अत व्योमशिवके द्वारा इन समसामयिक एव किंचित्पूर्ववर्ती विद्वानोका उल्लेख तथा समालोचनका होना सगत ही है। व्योमवती (पृ० १५) में वाणकी कादम्बरीका उल्लेख है। वाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अत इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

❀ देखो, भारतके प्राचीन राजवश, द्वि० भाग पृ० ३७५।

† देखो, भारतके प्राचीन राजवश, द्वितीय भाग पृ० २२९।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धर्षि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक-सम्मत षट्पदार्थोकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परतु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमे प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना—तत्त्वसग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३।) तत्त्वसग्रहकी पजिका (पृ० २०६) मे व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवी शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसग्रहकी भूमिका पृ० xcvi)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) मे व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) मे की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवम शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती हैं।

जयन्तकी न्यायमजरी (पृ० २३) मे व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९ वी शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामे (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमे 'यत' पदका अध्याहार करते हैं तथा (पृ० १०२) लिगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामे (पृ० ५५६) 'यत' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमे किया है तथा (पृ० ५६१) लिगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A D है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३०७) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्याय-कुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमे व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसवेदनसिद्धिमे व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खडन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमे व्योमवती (पृ० २० क) के "नवानामात्मविशेषगुणाना सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात् यथा प्रदीपसन्तान।" इस अनुमानको 'तार्किका' तथा 'आचार्या' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली (पृ० २०) मे व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यत्वेन योग' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) मे व्योमवती (पृ० १२९) के 'अनित्यत्व तु प्रागभावप्रध्वसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली (पृ० २००) मे व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान-[illegible] विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके सशयादिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'द्रव्यादिपु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्त्तन करना' इन दो मतोका समालोचन किया है। [illegible] समय कन्दलीके अन्तमे दिए गए "त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ [illegible] ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (लिखित पृ० [illegible]) में [illegible] पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० [illegible]) [illegible]वतीका उद्धरण देते हैं।

सिद्धर्षि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) मे, हेमचन्द्र [illegible] (पृ० [illegible]) [illegible] अपनी षड्दर्शनसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A.) [illegible]

प्रमाणत्रित्वकी वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते है । इस तरह व्योमवतीकी सक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योमवतीका जैनग्रन्थोसे विशिष्ट सम्बन्ध है ।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय शिलालेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोके आधारसे ईस्वी सातवी शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते है । यदि ये आठवी या नवमी शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने समसामयिक शकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोका उल्लेख अवश्य करते । हम देखते है कि-व्योमशिव शाकरवेदान्तका उल्लेख भी नही करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमे अलौकिकार्थख्याति, स्मृतिप्रमोष आदिका खण्डन करने पर भी शकरके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादका नाम भी नही लेते। व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एव सैकडो मतमतान्तरोका उल्लेख करनेवाले आचार्यके द्वारा किसी भी अष्टम शताब्दी या नवम शताब्दीवर्त्ती आचार्यके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तम शताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अत डॉ० कीथका इन्हे नवमी शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हे छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नही जँचता ।

श्रीधर और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमे न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है । इसकी रचना श्रीधरने शक ९१३ (ई० ९९१) मे की थी । श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमे नहीं चूकते । व्योमशिव बुद्ध्यादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २० क)। श्रीधर आत्यान्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली पृ० ४) । आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोंकी मुक्तिका खंडन करते समय न्यायकुमुद० (पृ० ८२६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१८) मे 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओंकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है । इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोमे हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थो पर देखते हैं।

वात्सायन और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर वात्सायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है । आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमे इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है । वात्सायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोमे ही इनका निर्देश किया गया है ।

उद्योतकर और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अन्तत: सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयके खंडनके लिए न्यायवार्तिक बनाया था । इनके न्यायवार्तिकका खडन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमे किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमे (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोको 'वार्तिककारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है । प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोमे 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है । "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिककारकृत

विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका "भावाभावयोस्तद्वत्ता" यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र–भट्टजयन्त जरन्नैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होने न्यायसूत्रोके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे है। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्टजयन्तके समयका विचार करते है–

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम सस्करण विजयनगर सीरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके सपादक म० म० गगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होने भूमिकामें लिखा है कि–"जयन्तभट्टका गगेशोपाध्यायने उपमानचिन्तामणि (पृ० ६१) में जरन्नैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमजरी (पृ० ३१२) में वाचस्पनि मिश्रकी तात्पर्य-टीकासे **"जात च सम्बद्ध चेत्येक. काल."** यह वाक्य 'आचार्यै' करके उद्धृत किया है। अत जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D) से उत्तर तथा गगेश (1175 A D) से पूर्व होना चाहिये।" इन्हीका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय सस्करणके सम्पादक प० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा 'सस्कृतसाहित्यका सक्षिप्त इतिहास'के लेखकोने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका समय ९ वीसे ११ वी शताब्दी तक मानते थे❀। अत जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गगाधर शास्त्री-द्वारा **"जात च सम्बद्ध चेत्येक. काल"** इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय 'न्यायसूचीनिबन्ध' के अन्तमें स्वय दिया है। यथा–

"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधिया मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वकवसुवत्सरे।"

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने 'वत्सर' शब्दसे शकसवत् लिया है†। डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम सवत् लेते हैं‡। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं§ कि 'तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले आचार्य उदयनने अपनी 'लक्षणावली' शक स० ९०६ (984 A D) में समाप्तकी है। यदि वाचस्पतिका समय शक स० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि-जैसी टीका बन जाना सभव मालूम नही होता।

अत वाचस्पति मिश्रका समय विक्रम सवत् ८९८ (841 A D) प्राय सर्वसम्मत है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनको छोडकर प्राय सभी दर्शनो पर टीकाएँ लिखी है। सर्वप्रथम इन्होने मडनमिश्रके विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामकी टीका लिखी है, क्योकि इनके दूसरे ग्रन्थोमे प्राय इसका निर्देश है। उसके बाद मडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' तथा 'तत्त्वबिन्दु', इन दोनो ग्रन्थोका निर्देश तात्पर्य-टीकामे मिलता है, अत उनके बाद 'तात्पर्य-टीका' लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही 'न्यायसूची-निबन्ध' लिखा होगा, क्योकि न्यायसूत्रोका निर्णय तात्पर्य-टीकामे अत्यन्त अपेक्षित है। 'साख्यतत्त्वकौमुदी' मे तात्पर्य टीका उद्धृत है, अत तात्पर्यटीकाके वाद 'साख्यतत्त्वकौमुदी' की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीकामें 'साख्यतत्त्वकौमुदी' का निर्देश है, अत निर्दिष्ट कौमुदीके बाद 'तत्त्ववैशारदी' रची गई। और इन सभी ग्रन्थोका 'भामती' टीकामें निर्देश होनेसे 'भामती' टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

❀ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्त्तिक-भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

§ हिस्ट्री एड बिब्लोग्राफी ऑफ दि न्याय-वैशेषिक Vol. III, पृ० १०१।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध है—वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यकृति 'न्यायकणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बडे महत्त्वपूर्ण शब्दोमे गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा —

'अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्। प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥"

अर्थात्—जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली, प्रतिवादियोका दमन करनेवाली, रुचिर न्यायमजरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो।

इस श्लोकमे स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुनने में भी नही आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्य-टीकामे 'त्रिलोचनगुरून्नीत' इत्यादि पद देकर अपने गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने मे कोई बाधा नही हैं, क्योकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक **'जातञ्च सम्बद्ध चेत्येक. काल'** इस वचनके आधार पर ही जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नही है, किन्तु न्यायवार्तिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवार्तिक पृ० २३६), जिस न्यायवार्तिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर' मे लिखते है † कि—"वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योकि जयन्तके ग्रन्थो पर वाचस्पतिका कोई असर देखने मे नही आता।" 'जातञ्च' इत्यादि वाक्यके विषय मे भी उन्होने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि—"यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिये।" वाचस्पतिके पहले भी शकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसग्रह आदि ग्रन्थोमे पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायञ्जरी (पृ० १२०) मे उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ' इस पद्यको टिप्पणीमे 'भामती' टीकाका लिख दिया है। पर वस्तुत यह पद्य वाक्यपदीय (१—३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामे भी उद्धृत ही है, मूलका नही है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते है कि—'व्यवसायात्मक' पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा 'अव्यपदेश्य' पदसे निर्विकल्पक ज्ञानका। सशयज्ञानका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे हो ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना 'व्यवसायात्मक' पदका मुख्य कार्य नही है। यह बात मै 'गुरून्नीत मार्ग' का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार 'अयमश्व' इत्यादि शब्दससृष्ट ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते है। वाचस्पति 'अयमश्व' इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते है। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथाके आधार पर—

शब्दजत्वेन शाब्दञ्चेत् प्रत्यक्ष चाक्षजत्वतः। स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत् ॥

इसलिये वे 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निर्विकल्पका सग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) मे 'उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है' इस मतका 'आचार्या:' इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खडन किया है।

---

† सरस्वती भवन सीरीज III पार्ट।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्या' पदके नीचे '**तात्पर्यटीकाया वाचस्पतिमिश्राः**' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि–यह मत वाचस्पति मिश्र का है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका। तात्पर्य-टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नही मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नही है। व्योमवती* टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अत यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है, सो भी ठीक नही, क्योकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (सभवत व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य टीकामे स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य टीकामे (पृ० १०२) '**यदा ज्ञान तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्**' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयञ्चेदम्' इत्याकारकपरामर्श, इत्यादि बताया है।

न्यायमजरी (पृ० ६६) में इसी प्रकरणमें शङ्का की है कि– प्रथम आलोचन ज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नही हो सकती; क्योकि उसमें कई क्षणोका व्यवधान पड जाता है' ? इसका उत्तर देते हुए मजरीकारने 'आचार्या' शब्द लिखकर उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्या' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने '**न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीकाया वाचस्पतिमिश्रा**' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय सस्करणके सपादक प० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हीका अनुसरण करके उसे बडे टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है जो इस परामर्शात्मक उपादेयता ज्ञानको नही मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि–यह मत स्वय वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका ? यद्यपि यहाँ उन्होने अपने गुरुका नाम नही लिया है, तथापि जब व्योमवती‡ जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) मे इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्या' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होगे। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "**जातञ्च सम्बद्धञ्चेत्येक काल**' इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलो में 'आचार्या' पद पर '**वाचस्पतिमिश्रा**' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमे रखा है।

भट्ट जयन्तकी समयावधि–जयन्त मजरीमे धर्मकीर्तिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके '**एकमेवेद हर्षविषाद-**

---

* 'न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यकृतसमयो रूप पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमितिशब्दोच्चारणानन्तर प्रतिपद्यत इत्युभयज ज्ञानम्, ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराऽसम्भवादयुक्तमेतत्। तथाहि-मनसाऽधिष्ठित न श्रोत्र शब्द गृह्णाति पुन क्रियाक्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम्। न च शब्दज्ञानस्यैतावत्कालमवस्थान सम्भवतीति कथमुभयज ज्ञानम्'? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोत्पन्ना विभागमारभते तत स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयज ज्ञानम्। यदि वा भवत्येवोभयज ज्ञानम् "–प्रश० व्यो० पृ० ५५५।

‡ "द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदु खसाधनत्वोपलब्धे तज्ज्ञानानन्तर यद्यत् द्रव्यादिजातीय तत्तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेद द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चय तत उपादेयज्ञानम्' "–प्रश० व्यो० पृ० ५६१।

ध्यनेकाकारविवर्त्त पश्यामः तत्र यथेष्ट संज्ञाः क्रियन्ताम्" (भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालकारकी प्रेसकापी पृ० ४२९) इस वचनका खडन करते है, (न्यायमजरी पृ० ७४) ।

भिक्षु राहुलजीने टिवेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीर्तिका समय ई० ६२५, प्रज्ञाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है । जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है । अत जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A D. तथा उत्तरावधि ८४० A. D होनी चाहिए । क्योकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिवन्ध ८४१ A D मे वनाया गया है, इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वविन्दु और तात्पर्यटीका लिखचुके है । सभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो । इस न्यायकणिका मे जयन्तकी न्यायमजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A. D ही मानना समुचित ज्ञात होता है । यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी सगत वैठता है । अभिनन्द अपने कादम्वरी कथासारमे लिखते है कि–

"भारद्वाज कुलमे शक्ति नामका गौड ब्राह्मण था । उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ । यह शक्तिस्वामी कर्कोटवशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मत्री थे । शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे । जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ ।"

काश्मीरके कर्कोट वशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A. D तक रहा है॰ । शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ अवस्थामे मन्त्री होगे, अपने मन्त्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होगे । इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामीके ईस्वी सन् ७४० मे चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० मे जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होने ईस्वी ८०० तकमे अपनी 'न्यायमजरी' वनाई होगी । इसलिये वाचस्पतिके समयमे जयन्त वृद्ध होगे और वाचस्पति इन्हे आदर की दृष्टिसे देखते होगे । यही कारण है कि उन्होने अपनी आद्यकृतिमे न्यायमजरीकारका स्मरण किया है ।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि–हरिभद्रसूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) मे न्यायमजरी (विजयानगर स० पृ० १२९) के

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वरा । रोलम्वगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहा । वृष्टि व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुच ।।"

इन दो श्लोकोके द्वितीय पादोको जैसाका तैसा शामिल कर लिया है। प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिनविजयजीने 'जैन साहित्यसशोधक' (भाग १ अक १) मे अनेक प्रमाणोसे, खासकर उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला कथामे हरिभद्रका गुरुरूपसे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। कुवलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० (ई० ७७८) मे हुई थी। मेरा इस विषयमे इतना सशोधन है कि उस समयकी आयु स्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है। उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमजरीको देख सकेंगे । हरिभद्र जैसे सैकडो प्रकरणोंके रचयिता विद्वान्के लिए १०० वर्ष जीना अस्वाभाविक नही हो सकता । अत ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमजरीके श्लोकोका अपने ग्रन्थमे शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रवल साधक प्रमाण है ।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एवं न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमञ्जरी एवं न्यायकलिकाका ही अधिक परिशीलन एव समुचित उपयोग किया है । षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमञ्जरीके ही शब्द अपनी आभा दिखाते है । प्रभाचन्द्रको न्यायमंजरी खभ्यस्त

॰ देखो, सस्कृतसाहित्यका इतिहास, परिशिष्ट (ख) पृ० १५ ।

थी। वे कहीं कहीं मंजरीके ही शब्दोको 'तथा चाह भाष्यकार:' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्यवादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी में 'अपि च' करके उद्धृत की गई १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गई है। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गई हैं।

(न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा।
तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥" [न्यायमं० पृ० ४४७]

(न्यायकुमुद० पृ० ४९१) "भूयोऽवयवसमान्ययोगो यद्यपि मन्यते।
सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि॥" [न्यायमं० पृ० १४६]

(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः संगतिग्रहः।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमे न्यायमंजरीका नाम लिखा जा सकता है।

वाचस्पति और प्रभाचन्द्र–षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१ मे समाप्त किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में सांख्यों के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खंडन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी साख्योके अनुमानके इन्हीं सात भेदोके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शांकरभाष्यकी भामती टीकामे अविद्यासे अविद्याके उच्छेद करने के लिए "यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति···" इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६६) मे इन्हीं दृष्टान्तो को पूर्वपक्ष में उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें विधिविवेक के साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) मे शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है– "नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न ह्येकः पारमार्थिकः। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम्॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र–जैमिनिसूत्र पर शाबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शाबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमे कुमारिल के श्लोकवार्तिकके साथ ही साथ शाबरभाष्य की दलीलो को भी पूर्वपक्षमे रखा है। शाबरभाष्य से ही "गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७९) मे शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार मीमासकोंका मत भी शबरभाष्यसे ही

उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्र मे शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमे और पूर्वपक्ष मे उद्धृत किए गए हैं।

कुमारिल और प्रभाचन्द्र–भट्टकुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है। कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) मे वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है–

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिपु॥" [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-१०) मे वाक्यपदीय (१।७) के "तत्त्वाववोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" अंश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमासाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लो० ५१) मे वाक्यपदीय (२।१-२) मे निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमे बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री इत्सिंगने अपने यात्राविवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादिप्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासो कारिकाएँ उद्धृत कीं हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोमें कुमारिलकी युक्तियोका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी "तस्मादुभयहानेन व्यवृत्त्यनुगमात्मकः" आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत कीं हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन, आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की भट्ट उम्बेककृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोडन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाईं जातीं। संभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रन्थ की हों।

मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र–आ० मंडनमिश्रके मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, भावनाविवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने (ई० ९ वीं शताब्दी का पूर्वभाग) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्र का नाम लिया है। यतः मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोमें सप्तमशतकवर्ती कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा

१ देखो बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावना।

८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४९) में, मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं" श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्ष में मंडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

प्रभाकर और प्रभाचन्द्र–शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्टकुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोष या विवेकाख्याति रूप मानते है। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योका अर्थ नियोगपरक करते है। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोष, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का विस्तृत खंडन किया है।

शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र–प्रभाकरके शिष्योमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होने बृहतीके ऊपर ऋजुविमला नाम की पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोका विवेचन करनेके लिए इन्होने प्रकरणपञ्चिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र–आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेको ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधार से ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र–शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ९ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे "ब्रह्माविद्यावदिष्टश्चेन्ननु" इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२०) के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५)

१ द्रष्टव्य–अच्युतपत्र वर्ष ३ अङ्क ४ में म० म० गोपीनाथ कविराज का लेख।

तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में ब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-वार्तिक (३।५।४३-४४) से "यथा विशुद्धमाकाशं" आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

भामह और प्रभाचन्द्र–भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ० २९१) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोहखण्डन वाली "यदि गौरित्ययं शब्दः" आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यलङ्कारके ६ वे परिच्छेद (श्लो० १७–१९) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५–७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र 'कल्पनापोढ' पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ और अभ्रान्त' उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डन-विषयक "यदि गौरित्ययं" आदि तीनों कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की है। यह भी सभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हो।

बाण और प्रभाचन्द्र–प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यश्लोक "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये" प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २९८) मे उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३९३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है–"कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः"–अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र–शिशुपालबध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है[1]। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का "युगान्तकाल-प्रतिसंहृतात्मनो···" श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

---

१ देखो सस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १४३।

(अवैदिकदर्शन)

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र–अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गतः बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें (प्रमेयक० पृ० ६८७) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं–

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

[सौन्दरनन्द १६।२८,२९]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र–नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं। इन्हे शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १३२) में माध्यमिकके शून्यवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी 'न स्वतो नापि परतः' और 'यथा मया यथा स्वप्नो…' ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र–वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३९०) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्य-समुत्पादका खंडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत कीं है। देखो-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र–आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट संस्थापकोमें है। इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोढ लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने[1] दिग्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८०) में

१ वादन्याय परिशिष्ट पृ० VI,

तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में ब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-वार्तिक (३।५।४३-४४) से "यथा विशुद्धमाकाशं" आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की है।

भामह और प्रभाचन्द्र–भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ० २९१) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोहखण्डन वाली "यदि गौरित्ययं शब्दः" आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यलङ्कारके ६ वे परिच्छेद (श्लो० १७–१९) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५–७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र 'कल्पनापोढ' पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ और अभ्रान्त' उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डन-विषयक "यदि गौरित्ययं" आदि तीनो कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की हैं। यह मी संभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

बाण और प्रभाचन्द्र–प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यश्लोक "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये" प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २९८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३९३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है–"कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः"–अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र–शिशुपालबध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है[1]। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का "युगान्तकाल-प्रतिसंहृतात्मनो···" श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

---

१ देखो सस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १४३।

(अवैदिकदर्शन)

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र–अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गतः बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें (प्रमेयक० पृ० ६८७) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं–

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

[सौन्दरनन्द १६।२८,२६]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र–नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् है। इन्हे शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १३२) में माध्यमिकके शून्यवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी 'न स्वतो नापि परतः' और 'यथा मया यथा स्वप्नो···' ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र–वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३९०) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्य-समुत्पादका खंडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत कीं है। देखो-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र–आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट सस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोढ लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने[1] दिग्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८०) में

---

१ वादन्याय परिशिष्ट पृ० VI,

'स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः' लिखकर प्रमाणसमुच्चयका 'प्रमाणभूताय' इत्यादि मंगलश्लोकांश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है– "दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः' इत्युक्तम्।"

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र–बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति इसाकी ७ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृति पर दृढ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोके खडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोके खंडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके विषयमें मै विशेष ऊहापोह "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना (पृ० १८-) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्त्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थों की अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तक २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यों की त्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत है। वादन्यायका "हसति हसति स्वामिनि" आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। संवेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' आदि हेतुओंका निर्देश कर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः" कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका समय भी ईसाकी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चरचा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अवतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि–विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खंडनका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख तथा

प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कार में ही किया है[1]। भिक्षु राहुलसाकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है।[2] ये बौद्धाचार्य अपनी संस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मदको जडताका चिह्न बताया है—

"वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये॥"

उत्तराध्ययनसूत्रमें 'कम्मुणा बम्हणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ' लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितके २५ वे अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रविषेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ थोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमे सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोमें जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र—प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी स्वोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णककगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका 'आहुर्विधातृ' श्लोक उद्धृत है। अत· इनका समय ई० ८ वीं सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणो पर कर्णकगोमिकी स्ववृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोमें देखना चाहिये।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र—तत्त्वसग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसग्रहपञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है।[3] शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रावाहिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यो तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए षट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य है। तत्त्वसग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासो कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेको कारिकाएँ ऐसी है जो कुमारिलके श्लोक-

१ इसके अवतरण अकलक ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० २७ मे देखना चाहिए।
२ इन आचार्योंके ग्रन्थोके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९।
३ देखो तत्त्वसग्रहकी प्रस्तावना पृ० Xcvi

वार्तिकमें नहीं पाई जातीं। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। संभव है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतुलक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी ९ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दुविवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है–१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १०) में कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। भिक्षु राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चरचामें, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र–ज्ञानश्रीने क्षणभंगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयानाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वी से खडन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्काम्बराक (९०६) शक, ई० ९८४ मे समाप्तकी थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० ९८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। भिक्षु राहुल साकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि–ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोहसिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है–

"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।"

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां" कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थों में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं हैं पर उदयनाचार्य (ई० ९८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

१ देखो वादन्यायका परिशिष्ट।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र—भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपप्लवग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोमे सर्वप्रथम तत्त्वोपप्लववादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञान-का पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपप्लव ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पो द्वारा खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) मे 'तत्त्वोपप्लववादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३९) मे भी 'तत्त्वोपप्लववादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खंडनमे क्वचित् तत्त्वोपप्लववादिकृत विकल्पोका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपप्लववादिके विकल्पोकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र—दिगम्बर आचार्यों मे आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय—प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार—के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामे इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-२६) मे स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्द-के इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोमे केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्ति-वादके रूपमें पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमे दिग-म्बरोकी मान्यताका विस्तृत खंडन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनो मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुंवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र—आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि—

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।

वार्तिकमें नहीं पाई जातीं। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें भी उद्‍धृत हैं। संभव है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतु-लक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी ९ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दु-विवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है—१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १०) मे कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके न्यायविन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। भिक्षु राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चरचामें, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र—ज्ञानश्रीने क्षणभंगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयानाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वी से खंडन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्काम्बरांक (९०६) शक, ई० ९८४ में समाप्तकी थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० ९८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि—ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोह-सिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है—

"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।"

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्‍धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां" कारिका उद्‍धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थो में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं हैं पर उदयनाचार्य (ई० ९८४) के ग्रन्थोमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

१ देखो वादन्यायका परिशिष्ट।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र–भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ गायकबाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपप्लवग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोमे सर्वप्रथम तत्त्वोपप्लववादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञान-का पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपप्लव ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पो द्वारा खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) मे 'तत्त्वोपप्लववादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३९) मे भी 'तत्त्वोपप्लववादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खंडनमे क्वचित् तत्त्वोपप्लववादिकृत विकल्पोका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपप्लववादिके विकल्पोकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र–दिगम्बर आचार्यों मे आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय–प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार–के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामे इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-२६) मे स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्द-के इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोमें केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्ति-वादके रूपमे पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोमे दिग-म्बरोकी मान्यताका विस्तृत खंडन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनो मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुंवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र–आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि–

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥१२३॥"

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तरत्नोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल–प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पापोंका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला तीर्थस्वरूप जो स्तवन किया था और जिस स्तवनकी 'स्वामीने मीमांसा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वल्पशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें वर्णित जिस आप्तकी मीमांसा की है उसी आप्तकी मैंने परीक्षा की है। वह मंगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने बनाया था। यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोंके निकालनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता; क्योंकि भट्टाकलङ्कदेव और विद्यानन्दने अपने राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है। यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अवश्य ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते। इस श्लोकमें विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको उस शास्त्रकारका बताया है, जिसने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका मथन करके दीप्तरत्न निकाले थे। वे इस श्लोकको मूलसूत्रकारका नहीं मानते। परन्तु यही विद्यानन्द आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं। यथा–

"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते–मोक्षमार्गस्य नेतारं....."

इस पंक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं–"तेन 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः, प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।" इस अवतरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ०३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्यायविनिश्चय (श्लो० ३) का है। अतः मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम 'विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है' यह नहीं समझ सकते। अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते। अतः इस पंक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इद्धरत्नोंके उद्भवकर्ता आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मंगलश्लोक है। और यदि समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं। पं० सुखलालजी का यह तर्क कि–"यदि समन्तभद्र

पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किए बिना नहीं रहते" विचारणीय है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणो से किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचार की एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवत. दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुबिन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः" कारिकाके खंडन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक संभवतः धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थके हों। अर्चटका समय ९ वीं सदी है। कुमारिलके मीमासाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी" कारिकाके प्रतिच्छायभूत निम्न श्लोक पाये जाते है—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥" [मी० श्लो० पृ० ६१९]

कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि तो सातवीं सदी सुनिश्चित है। पूर्वावधिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय इसाकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो इनका समय पूज्यपादके बाद होना चाहिए। अन्यथा दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और पूज्यपादसे कुछ पहिले।

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रम की पाचवी और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होने जैनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धभक्तिसे 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहा कहीं भी व्याकरणके सूत्रोके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहां प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए है।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र—'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वे शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० बी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—"धनञ्जयने द्विसन्धान महाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमे की है।" डॉ० पाठक और उक्त

१ देखो अनेकान्त वर्ष १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते हैं कि इसकी प्रति बबईके ऐलक पन्नाल्लाल सरस्वती भवनमें मौजूद है।

इतिहास के लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोके समय निर्धारणकी भांति धनञ्जयके समयमें भी बडी भारी भ्रान्ति कर बैठे है। क्योकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८ वीं सदीका अन्त और नवींका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है—

१ जल्हण (ई० द्वादशशतक) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्न लिखित पद्य उद्धृत है—

"द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः। यया जातं फलं तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः॥"

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि—"यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।" आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं! यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जल्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमांसाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलकचम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२ वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

"अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः। बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥"

इस श्लिष्ट श्लोकमें 'अनेकभेदसन्धाना.' पदसे धनञ्जयके 'द्विसन्धानकाव्य' का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ९४७ शक (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० वीरसेनने अपनी धवलाटीका (अमरावतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

"हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये। प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः॥"

आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालाके—

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८ वीं सदीके आचार्य है अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसगत है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थल पर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

---

१ इसी ग्रन्थका प्रथम भागकी प्रस्तावना पृ० ६२।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र–रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाङ्मयका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाधिकबार प्रदर्शित करते है। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलंकवाङ्मयके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ो मतमतान्तरोका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोके मत उनके ग्रन्थोके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थो पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ९८) में 'एके अनन्तवीर्यादय.' पदसे संभवतः इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र–आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियॉ इनके अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभव कराती है। इन्होने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थों पर विद्यानन्दकी कृतियोकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोका अनूठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें–

"विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्"

इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अन्य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्धयै' 'सत्यवाक्याधिपाः' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी (जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७) लिखते हैं कि–"बहुत सभव है कि उन्होने गगबाड़ि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योकि गगवाड़ि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गगवशमे होने वाले राजाओमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह सभव है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनालंकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमे रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६

के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकके "प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः" इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनों शब्द हैं, जिनसे गंगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।" इस अवतरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई है। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्द-महोदय, इसके अनन्तर अपने आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका; क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका, तथा आप्तपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, 'सत्यवाक्य' नाम नहीं लिया है, पर आप्तपरीक्षा आदिमें 'सत्यवाक्य' नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मंडनमिश्रके मतका खंडन है और अष्टसहस्रीमे सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३।४ कारिकाएँ भी उद्धृतकी गई हैं। मंडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपप्लववादका खंडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चरचा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) मे न्यायदर्शनके 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थ रचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र–लघीयस्त्रयादि संग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित है। लघीयस्त्रयादिसंग्रहकी ही प्रस्तावनामें पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वदिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है–

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता। अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते॥"

वादिराजने पार्श्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये

हों। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि–(पृ० १८१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हे पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ–

"किन्तु अज्ञो जनः दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधन स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधन व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च–तदात्वसुखसञ्ज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

"किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधन स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिक परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुष. सुभाषितम्–तदात्वसुखसंज्ञेपु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"–बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र–राष्ट्रकूटवंशी राजा अमोघवर्षके राज्यकाल (ईस्वी ८१४-८७७) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये यापनीय संघके आचार्य थे। यापनीयसंघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोको आदरकी दृष्टिमे देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने

१ देखो–प० नाथूरामप्रेमीका 'यापनीय साहित्यकी खोज' (अनेकान्त वर्ष ३ किरण १) तथा प्रो० ए० उपाध्यायका 'यापनीयसघ' (जैनदर्शन वर्ष ४ अक ७) लेख।

शाकटायनव्याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसंघके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोकी कुछ कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह संघ दोनों सम्प्रदायोके जोड़नेके लिए शृंखलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीययतिग्रामाग्रणी' लिखा है—"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ"। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० ग्रन्थोंका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकवलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं[1]। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर बिलगावमें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं विषयोके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमें हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामें स्त्रीमुक्तिका संक्षिप्त समर्थन देखते हैं, परन्तु इन विषयोको शास्त्रार्थका रूप सन्मतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि, तथा स्याद्वादरत्नाकरकार वादि देवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय, तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादग्रस्त विषयोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तात्त्विकदृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसंघ वालोने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव, तथा शान्तिसूरि करीब करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोका साक्षात् खंडन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोमे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कवार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोके आधारसे ही उक्त बातोका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सामने सामने आते है। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्ष रूपमें पाई जाती है। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकवलाहारवादमें श्वेताम्बर आचार्योंकी बजाय शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोको ही अपने

१ ये प्रकरण जैनसाहित्यसंशोधक खंड २ अंक ३-४ में मुद्रित हुए है।

खंडनका प्रधान लक्ष्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६९) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है–

"गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः विख्याताः शीलवत्तया जगति।
सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥" [स्त्रीमु० श्लो० ३१]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र–जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिकृत महावृत्ति उपलब्ध है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने 'शब्दाम्भोजभास्कर'[1] नामका जैनेन्द्रव्याकरण-का महान्यास बनाया है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक लेख[2]में जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गा० ४३६) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है–

"जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥"

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा नं० ७८४, ८९६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है[3] कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे।

वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शकसंवत् ९४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था। अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गंगवंशीयमहाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने श्रवणबेल्गुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ९७८ में समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना

---

१ इसका परिचय 'प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ' शीर्षक स्तम्भमें देखना चाहिए।
२ जैन साहित्यसंशोधक भाग १ अंक २।
३ देखो त्रिलोकसार की प्रस्तावना।

चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३९३ में माघ (ई० ७ वीं सदी) काव्यसे 'सटाच्छटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३।२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० ८ वीं सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ९ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जैनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ९६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाम्भोजभास्कर न्यास बनाया है; क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र–मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई इसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रचीं हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सन्मतितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। संभव है कि गोम्मटसार की तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे सग्रहग्रन्थोंमें प्राचीनगाथाओंके साथ कुछ संग्रहकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मटसारमें बहुभाग स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "एगो मे सस्सदो" "संजोगमूलं जीवेन", ये दो गाथाएँ उद्धृत की है। ये गाथाएँ मूलाचारमें (२।४८,४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भावपाहुड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३१) मे "आचेलकुदेसिय" आदि गाथांश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा न० ९०९) मे तथा भगवती आराधनामें (गा० ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलक्यके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बरआगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १९७२) में पाई जाती है। गाथाओं की इस सक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि–कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हें दिग० श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमे स्थान दिया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र–आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय (९७४ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन ९८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायके सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मटसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका संक्षिप्त सस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७५४) मे 'लोयायासपदे

गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसंग्रह में पाई जाती है। अतः आपाततः यही निष्कर्ष निकल सकता है[1] कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकाड या द्रव्यसंग्रहसे उद्धृत की होगी, परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।२९) तथा श्लोकवार्तिक (पृ० ३९९) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) मे 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांड मे है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुतः प्राचीन है और धवलाटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमे मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य ओर प्रभाचन्द्र—रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य अकलंकके प्रकरणोके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं, क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमे प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं[2] कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही संक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने[3] प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमासा पर शब्द और अर्थ दोनो दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासाने प्राय. प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड को पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र—[4]देवसेन श्रीविमलसेन गणीके शिष्य थे। इन्होने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमे माघ सुदी दशमी विक्रमसंवत् ९९० (ई० ९३३) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसग्रह ग्रन्थकी रचना की थी; क्योंकि उसमे दर्शनसारकी अनेको गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसग्रह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसग्रह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है—

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥"

यद्यपि देवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि—

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ। सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥

---

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम सस्करणके सपादक प० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ 'प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति। मादृशा क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभा ॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिर सताम्। चेतोहर भृत यद्वन्नद्या नवघटे जलम् ॥"

३ देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अक ९।

४ नयचक्रकी प्रस्तावना पृ० ११–।

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। मुख्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए है। उन्होने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५९) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्ध-कारिकाओमेसे "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः" कारिकांश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थ-राजवार्तिक (पृ० १०) मे भी "अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः" वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे पाई जाने वाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमे 'उक्तञ्च' लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ मे भाष्यकी 'दग्धे बीजे' कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह नि सङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनने इसके कुछ मन्तव्योकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र–आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सन्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ जैकोवी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। प० सुखलाल जी इन्हे विक्रमकी पाचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे[1]। पर अब उनका विश्वास है कि "सिद्धसेन ईसाकी छठीं या सातवीं सदीमे हुए हों और उन्होंने संभवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोको देखा हो[2]।" न्यायावतारकी रचनामे न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायबिन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता हीं है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) मे पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय 'धानुष्क' का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४–१६ से भलीभाति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र–श्वे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृत-गाथानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है, क्योकि इन्होने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए है। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है[3]। सिद्धर्षिने उपमितिभवप्रपञ्चाकथा वि स० ९६२ ज्येष्ठ शुद्ध पचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रम की ९ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की 'वरिससयदिक्खयाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू' इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

---

१ देखो गुजराती सन्मतितर्क पृ० ४०।

२ इंग्लिश सन्मतितर्क की प्रस्तावना।

३ जैनसाहित्यनो इतिहास पृ० १८६।

रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए। सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥"
अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है। तथापि वहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमे नहीं मिल सकी है। देवसेन धारानगरीमे ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ९९७ (ई० ९४०) के आसपास ही होगा।

श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र–जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पंचवस्तु-प्रक्रिया उपलब्ध है[1]। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अभयनन्दिकृत महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो 'टीकामाल' शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा–

"सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति,
श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्यौघशय्यातलम्।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,
प्रासादं पृथुपञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥"

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है– "इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते"। यह चरित्र शक संवत् १०११, ई० १०८९ में वनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना युक्तिसंगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा दी है। इससे शब्दाम्भोजभास्करका रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र–भ० महावीरकी अर्धमागधी दिव्यध्वनिको गणधरों ने द्वादशांगी रूपमें गूँथा था। उस समय उन अर्धमागधी भाषामय द्वादशांग आगमोकी परम्परा श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिवद्ध नहीं थी। इन आगमोका आखरी संकलन वीर सं० ९८० (वि० ५१०) मे श्वेताम्बराचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अंगग्रन्थोके सिवाय कुछ अंगबाह्य या अनंगात्मक श्रुत भी है। छेदसूत्र अनंगश्रुतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६८) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र (५।२०) से "नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलाए होत्तए" यह सूत्रवाक्य उद्धृत किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र–तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो वह, जिस पर स्वयं वाचक उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्य-

१ देखो प्रेमीजीका 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्यदेवनन्दी' लेख, जैनसा० स० भाग १ अंक २।

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। मुख्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए है। उन्होने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५९) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्धकारिकाओमेंसे "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः" कारिकाश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० १०) मे भी "अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः" वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे पाई जाने वाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमे 'उक्तञ्च' लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ मे भाष्यकी 'दग्धे बीजे' कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह नि सङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनने इसके कुछ मन्तव्योकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र–आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनके सन्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ जैकोबी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमे अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। पं० सुखलाल जी इन्हे विक्रमकी पांचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि "सिद्धसेन ईसाकी छठीं या सातवीं सदीमे हुए हों और उन्होंने सभवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोको देखा हो[२]।" न्यायावतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायबिन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) मे पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय 'धानुष्क' का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४–१६ से भलीभांति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र–श्वे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृतगाथानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है; क्योकि इन्होने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए है। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है[३]। सिद्धर्षिने उपमितिभवप्रपञ्चाकथा वि स० ९६२ ज्येष्ठ शुद्ध पंचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रम की ९ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की 'वरिससयदिक्खयाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू' इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

---

१ देखो गुजराती सन्मतितर्क पृ० ४०।

२ इग्लिश सन्मतितर्क की प्रस्तावना।

३ जैनसाहित्यनो इतिहास पृ० १८६।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजय जीने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है—कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए; क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमंजरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मंजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमे १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोंमे 'षड्दर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥७२॥"

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भावका एक श्लोक—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः॥"

इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे संभावना की जा सकती है कि जैमिनिकी षट्प्रमाणसंख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह संभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे षड्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं विना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं? इसका एक और उदाहरण यह है कि—

"विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च। समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः॥
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स सम्मतः। क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका॥
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते। पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्॥
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च···"

ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२–४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उसमनयके असाम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्तासमुच्चयमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके श्लोक उद्धृत कर अपनी षड्दर्शनसमुच्चायक बुद्धिके प्रेरणा

बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षकी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र–श्रीसिद्धर्षिगणि श्वे० आचार्य दुर्गस्वामीके शिष्य थे। इन्होने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, विक्रम सवत् ९६२ (१ मई ९०६ ई०) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथाकी समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार (श्लो० १६) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि–"जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके विना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करने वाले धनुर्धारीके गुण-दोषोका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए विना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।" न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारी का दृष्टान्त दिया गया हैं। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अवतरणोके लिए देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

अभयदेव और प्रभाचन्द्र–चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायवनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद थे। सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना (पृ० ८३) में श्रीमान् पं० सुखलालजी और पं० वेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमे एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। प० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी संभावना की है। प्रभावकचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० सं० १०९६ में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविकी तिलकमञ्जरी आख्यायिका का सशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोकी राजसभाओं मे सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओको मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने मे कोई वाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिकप्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीका मे पद पद पर मिलता है। इस सुविस्तृत टीका की 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीका में स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की

युक्तियोमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोंमें परस्पर खडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोके साथ ही इस विषयकी चरचा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रन्थोंके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अवश्य ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् पं० सुखलालजी और बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि–"जो के आ टीकामां सैकडों दार्शनिक-ग्रन्थो नु दोहन जणाय छे, छता सामान्यरीते मीमांसककुमारिलभट्टनु श्लोकवार्तिक, नालन्दा-विश्वविद्यालय ना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह ऊपरनी कमलशीलकृत पजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगेरे ग्रंथों नु प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामा छे।" अर्थात् सन्मतितर्कटीका पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपंजिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सन्मतितर्कके विद्वद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मै उसमे इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हू कि–"प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नहीं हैं, किन्तु तीनों ग्रथोके बहुभागमे जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रथ हैं–भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसग्रह और उसकी पजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोका प्रतिबिम्ब सन्मतिटीका और प्रमेय-कमलमार्त्तण्डमे आया है।" सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहॉ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणोंके जिन सन्दर्भोंमे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रमे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि–सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १० [illegible] रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मति-

१ [illegible] पृ० ८८।

तर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो–प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोमें दिए गए सन्मतिटीका के अवतरण।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र–देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे। प्रभावक चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था। ये प्राग्वाटवंशके रत्न थे। इन्होने वि० सं० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था। ये भडोच नगरमें ९ वर्षकी अल्पवयमें वि० स० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० स० ११७४ मे इन्होने आचार्यपद पाया था। राजर्पि कुमारपालके राज्यकालमें वि० स० १२२६ में इनका स्वर्गवास हुआ। प्रसिद्ध है कि–वि० स० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे। इन्होने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढगसे किया गया दूसरा सस्करण ही है। इन्होने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ ग्रथित किया है। परीक्षामुखसे अतिरिक्त इसमे नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोडे गए हैं। माणिक्यनन्दिके सूत्रोके सिवाय अकलङ्कके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है। इस तरह भिन्न भिन्न ग्रन्थोमें विशकलित जैनपदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर सकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रन्थोकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं। इन लेखोमें विविध विकल्पजालोसे परपक्षका खडन किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी सग्रहदृष्टिकी प्रशसा किए विना नहीं रह सकते। इनकी सग्राहक वीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोको इतने चेतश्चमत्कारक ढगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पढ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अवगत हो जाता है। वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनो ग्रन्थोके शब्द-अर्थरत्नोका सुन्दर आकर ही है। यह रत्नाकर मार्त्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) मे ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणोके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि दोनो ग्रन्थोकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है।

१ देखो जैन साहित्य नो इतिहास पृ० २४८।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि–प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि–मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते है और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते है कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोके चक्षुसे रश्मियोके निकलनेके सिद्धान्तका खंडन कर चुके हैं। जब हम भासुररूपवाली आखसे भी रश्मियोका निकलना युक्ति एव अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोसे छाया पुद्गलोके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दशः अनुसरण करते हैं। और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोको सिद्धान्त मान बैठते है। वे रत्नाकरमें (पृ० ६९८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि–"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः सम्पद्यन्ते।"–अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोके आकारवाली पर्यायों को धारण करते हैं। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खंडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आंखोंके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे है।

हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ़ सग्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भंडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये 'कलिकाल सर्वज्ञ' के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० सं० ११५४ (ई० सन् १०९७) में ८ वर्षकी लघुवयमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसंवत् ११६६ (ई० सन् ११२०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये सूरिपद पर प्रतिष्ठत हुए। ये महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२९ (ई० ११७३) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना-प्रमाणमीमांसा जैनन्यायके ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमांसाके निग्रह-

स्थानके निरूपण और खंडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमासाके अन्य स्थलोमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही सक्षिप्त कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमासामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुरण होना ही अधिक सगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्रायः प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमांसा बनाते समय मद्देनजर रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोकी तुलनाके लिए सिंघी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमासाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

मलयगिरि और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहविहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रन्थो पर संस्कृत टीकाएँ लिखीं हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A) में वे अकलङ्कदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयस्त्रयस्वविवृति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६९१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है–"अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।"–इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयस्त्रयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं–अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोका निषेध करता है–उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलकने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि–जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय

करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्दही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमे जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होने अकलंकदेवके इस तत्त्वको मद्देनजर नहीं रखा कि–नयवाक्यमें स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्याच्छब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभावसे विषय नही होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि–जहाँ प्रमाणमे अशेष ही धर्म एकरूपसे–अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते है, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमे एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोका तिरस्कार हो जाता है। अत. दुर्नयसे सुनयका पार्थक्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलङ्ककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलङ्कके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए है। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोविजयने मलयगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमे अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्द-नय भी प्रमाण ही हो जायँगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोका मात्र द्योतन करता है, वह उन्हे विवक्षितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाणकोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र–देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होने न्यायावतारटीका पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० संवत् ११९३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिसुव्रत चरित्र' पूर्ण किया था[1]। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायावतार टिप्पणमें प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं–

१–"परिमण्डलाः परमाणवः तेषां भावः पारिमण्डल्यं वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येवं व्याख्यातत्वात्।" (पृ० २५)

२–"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः तां विदन्ति अधीयते वा वैभाषिकाः इत्युवाच।" (पृ० ७९)

ये दोनो अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३८ पं० १३ तथा पृ० ३९० पं० १ में पाए जाते हैं। इसके सिवाय न्यायावतारटिप्पणमें अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे झलकता है।

---

१ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास पृ० २५३।

मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र–आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिषेण की स्याद्वादमजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि–इन्होने शक सवत् १२१४ (ई० १२९३) में दीपमालिका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमंजरीकी शब्द रचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होने विधिवादियोके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोमें किया है–"एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।" इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमजरीमें अचर्चित या अल्पचर्चित विषयोके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५९८ तक है।

गुणरत्न और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेवसुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्वृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोका लेखनकाल विक्रम सवत् १४६८ दिया है। अत· इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होने स्वाभिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदान्ती तथा बौद्धोके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बडे विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है[1] कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोपर खासकर परपक्षखडनके भागोपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

यशोविजय और प्रभाचन्द्र–उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८ वीं सदीके युग प्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होने विक्रम संवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में प० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर वादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेसे 'न्यायविशारद' पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० स० १७१८ में इन्हे 'वाचक-उपाध्याय' का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३

१ देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८१६ से ८४७ तकके टिप्पण।

(सन् १६८६) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशवीं शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा। उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होने नव्यन्यायका समग्र अध्ययन कर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है। इन्होने सैकड़ो ग्रन्थ बनाए हैं। इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुख था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोका इन्होने विधिवत् पारायण किया था। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी। जैनतर्कभाषामें अनेक जगह न्याय-दीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं। इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोके परपक्ष खडनवाले अशोमें प्रभाचन्द्रके विविध विकल्पजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बत हैं। इन्होने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्योकी समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक अवैदिकदर्शनोंकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोंके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था। जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोंमे प्रभाचन्द्रके ये ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तर-कालीन ग्रन्थोके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था।

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान—प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे; किन्तु उन्हे जीवनो-पयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में छाया आदिको पौद्गलिक सिद्ध करते समय उनमें गुणोका सद्भाव दिखानेके लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

"आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः॥"

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसी तरह वैशेषिकोंके गुणपदार्थका खण्डन करते समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छिल आदि गुणोंके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८) में मूत्र-पुरीषके रोकनेसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति—सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्मात्मकता सिद्ध करनेके लिए अकलङ्क आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह

आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३६९) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते है कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा-पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखड बने रहते है उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

उदारविचार–आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। उनकी तर्कणा शक्ति और उदार विचारोका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकरणमे उन्होने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकत्वका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोमे उसे गुणकर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नसे उपलक्षित व्यक्ति विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

"ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थाया, तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभाव ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।"

[न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४८६]

"प्रश्न–यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमे वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर–जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोको धारण करे तथा ब्राह्मणोके योग्य विशिष्ट क्रियाओका आचरण करें उनमे ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। अत. आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारो को क्रियानुसार ही मानना युक्तिसगत है।"

वे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८७) मे और भी स्पष्टतासे लिखते है कि–"तन सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेय ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था–इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे होती ही है।"

बौद्धोके धम्मपद और श्वे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है–

"न जटाहिं न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
जम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं।" [धम्मपद गा० ३९३]

"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।

वईसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥" [उत्तरा० २५।३३]

दिगम्बर आचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता श्री जटासिहनन्दि कितने स्पष्ट शब्दोंमें जातिको क्रियानिमित्तक लिखते हैं—

"क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।

शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥" [वराङ्गचरित २५।११]

"शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको 'अहिंसा आदि व्रतोका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति' इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं। यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहार मात्र है। क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं हैं।"

ऐसे ही विचार तथा उद्गार पद्मपुराणकार रविषेण, आदि पुराणकार जिनसेन, तथा धर्मपरीक्षाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं[1]। आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक संस्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसंस्कृतिके विशुद्ध विचारोका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परिसिञ्चन कर पोषण किया है। यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधानतया उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्व आदि अशोके खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिखनेमें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रकी अपनी जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती। उन्होने उसके हर एक पहलू पर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए।

§ २. प्रभाचन्द्रका समय—

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें 'पद्मनन्दि सैद्धान्त' को अपना गुरु लिखा है। श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख (नं० ४०) मे गोल्लाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है। और इसी शिलालेखमे आगे चलकर प्रथिततर्कग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपमे वर्णन किया गया है। प्रभाचन्द्रके प्रथिततर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनो विशेषण यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे प्रथित तर्कग्रन्थोके रचयिता थे तथा शब्दाम्भोजभास्करनामक जैनेन्द्रन्यासके कर्त्ता भी थे। इसी शिलालेखमे पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्धकर्णादिक और कौमारदेवव्रती लिखा है। इन विशेषणोसे ज्ञात होता है कि—पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती कहे जाते थे। ये मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीगणके श्रीगोल्लाचार्यके शिष्य थे।

१ देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९। २ जैनशिलालेखसंग्रह, माणिकचन्द्रग्रन्थमाला।

प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्तशास्त्रोके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमे हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामे हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दिसैद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमे चले आए, और यहीं उन्होने अपने ग्रन्थोकी रचना की। ये धाराधीशभोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी "श्रीभोजदेवराज्ये धारानिवासिना" आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराणटिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोके "श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना" शब्दोसे इन ग्रन्थोकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख न० ५५ में मूलसघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"अवर सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोदोमणिः,
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिः श्रीमान् प्रभाचन्द्रमाः ॥१७॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः ॥१८॥"

इन श्लोकोमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमलसमूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्त्तण्ड) थे, शब्दरूप अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करनेको रोदोमणि (भास्कर) के समान थे। पडित रूपी कमलोके प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धान्तके शिष्य, प्रथितर्कग्रन्थकार एव शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं ? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, पर इसमें एकही वात नयी है। वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी। मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपनेही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हो तो कोई आश्चर्यकी वात नहीं है। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे। चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते है। यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि

७

के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमे प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है। हलेबेल्गोलके एक शिलालेख (नं० ४९२, जैनशिलालेखसंग्रह) में होय्सलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत् १०१५ मे दिया गया था। इस तरह सन् १०९४ मे प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

समयविचार–आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमे डॉ० पाठक, प्रेमीजी§ तथा मुख्तार सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराण का यह श्लोक–

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्–'जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया है।' इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५९ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमे प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तावना (पृ०१२३) में डॉ० पाठक आदिके मतका निरास ‡करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० से १०२० तक

---

§ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने "श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र" लेख (अनेकान्त वर्ष ४ अंक १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्त्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमे मुझे लिखते हैं कि–"हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोका प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्त्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही हैं।"

‡ पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चन्द्रांशुशुभ्रयशस' श्लोकमें चन्द्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचन्द्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके स्मृत होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नही मालूम होते। यतः (१) आदि-

निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोमे अन्तर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अभ्रान्त नहीं है। प० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोमे व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० स० १०८० (ई० १०२३) मे समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि–पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारगणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है–

पुराणकार इसके लिए बाध्य नही माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते है तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवी शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते है। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवी शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योका स्मरण करके भी आदि-पुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अत समकालीनवृद्ध जयन्त से प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमे उल्लेख्य हो सकते है। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासन से 'अन्धादय महानन्ध.' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमे उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती है। क्योकि आत्मानुशासनके "**जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥**" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है, क्योकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अत आत्मानुशासनका रचना-काल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमे प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है– "**बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धे सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारक सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेव** " अर्थात्–गुणभद्र स्वामीने विषयोकी ओर चचल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमे इन्ही लोकसेनको स्वय गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए है। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नही बनाया गया क्योकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामुग्ध-बुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एव अविकलवृत्त हो गए थे। अत लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तर-पुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक सभव है। प० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्न-माला (पृ० ७५) मे यही सभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेन की मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जांच करने से हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि इसमे अन्य कवियोके सुभाषितोका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ–आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पति' भर्तृहरिके नीति-शतकका ८८वा श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वां पद्य 'यदेतत्स्वच्छन्द' वैराग्यशतकका ५० वा श्लोक है। ऐसी स्थितिमे 'अन्धादयं महानन्ध' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमे अभी इस विषयमे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तान् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकाञ्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्वला[त्का]गणश्रीसंघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्द-डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य(?)विरचितं समाप्तम्।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) में उद्धृत किये गये हैं। श्लोकोंके अनन्तर--"श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह महापुराण पर दोनो आचार्योंके पृथक् पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेख[1]से स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पणलेखकने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणक प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है। इसी लिए डॉ० पी० एल० वैद्य[2], प्रो० हीरालालजी तथा पं० कैलाशचन्द्रजीने भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका रचना काल संवत् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रान्त आधारसे प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते है—

१—प्रभाचन्द्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अन्तमें "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोमें उक्त पुष्पिकालेख 'श्री भोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए।

श्रीमान् मुख्तारसा०[3] तथा प० कैलाशचन्द्रजी[4] प्रमेयकमल० और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें पाए जाने वाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोको स्वयं प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते। मुख्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचन्द्रजी इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्यको प्रभाचन्द्रकृत नहीं माननेमें दोनोके आधार जुदे जुदे हैं। मुख्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेन

१ देखो प० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ८ किरण १। २ महापुराणकी प्रस्तावना पृ० XIV। ३ रत्नकरण्डप्रस्तावना पृ० ५९-६०। ४ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२।

के पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वय उन्हीं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते। प० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १० वीं और ११ वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानना चाहते। मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है[3] कि–प्रमेयकमलमार्त्तण्डकीं कुछ प्रतियो में यह अन्तिमवाक्य नहीं पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इस्टीव्यूटकी प्राचीन प्रतियोका हवाला दिया है। मैंने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्त भवन आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमें भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भा० प्रतियोका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतिमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भां० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्र पर लिखी है, उनमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति-वाक्य है। इनमें भां० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह प्रमेय-कमलमार्त्तण्डकी किन्हीं प्रतियोमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोमें सभी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोमें 'जयसिंह देवराज्ये' प्रशस्ति वाक्य नहीं है। श्रीमान् मुख्तार सा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्ति-वाक्योको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि–लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमें लगानेका प्रयत्न कम करते है। लेखक आखिर नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम सभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको स्वकपोलकल्पित करके उसमें जोड दे। जिन प्रतियोमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें वह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई।

---

१ रत्नकरण्ड० प्रस्तावना पृ० ६०। २ देखो इनका परिचय न्यायकु० प्र० भाग के सम्पादकीयमे।

३ प० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते है कि–"भाण्डारकर इन्स्टीट्यूटकी न० ८३६ (सन् १८७५–७६) की प्रतिमे प्रशस्तिका 'श्री पद्मनन्दि' वाला श्लोक और 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नही। वही की न० ६३८ (सन् १८७५–७६) वाली प्रतिमे 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नही है। पहिली प्रति सवत् १४८९ तथा दूसरी सवत् १७९५ की लिखी हुई है।" वीरवाणी विलास भवनके अध्यक्ष प० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँ की ताडपत्रकी दो पूर्ण प्रतियोको देखकर लिखते है कि–"प्रतियोकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे है और 'श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य है। प्रमेयकमलमार्तण्डकी प्रतियोमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनो प्रतियोमें शकसवत् नही है"। कोल्हापुरकी प्रतिमे "श्री भोजदेवराज्ये" प्रशस्ति नही है। दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमे भी उक्तवाक्य नही है। अनेक प्रतियोमे प्रथम अध्यायके अन्तमे पाए जानेवाले "सिद्ध सर्वजनप्रबोध" श्लोककी व्याख्या नही है। इन्दौरकी तुकोगंजवाली प्रतिमे प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। खुरईकी प्रतिमे 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नही है, पर चारो प्रशस्तिश्लोक है।

जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२–यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे है। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्य-काल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्दमें शाकटायनके इन दोनो प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३–सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४–भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे[1] ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र[2] विद्याभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बादही होना चाहिए।

५–आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रंथ (रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई०) के बाद भावसंग्रह ग्रथ बनाया है। इसकी रचना संभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र' की तुलना (पृ० ३३) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

१ देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० २८२ टि० ५। २ न्यायसार प्रस्तावना पृ० ५।

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानतः ९६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७–पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) मे दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था[1]। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोका एवं पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते है।

८–श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थो पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ९९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना सगत मालूम होता है।

९–श्रवणबेल्गोलाके लेख न० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है–

"अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः॥ १५॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः॥ १६॥"

इस लेखमे वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोके कर्त्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धवलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका साराश यह है–"उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्य परम्परा इस प्रकार है–कुलभूषणके सिद्धान्तवारानिधि सद्वृत्त कुलचन्द्र नामके शिष्य

---

1 देखो महापुराणकी प्रस्तावना।

हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे–सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए–गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके अधीन केल्लगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमे एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारी हिरिय भंडारी, अभिनवगङ्गदडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख न० ३९ है। इसमे देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ शुक्ल ९ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरु भक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००–१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० (ई० १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है–कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गंडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गंडरादित्यदेवके उल्लेख शक स० १०३० से १०५८ तक के लेखो मे पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका संभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रातमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०–वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेकों पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक स० ९४७ (ई० १०२५) में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरण पर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामे पचासो जैन-जैनेतर आचार्योंके ग्रन्थोसे

प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। सभव है कि वादिराजके समयमे प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोके प्रकाशमे इन्हे प्रसङ्गसाधनके रूपमे तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक सभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते है–

१–ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्त्तडका उल्लेख किया है। इन्होने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५) में बनाई थी*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A) में लघीयस्त्रयकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृतकी है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतार-टीकाटिप्पण (पृ० २१,७९) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानो के उल्लेखो के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२–रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। प० जुगलकिशोर जी मुख्तार †ने इन दोनो टीकाओको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्ड-टीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८ श्लो० ९३) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचना काल वि० स० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है, क्योंकि अनागारधर्मामृत टीका वि० स० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारके खडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दा-वलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि–"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।" इसी तरह समाधितन्त्र टीका (पृ० १५) में लिखा है कि–"यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।" इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और

* स्वामी समन्तभद्र पृ० २२७। † रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचन्द्र ईसा की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

३—वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२२ में हुआ था। ये वि० सं० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया है। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४—जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पंचवस्तुप्रक्रिया बनाई है[1]। श्रुतकीर्ति कनड़ीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्त्ता अग्गलकविके गुरु थे। अग्गलकविने शक १०११, ई० १०८९ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है। संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्रन्यासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हे किसी टीकाटिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है*।

१ देखो—इसी प्रस्तावनाका 'श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र' अश, पृ० ३६।

* प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमसस्करणके सम्पादक पं० बशीधरजी शास्त्री सोलापुरने उक्त सस्करण के उपोद्धातमें 'श्रीभोजदेवराज्ये' प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवी शताब्दी सूचित किया है। और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नही है; प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपएसे' गाथाएँ उद्धृत है। पर ये गाथाएँ नेमिचन्द्रकृत नही है। पहिली

§ ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक। उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास) और प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) का परिचय दिया जाता है। गद्यकथाकोश, महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ है। इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते हैं—

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किंवदन्तियोके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है§। शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ४६ (एपि० कर्ना० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक है—

"माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथ. परवादिमर्दी।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्त्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपित ॥
*सुखि न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥"

जैनसिद्धान्तभवन आरामें वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है। उसमें भी ये श्लोक है। उनमें 'सुखि...' की जगह 'सुखीशे' तथा 'व्रतीन्दवे' के स्थानमें 'प्रमेन्दवे' पाठ है।

गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) मे उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमे भी पाई जाती है। दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वी) कृत सर्वार्थसिद्धिमे उद्धृत है। अत इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नही माना जा सकता। अवश्य ही इन्हे नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसग्रहमे सगृहीत किया है। अत इन गाथाओका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११ वी सदी नहीं साध सकता।

§ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२५।

* इस शिलालेखके अनुवादमे राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशंसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे "सुखि" इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है। वह श्लोक यह है—

"न्यासं जैनेन्द्रसज्ञ सकलबुधनुत पाणिनीयस्य भूयो-
न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह ता भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवच पूर्णदृग्बोधवृत्त ॥"

थोड़ी सी सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता जाता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोंका 'न्यास' वाले श्लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। डा० शीतलप्रसादजीने 'मद्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक' मे तथा प्रो० हीरालालजीने 'जैनशिलालेख संग्रह' की भूमिका (पृ० १८१) मे भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है।

यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्धमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोंकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है–

१–इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं§।

२–सन्धियोंके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रभेन्दुर्जिनः' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३–प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते है जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता–

"शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः॥
सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नामनामतः॥"

४–शाकटायन यापनीयसंघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कट्टर दिगम्बर। इन्होंने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरणोंका खंडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५–इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसंघप' आदि विशेषणों का समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा–

"एवंभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः॥

महतारभते तत्र महाश्रमणसंघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मनःसमाधानमाख्यायते। विषयेषु विक्षिप्तचेतसो न मनःसमाधि...असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्वयबुद्धिप्रकर्षः, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते। महाश्रमणसंघाधिपतेः सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव..."

§ मैसूर यूनि० में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की कापी है (नं० A. 605)। उसमे निम्नलिखित मंगलश्लोक है–

"प्रणम्य जयिनः प्राप्तविश्वव्याकरणश्रियः। शब्दानुशासनस्येयं वृत्तेर्विवरणोद्यमः॥ अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वृत्तयो वृत्तिमाश्रिताः। न्यासा न्यस्ता कृताः टीकाः पारं पारायणान्ययुः॥ तत्र वृत्ता (त्या) दावयं मंगलश्लोकः श्रीवीरममृतमित्यादि।"

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाशैली प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदि के मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विलक्षण है।

६–प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

७–प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोका उत्तरग्रन्थोमें प्रायः उल्लेख करते है। यथा न्यायकुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रोके उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८–शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधारसे इन्हे शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वय शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर–श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकरः' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकर्मलमार्त्तण्ड और न्याकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका टुक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति सवत् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह त्रुटित है। ३९ से ६७ नं० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे है। पत्रसख्या २२८ हैं। एक पत्रमें १३ से १५ तक पक्तियाँ और एक पक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं। मगलाचरण–

"श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसंशयहरं निखिलेषु बोधम्।
सच्छब्दलक्षणमशेषमतः प्रसिद्धं वक्ष्ये परिस्फुटमलं प्रणिपत्य सिद्धम् ॥ १ ॥
सविस्तरं यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम्।
मनोहरैः स्वल्पपदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वापिमार्गे (?)
···तदुक्त कृतशिक्ष (?) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।
किमुक्तमखिलज्ञैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थं श्लाघ्यतेऽनो मुनीन्द्रैः ॥३॥
शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताहर्निशम्,
यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणांशो गतः।

तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषां चेतश्चमत्कारकः,
सुव्यक्तैरसमैः प्रसन्नवचनैर्न्यासः समारभ्यते ॥ ४ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामि (मी) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकमभिलषन्निष्टदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह–लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य···"

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है। इसमें महावृत्तिके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है। यथा–

"सिद्धिरनेकान्तात्–प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थोधिकार आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः"–महावृत्ति पृ० २।

"द्विविधा च शब्दानां सिद्धिः व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति। तत्र प्रकृतीत्य (?) विकारागमादिविभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्। श्रोत्रग्राह्यौ (ह्याः) परमार्थतो ये प्रकृत्यादिविभागाः प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायैः शब्दानां तत्त्वप्रतिपत्तिः परमार्थरूपा सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामयितेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येषोऽधिकारः आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह–अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थः।"–शब्दाम्भोजभास्कर पृ० २ A।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गए इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है–

"नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने। प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥"

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है। प्रत्येक पादकी समाप्तिमें "इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः" इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक हैं–

"इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ श्रीवर्धमानाय नमः ॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तूयमानो हठात्।
अज्ञानान्धतमोपहः क्षितितले श्रीपूज्यपादो महान् ॥
सार्वः सन्ततसत्रिसन्धिनियतः पूर्वापरानुक्रमः।
शब्दाम्भोजदिवाकरोऽस्तु सहसा नः श्रेयसे यं च वै ॥

नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने ।

प्रभाचन्द्राय गुरुवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥ छ ॥

श्री वासुपूज्याय नमः । श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन संवत १९८० मासोत्तममासे चैत्रशुक्लपक्षे एकादश्यां ११ श्री महावीरसंवत् २४४९ । हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक पालम (सूवा देहली)"

जैनेन्द्रव्याकरणके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं–एक तो वह जिस पर अभयनन्दिने महावृत्ति, तथा श्रुतकीर्तिने पञ्चवस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है, और दूसरा वह जिस पर सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है । पं० नाथूराम प्रेमीने[1] अनेक पुष्ट प्रमाणोसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूलसूत्रपाठ सिद्ध किया है । प्रभाचन्द्रने इसी अभयनन्दिसम्मत प्राचीन सूत्रपाठ पर ही अपना यह शब्दाम्भोजभास्कर[2] नामका महान्यास बनाया है ।

आ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है–

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।"

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३२९) में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ देखनेका अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं–" एतच्च प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिह द्रष्टव्यम् ।"

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है । इसमें विधिविचार, कारकविचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकरण हैं जो इस ग्रन्थको किसी भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं । इसमें समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन तथा अन्य अनेक आचार्योंके पद्योंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है । पृ० ९१ में 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता' प्रयोगका हृदयग्राही व्याख्यान किया है । इस तरह क्या भाषा, क्या विषय और क्या प्रसन्नशैली, हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मलऔर प्रौढ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभावसे निहित है ।

प्रवचनसारसरोजभास्कर–यदि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विकसित करनेके लिए मार्त्तण्ड बनानेके पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भास्करका निर्माण किया हो तो कोई

---

१ देखो–'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' लेख, जैनसाहित्य संशोधक भाग १ अङ्क २ ।

२ पंडित नाथूलाल शास्त्री इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगंज इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें भी शब्दाम्भोजभास्करके तीन ही अध्याय हैं । उनका मङ्गलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्तिलेख बम्बईकी प्रतिके ही समान है । पं० भुजबलीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारंजाके मठमें भी इसकी प्रति है । इस प्रति में भी तीन ही अध्यायका व्याख्यान है । प्रेमीजी सूचित करते हैं कि दक्षिणके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रति है उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११ वें सूत्र तकका व्याख्यान है, आगे नहीं । हो सकता है कि यह प्रभाचन्द्रकी अन्तिमकृति ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो ।

अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है। (प्रमेय) कमलमार्त्तण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने ही (प्रवचनसार) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी संवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्णप्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है। इसका परिचय संक्षेपमें इस प्रकार है–

पत्रसंख्या ५३, श्लोकसंख्या १७४६, साइज १३×६। एक पत्रमें १२ पंक्तियां तथा एक पंक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ–

"ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशयः।

वीरं प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम्।

वक्ष्ये सुखाववोधं निर्वाणपदं प्रणम्यात्मम्॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह॥ छ॥ एस सुरासुर ।"

अन्त–"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः समाप्तः॥छ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पून्यमायां तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थसंख्या षट्चत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि॥१७४६॥"

मध्यकी सन्धियोंका पुष्पिकालेख–"इति श्री प्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे···" है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं। अवतरण–(गा० २।१०) "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" (गा० २।२८) "स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः" इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिक का तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने–

(गा० २।१३) "यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मक सत्तातः पृथग्वा? तत्राद्यः पक्षो न भवति, यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूप ध्रुवं निश्चयेन न त तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत्। हवदि पुणो अण्णं वा। अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्वधात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः–सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्याश्च सम्वन्धसिद्धौ सत्यां तत्सत्त्वसिद्धिरिति। तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गः। तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सदभ्युपगन्तव्यम्।" (गा० २।१६) "···तथाहि–द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत्तांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति।

गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः। द्रव्यं वा द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुणः। इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो एप हि अतद्भावः।" इन गाथाओकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है। इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओकी व्याख्या नहीं की है प्राय. वे गाथाऍ प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं। जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण करते हुए इन गाथाओकी व्याख्या की गई है। हॉ, जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाऍ अतिरिक्त भी हैं। इस टीकाका लक्ष्य है गाथाओका संक्षेपसे खुलासा करना। परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे ही दर्शनशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अवसर आया वहॉ उन्होने सक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोका भी निर्देश किया है।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभंगीकार श्रुतमुनिके 'सारत्रयनिपुण प्रभाचन्द्र' के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्ताका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक भाग सूचित किया है। परन्तु यह सभावना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही। आ० जयसेन अपनी टीका में (पृ० २९) केवलिकवलाहारके खडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि—"अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता वहवो दोपाः ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्ते।" सम्भव है यहॉ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिकी विवक्षा हो। अस्तु, मुझे तो यह सक्षिप्त पर विशदटीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है।

गद्यकथाकोश—यह ग्रन्थ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है। इसकी प्रतिमें ८९ वीं कथाके बाद "श्रीजयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति है। इसके प्रशस्ति श्लोकोका प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोसे पूरा पूरा सादृश्य है। इसका मगलश्लोक यह है—

"प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम्।
वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धः॥"

८९ वीं कथाके अनन्तर "जयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है। इसके अनन्तर भी कुछ कथाऍ लिखीं हैं। और अन्तमें "सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः" श्लोक

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२—

'येनाराध्य त्रिविधमनघामाराधना निर्मलाम्। प्राप्त सर्वसुखास्पद निरुपम स्वर्गापवर्गप्रदा (?)।
तेषा धर्मकथाप्रपञ्चरचनात्याराधना सस्थिता। स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि॥१॥
सुकोमलै सर्वसुखावबोधै पदै प्रभाचन्द्रकृत प्रबन्ध।
कल्याणकालेऽपि जिनेश्वराणा सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसौ॥२॥
श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्ध कृत।'

तथा "इति भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलो पर ग्रन्थ समाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८९ कथाएँ ही बनाई हो और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८९ वीं कथाके बाद ही ग्रन्थ समाप्तिसूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामे बनाए होगे। यही कारण है कि उनमें 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड[1], न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथाकोश। श्रीमान् प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-

---

१ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। सभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राजमार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हो।

२ प० जुगलकिशोर जी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामे रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध किया है, जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुत दृढ प्रमाणो पर अवलम्बित नही है। आपके मुख्य प्रमाण है कि—"प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारने स्मरण किया है इस लिए ये ईसाकी नवमशताब्दीके विद्वान् है, और इस टीकामे यशस्तिलकचम्पू (ई० ९५९) वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानत वि० की १३ वी शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानत वि० स० ११८०) के श्लोक उद्धृत पाए जाते है, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नही हो सकती।" इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—जब प्रभाचन्द्र का समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोसे ईसाकी ग्यारहवी शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्ही प्रभाचन्द्रकी ही हो तो भी इनमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योका उद्धृत होना अस्वाभाविक एव अनैतिहासिक नही है। वसुनन्दि और पद्मनन्दिका समय भी विक्रमकी १२ वी और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है, कोई दृढ प्रमाण इसके साधक नही दिए गए है। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थसे तो नही मालूम होती। वसुनन्दिकी 'पडिगहमुच्चट्ठाण' गाथा स्वय उन्ही की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नही है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके 'अध्रुवाशरणे' आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामे पद्मनन्दिका नाम लेकर उद्धृत नही है और न इन श्लोकोके पहिले 'उक्त च, तथा चोक्तम्' आदि कोई पद ही दिया गया है जिससे इन्हे उद्धृत ही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुख्तार सा० ने इन टीकाओके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए है वे दृढ नही हैं। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्टशैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार है—

"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"—रत्नक० टी० पृ० ६।

"ये पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरत. प्रत्याख्याता।"—समाधितन्त्रटी० पृ० १५।

इन दोनो अवतरणोकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओको बनाया है—

टीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका*, आत्मानुशासनतिलक† आदि ग्रन्थोकी भी प्रभाचन्द्र-कृत होनेकी संभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है। यथावसर इन ग्रन्थोके विषयमे विशेष प्रकाश डाला जायगा। अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोसे इस प्रस्तावनामे सहायता मिली है।

फाल्गुनशुक्ल द्वादशी
आष्टाह्निकपर्व
वीर नि० स० २४६७

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.
स्याद्वाद विद्यालय काशी.

"तदात्मकत्वञ्चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"—शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमे पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओका अक्षरश सादृश्य है। इति।

* क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति वम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मगल— "जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्ध प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघ क्रियाकलाप प्रकट प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति—"वन्दे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभु, ससृद्वृतिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य सशोषक।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरण श्री पद्मनन्दिप्रभु, तच्छिष्यात्प्रकटार्थता स्तुतिपद प्राप्त प्रभाचन्द्रत॥१॥
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रयता (?) दोषा यतीना कुतो व्योपाता (?) प्रलये तु 'रमलस्तेषा महादर्शित।
श्रीमद्गौतमनाभिभिर्गणधरैर्लोकत्रयोद्योतकं, सव्यक्त (?) सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जात प्रभाचन्द्रत॥२॥
य (यत्) सर्वात्महित न वर्णसहित न स्पन्दितोष्ठद्वयम्,
नो वाञ्छाकलितन्न दोषमलिन न श्वासरुद्ध (रुद्ध) क्रमम्।
शान्तामर्षविषयै (र्नर्षविषै) सम पशु (पशु) गणैराकर्णित कर्णित,
तद्वत् सर्वविद प्रणष्टविपद पायादपूर्व वच॥३॥"

इन प्रशस्तिश्लोकोसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दि-सैद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि सैद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अत क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र है इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती जुलती है।

† आत्मानुशासनतिलककी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मगल और प्रशस्ति इस प्रकार है—

मगल— "वीर प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमह प्रवर प्रवक्ष्ये॥

प्रशस्ति—"मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदय निर्मलम्। भव्यार्थं परम प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तै प्रसन्नै पदै।
व्याख्यान वरमात्मशासनमिद व्यामोहविच्छेदत। सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यल चिन्त्यताम्॥१॥

इति श्री आत्मानुशासन (न) तिलक (क) प्रभाचन्द्राचार्यविरचित (त) सम्पूर्णम्।

न्यायकुमुदचन्द्रद्वितीयभागस्य विषयानुक्रमः

इति षष्ठ प्रवचनपरिच्छेद

स्त्रीमुक्तिवादः ८६५

(शाकटायनस्य सितपटानाञ्च पूर्वपक्ष)





श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥

(द्वितीयो विभागः)

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-ऐतिह्यतुलनार्थबोधकटिप्पणी-परिशिष्टाद्यशुभी राजितः]



"श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥"

—शुभचन्द्रः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्या य कु मु द च न्द्रः ॥



[द्वितीयो भागः]



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षं प्रतिपाद्य लक्षणफलस्वार्थान्वितं तत्त्वतः,
स्पष्टार्थप्रतिपत्तिशून्यमधुना व्याख्यायते तच्छ्रुतम् ।
प्रामाण्यं पुनरस्य यैस्तु कुमतध्वान्ताभिभूतेक्षणैः,
नेष्टं तैर्ननु विप्रकृष्टविषयज्ञानाय दत्तं जलम् ॥१॥

अथेदानीं परोक्षस्वरूपप्ररूपणायाह–

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिकम् ॥१०॥
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

नमता विद्यानन्दिनमैतिह्याद्यैर्विभूष्य सस्क्रियते ।
न्यायकुमुदचन्द्रोत्तरभाग सम्यड् महेन्द्रेण ॥१॥

(१) अस्पष्टम् । (२) श्रुतस्य । (३) निश्चयेन । (४) अतीन्द्रियज्ञानाय । (५) अनया कारिकया 'मतिः स्मृति सज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' [तत्त्वार्थसू० १।१३] इति सूत्रार्थ समन्वेति । तुलना–"मतिस्मृत्यादय शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्तीत्येकान्तो न यतस्तत्र-सकीर्येरन् । तदेकान्ते पुनर्न क्वचित् स्यु. तन्नामस्मृतेरयोगात्, अनवस्थानादे· ।" –सिद्धिवि० पृ० १०० A । अनन्तवीर्यविद्यानन्दाभयदेवाद्याचार्याभिप्रायेण शब्दयोजनात् प्राक्कालभाविना मतिस्मृत्यादीना मतिज्ञानेऽन्तर्भाव. तदुत्तरकालभाविना तु तेषा श्रुतेऽन्तर्भाव इति । तथा च तेषा ग्रन्था –"ननु मत्यादिक सर्वमभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्येति इति शब्दश्रुत एवान्तर्भावोऽस्य, तथा च तच्चिन्तने एवास्य चिन्ता भविष्यतीति पृथगिह चिन्तनमनर्थकमिति चेदत्राह–'शब्दयोजनम्' इत्यादि । मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न भवन्ति किन्तु तद्योजने सति भवन्ति इत्येवमेकान्तो न, यत एव एकान्तात् तत्र अन्तर्भाव्येरन् इत्यर्थ. । यत इति वा आक्षेपे नैव संकीर्येरन् । विपक्षे वाधकमाह–तदेकान्त इत्यादि । स चासौ एकान्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणे पुन. न क्वचित् वहिरन्तर्वा स्यु मतिस्मृत्यादय. । कुत एतदित्यत्राह–तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्नो योजनात् मतिस्मृत्यादय· तत् तन्नाम इत्युच्यते तस्य स्मृतेरयोगात् ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० १०० A. । "संप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलकग्रन्थमनुवादपुरस्सरं

---

1 कुमति–आ०, व० । 2 वाभिनि–व० । 3–बोधकम् व०, श्र०, –बोधनम् मु० लघी० ।

विवृतिः–[१]अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा, स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य, संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य, चिन्ताऽभिनिबोधस्यानुमानादेः । [२]प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ।

यत् प्रथमकारिकायां **शेषम्** अविशदं[1] ज्ञानमित्युक्तम्, तत् किम् ? § **श्रुतम्** अविस्पष्टतर्कणम् § "*श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्*[३]" [ ] इत्यभिधानात् । किं यत् नामयोजनाज्जायते[2]ऽविशदं ज्ञानं तदेव श्रुतम्, उतान्यदपि ? इत्याह–

कारिकाव्याख्यानम्–

प्राङ् नामयोजनात् । नाम्नः अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोजना[3]जनितार्थाऽस्पष्टज्ञानसाधर्म्यादित्यभिप्रायः । **'चिन्ता च'** इत्यत्र चशब्दो भिन्नप्रक्रमः **'शब्दानुयोजनात्'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु 'शब्दानुयोजनाच्च यदुप-

---

विचारयति–अत्र प्रचक्षते केचिच्छ्रुत शब्दानुयोजनात् । तत्पूर्वनियमाद्युक्त नान्यथेष्टविरोधतः ॥ शब्दानुयोजनादेव श्रुत हि यदि कथ्यते । तदा श्रोत्रमतिज्ञान न स्यान्नान्यमतौ भवम् ॥ यद्यपेक्षवचस्तेषा श्रुत साव्यवहारिकम् । स्वेष्टस्य बाधन न स्यादिति सप्रतिपद्यते ॥ 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' । इत्येकान्त निराकर्तुं तथोक्त तैरिहेति वा ॥ ज्ञानमाद्य स्मृति सज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् । प्राग्नामससृत शेष श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ अत्राकलङ्कदेवा· प्राहु –ज्ञानमाद्य स्मृतिः ··· तत्रेदं विचार्यते–मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यन्ताच्छेषं श्रुत शब्दानुयोजनादेवेत्यवधारणम्, श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमः तदा न कश्चिद्विरोध, शब्दससृष्टज्ञानस्य अश्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात् । अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमः, तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुत न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धान्तविरोध. स्यात् । साव्यवहारिक शाब्द ज्ञान श्रुतमित्यपेक्षया तथानियमे तु नेष्टबाधाऽस्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थतोऽभ्युपगमात् स्वसमयप्रतिपत्ते. । अथवा 'न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥' इत्येकान्त निराकर्तु प्राग्नामयोजनादाद्यमिष्ट न तु तन्नामससृष्टमिति व्याख्यानमाकलकमनुसर्त्तव्यम् । (पृ० २३९-४०) शब्दानुयोजनात्त्वेषा श्रुतमस्त्वक्षवित्तिवत् । सभवाभावसवित्तिरर्थापत्तिस्तथानुमा ॥ नामाससृष्टरूपा हि मतिरेषा प्रकीर्तिता । नात कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादामृतभोगिनाम् ॥" **–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ ।** "अत्र च यत् शब्दसयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसयोजनात् प्रादुर्भूत तु सर्व श्रुतमिति विभागः ।" **–सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B ।**

(१) तुलना–"धारणास्वरूपा च मतिःअविसवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम्, स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसज्ञाफलजनकत्वात्, सज्ञापि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्, चिन्तापि अनुमानलक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हानादिबुद्धिजनकत्वात् ।" **–सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B ।** (२) तुलना–"प्राक् शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेतत् शेषमनेकप्रभेद शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं ज्ञान श्रुतमिति केचित्" **–सन्मति० टी० पृ० ५५३ । षड्द० बृह० पृ० ८४ B** (३) उद्धृतमिदम्–**सिद्धिवि० टी० पृ० १०१ B** तुलना–"मतिपूर्वं ततो ज्ञेय श्रुतमस्पष्टतर्कणम् ।"**–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३७। न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B ।**

1–**शदज्ञान**–श्र० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०, श्र० । 2–**तेवि**–आ०, ब०, श्र० । 3–**योजनाज्जनि**–श्र० ।

जायते तदपि श्रुतम्' इति संगृहीतं भवति । किं तद् ? इत्याह–'**संज्ञा**' इत्यादि । '**चिन्ता च**' इत्यत्र च[1]शब्द. पुनर्भिन्नप्रक्रमः '**मतिः**' इत्यस्यानन्तर स्मृतिसमुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । तेन स्मृत्याद्यविश[2]दं ज्ञान श्रुतमित्युक्त भवति । इन्द्रियप्र[3]भव मतिज्ञान तु देशतो वैशद्यसंभवात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमित्युक्तम् । तस्य श्रुतस्य किं कारणम् ? इत्याह–**ज्ञानमाद्यं** कारणम् । किन्नाम ? इत्याह–'**मतिः**' इति । नचागमविरोध., "*मतिपूर्वं श्रुतम्*" [तत्त्वार्थसू० १।२०] इत्यभिधानात् । '**पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरम्**' [लघी० का० ७] इत्यनेन अधिकां कारिकां कृत्वा व्याचष्टे–'**अविसंवाद**' इत्यादिना । न विद्यते **विसंवादो** यस्याः सा चासौ **स्मृतिश्च** तस्याः । कथम्भूतायाः ? **फलस्य** फलभूतायाः **हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा** संस्कारः ।

स्मरणस्य अप्रामाण्यवादिना बौद्धादीनां पूर्वपक्षः–

[१]ननु स्मृतेः स्वरूपतो विषयतश्च विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः कस्याऽविसंवाद' प्रार्थ्येत, तथाहि–स्मृतिशब्दवा[4]च्यस्यार्थस्य स्वरूपं ज्ञाता, ज्ञानं वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञातु. कस्यचिदप्यसंभवात् । द्वितीयपक्षेऽपि [२]ज्ञानमात्रम्, अनुभूतविषयं वा ज्ञानं [३]तच्छब्दवाच्यं स्यात् ? प्रथमविकल्पे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिरूपताप्रसङ्गात् [४]तद्व्यतिरिक्तप्रत्यक्षादिप्रमाणभेदवार्त्तोच्छेदः स्यात् । द्वितीयविकल्पेऽपि देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तप्रत्यक्षादिज्ञानस्य स्मृतित्वप्रसक्तिः । अथ येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे तस्यैव त[5]त्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिरित्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, धारावाहिप्रत्यक्षस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गात्, उक्तप्रक्रियायास्त[६]त्राप्यविकलत्वात् ।

किञ्च, 'अनुभूते[७] जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयते–अनुभवेन, स्मृत्या, उभाभ्यां वा ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवाऽसभवात् । नचाऽसती विषयीकर्तुं शक्या, अतिप्रसङ्गात् । यद् असन्न तत् विषयीकर्तुं शक्य यथा खरविषाणम्, असती च अनुभवकाले स्मृतिरिति । नचाऽविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इति प्रत्येतुं शक्याऽतिप्रसक्तेरेव । यद् यत्र येन न विषयीक्रियते न तस्य 'त[5]त्तत्रोपजायते' इति प्रतीतिर्युक्ता यथा सुप्तेनाऽविषयीकृते नीलसुखादिविषये जाग्रत्पुरुषप्रत्यये, अनुभवेनाऽविषयीकृता च अतीतार्थे स्मृतिरिति । तन्न अनुभवात्तथाप्रतीति. । नापि स्मृतेः, [९]अनुभवाऽर्थयोर-

(१) यौग प्राह–आ० टि० । (२) तुलना–"ननु कोऽय स्मृतिशब्दवाच्योऽर्थ ज्ञानमात्रम्, अनुभूतार्थविषय वा विज्ञानम् ?"–प्रमेयक० पृ० ३३६ । (३) स्मृतिशब्द–आ० टि० । (४) स्मृति–आ० टि० । (५) अनुभूतेऽर्थे–आ० टि० । (६) धारावाहिकप्रत्यक्षेऽपि । (७) तुलना–"ननु अनुभूते जायमानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात् ..."–प्रमेयक० पृ० ३३६ । (८) प्रत्यक्षेण –आ० टि० । (९) तुलना–"अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात् ।" –प्रमेयक० पृ० ३३६।

1 'च' नास्ति आ०, श्र० । 2–शदज्ञान आ०, श्र० । 3–प्रभवमति–ब० । 4–वाच्यार्थं–ब० । 5 तत्रो–ब०, श्र० ।

विषयीकरणे 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इत्य[1]नया प्रत्येतुमशक्यत्वात् । यदि च अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तदा स्मृतिरपि जानीयात् 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इति, अनुभवानुसारित्वात्तस्याः । नचा[2]सौ प्रत्यक्षगम्या, अनुभूयमानतामात्र एव [3]अस्य पर्यवसानात् । तन्न स्मृत्यापि [4]तत्प्रतीतिः । नाप्यु[5]भाभ्याम्, उभयपक्षनिक्षिप्तदूषणप्रसङ्गात् । तन्न स्मृतिः स्वरूपतो विचार्यमाणाऽवतिष्ठते ।

नापि विषयतः, तस्या हि विषयः अर्थमात्रम्, अनुभूतताविशिष्टो वाऽर्थः ? न तावदर्थमात्रम्, सकलप्रमाणानां स्मृतित्वप्रसङ्गात् । नाप्यनुभूतताविशिष्टः; देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च स्मृतित्वप्रसङ्गापादनात् । अनुभूतार्थविषयत्वे चास्याः प्रामाण्यन्न स्यात् अविद्यमानविषयत्वात् । यदविद्यमानविषयं न तत् प्रमाणम् यथा खे केशपाशज्ञानम्, अविद्यमानविषयञ्च अनुभूतार्थविषयतयाऽभिप्रेतं स्मरणज्ञानमिति । [6]तथाविधस्याप्यस्य प्रामाण्ये अतिप्रसङ्गः ।

किञ्च, अर्थक्रियार्थिनाम[7]र्थक्रियासमर्थार्थप्रापकं प्रमाणं प्रसिद्धम् । न च स्मृतौ असदर्थविषयत्वेन [8]एतत्संभवति, अतः कथमसौ प्रमाणमिति ?

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[9]–'ज्ञाता ज्ञानं वा' इत्यादि, तदसमीचीनम्,

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं स्मरणस्य पृथक् प्रामाण्यव्यवस्थापनम्–

ज्ञानस्यैव स्मृतिशब्दवाच्यत्वप्रतिज्ञानात् । नचैवं सर्वस्य ज्ञानस्य स्मृतित्वमनुषज्यते, स्मृतित्वस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्तत्वाभावात् । [2]ज्ञानविशेष एव हि संस्कारविशेषप्रभवः तदित्याकारोऽनुभूतार्थविषयः स्मृ[10]तिरित्युच्यते । स च इतरज्ञानेभ्यः कारणस्वरूपविषयभेदाद् भिद्यते । तत्र कारणभेद.–

(१) स्मृत्या। (२) अनुभूतता –आ० टि०। (३) प्रत्यक्षस्य । (४) 'अनुभूते जायमानम्' इति प्रतीति । (५) स्मृतिप्रत्यक्षाभ्याम् । (६) अविद्यमानविषयस्यापि स्मरणस्य । (७) तुलना–"लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् सवादक उच्यते, तद्वज्ज्ञानमपि स्वय प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्सवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्व नान्यत् । तथाहि– न ज्ञान जनयदर्थं प्रापयति अपि त्वर्थे पुरुष प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव, न हि पुरुष हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् अर्थक्रियार्थिभिश्चार्थक्रियासमर्थार्थप्राप्तिनिमित्त ज्ञानं मृग्यते । यच्च तैर्मृग्यते तदेव तेन शास्त्रे विचार्यते । ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शक सम्यग्ज्ञानम् ।"–न्यायबिन्दुटी० पृ० ५–६ । (८) अर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वम् (९) पृ०४०५ प०११। (१०) तुलना–"आत्मन. सयोगविशेषात् सस्काराच्च स्मृति ।"–**वैशे० सू० ९।२।६।** "अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोष स्मृति ।"–**योगसू० १।११। साख्यतत्त्वालो० पृ० १६ ।** "लिंगदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसो संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च सस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ।" –**प्रश० भा० पृ० २५६।** "प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुसन्धानविषय प्रत्यय स्मृति ।"–**न्यायवा० पृ० ३६६, ४३१।** "स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृश विज्ञान पूर्वविज्ञानविषय वा स्मृतिरित्युच्यते ।"–**शाबरभा० पृ० ६५।** "स्मृति पुनः पूर्वविज्ञानसस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ।"–**प्रकरण प० पृ० ४२। तन्त्ररह० पृ० २।** "स्मृतिश्च सस्कारमात्रज ज्ञानमभिधीयते ।" –**शास्त्रदी० पृ० १५३।** "स्मरणं स्मृतिः" –सर्वा-

1–षणगणप्र–श्र० । 2 ज्ञानविषय एव आ० ।

स्मृतेः पटुतरसंस्कारकारणकत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च चक्षुरादिहेतुकत्वात्। स्वरूपभेदः— स्मृतेः तदित्युल्लेखित्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च [1]ईदमित्याद्युल्लेखित्वात्। विषयभेदोऽपि— स्मृतेः अनुभूतार्थगोचरत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च वर्त्तमानाद्यर्थविषयत्वात्।

यदप्युक्तम्[२]—'अनुभूते स्मृतिरित्येतन्नानुभवेन स्मृत्योभाभ्यां वा प्रतीयते' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा तत्प्रतीतेः कर्त्तुं शक्यत्वात्। पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तो न कश्चित् प्रमाता, इत्यप्ययुक्तम्, [३]तद्व्यतिरिक्तस्यास्य सन्तान-निषेधावसरे[४] प्रपञ्चतः प्रसाधितत्वात्। [५]नन्वेवं [2]प्रमातुः प्रत्यक्षेण अर्थेऽनुभूयमानतानुभवे[3] अनुभूतताऽनुभवोऽपि स्यात् [६]तत्सद्भावाऽविशेषात्, तथाच [4]गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेर्न प्रामाण्यम्, इत्यप्यसत्, अतीतकालनिबन्धनतया अनुभूयमानताकाले अनुभूततायाः संभवाभावात्, प्रमातृसद्भावमात्रस्य [७]तत्प्रतिपत्तिं प्रत्यनङ्गत्वाच्च। स्मृतिसहायो हि प्रमाता अर्थेऽनुभूततां प्रतिपद्यते, प्रत्यक्षसहायस्तु अनुभूयमानतामिति।

एवं कारण-स्वरूप-विषयभेदेन अध्यक्षादिभ्यः स्मृतेर्भेदसंभवेऽपि अप्रामाण्ये कारणं वक्तव्यम्—[८]तच्च गृहीतग्राहित्वम्[९], परिच्छित्तिविशेषाभावः, अ[5]सत्यतीतार्थे प्रवर्त्त-

र्थसि० १।१३। "तैरेवेन्द्रियैर्य परिच्छिन्नो विषयो रूपादिस्तं यत् कालान्तरेण विनष्टमपि स्मरति तत् स्मृतिज्ञानम्। अतीतवस्त्वालम्बनमेककर्तृक चैतन्यपरिणतिस्वभाव मनोज्ञानमिति यावत्।"—**तत्त्वार्थभाष्यव्या० १।१३।** "सस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिरिति" —**परीक्षामु० ३।३। प्रमाणमी० १।२।३।** "तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृति "—**प्रमाणप० पृ० ६९।** "स्मृतिश्च वितर्कलक्षणा।"—**जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९९।** "तत्र सस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषय तदित्याकारं सवेदनं स्मरणम्।"—**प्रमाणनय० ३।१। षड्द० बृह० पृ० ८४ B।** "अनुभवमात्रजन्यं ज्ञान स्मरणम्।" —**जैनतर्कभा० पृ० ८।**

(१) तुलना—"प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्वन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।" —**न्यायसू० ३।२।४३।** (२) **पृ० ४०५ प० १९।** (३) पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य प्रमातुः। (४) **पृ० ९—।** (५) तुलना—"न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे " —**प्रमेयक० पृ० ३३६।** (६) प्रमातृसद्भाव। (७) अनुभूतताप्रतिपत्तिम्। (८) तुलना—"अमुष्याप्रामाण्य कुतोऽयमाविष्कुर्वीत—किं गृहीतार्थग्राहित्वात्, परिच्छित्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसवादकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद्वा?"—**स्या० र० पृ० ४८६।** (९) "पारतन्त्र्यात्स्वतो नैषा प्रमाणत्वावधारणा। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते॥ पूर्वविज्ञानविषय विज्ञान स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्या प्रामाण्य नावधार्यते॥"—**तन्त्रवा० १।३।१।** "तत्र यत्पूर्वविज्ञान तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थापनमात्रेण स्मृते स्याच्चरितार्थता॥"—**मी० श्लो० पृ० ३९६।** "प्रमिते च प्रवृत्तत्वात्स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता।"—**मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १०४।** "गृहीतग्रहणान्नेष्ट सावृत "—**प्रमाणवा० १।५।** "यद् गृहीतग्राहि न तत्प्रमाण यथा स्मृतिः।"—**तत्त्वस० पं० पृ० ३८८।** "न प्रमाणं स्मृति पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्। स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राची

1 इदमित्युल्ले—श्र०। 2 प्रमात्रा श्र०। 3—भवेऽनुभवोऽपि आ०। 4 गृहीतार्थग्रा—ब०। 5—त्यतीतेऽर्थे ब०।

मानत्वम्[१], [1]अर्थादनुत्पद्यमानत्वम्[२], विसंवादकत्वम्[३], समारोपाव्यवच्छेदकत्वम्, प्रयोजनाँप्रसाधकत्वं वा स्यात् ? [४]प्रथमपक्षे कस्य गृहीतस्यार्थस्य स्मृत्या ग्रहणम्–ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य, ज्ञानविशिष्टस्य ज्ञेयस्य, [५]तद्विशिष्टस्य वा ज्ञानस्य ? न तावज्ज्ञानस्य; [६]तद्व्यतिरिक्त[2]ज्ञेयस्य स्मृतौ प्रतिभासनात् । अथ ज्ञेयस्य, अस्तु नामैतत्, तथापि अधिगतार्थाधिगममात्रेण स्मृतेर्नाऽप्रामाण्यम्, [७]अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ तदुत्तरकालभाविनोऽध्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्, प्रत्यभिज्ञानाऽनुमानयोरपि केनचिदंशेन अधिगतार्थाधि[4]गमसंभवेन अप्रामा[5]ण्यप्रसङ्गाच्च । [6]अथ अधिगतार्थाधिगमेऽप्यत्र अ[7]पूर्वस्याप्यर्थांशस्याऽधिगमसंभवात् प्रामाण्यम्; कथमेवं स्मृतेरप्रामाण्यं तत्रापि हि वर्त्तमानकालावच्छेदेनाऽधिगतस्यार्थस्य अतीतकालावच्छेदेनाऽधिगतेरपूर्वार्थांशाधिगमोपपत्तेः ? प्रयोगः-स्मृतिः प्रमाणम्, [९]प्रमाणान्तरप्रति-

प्रतीतिमनुरुद्धयमाना न स्वातन्त्र्येणार्थं परिच्छिनत्तीति न प्रमाणम् ।" –प्रकरणप० पृ० ४२। तन्त्ररह० पृ० २। "न च स्मृतिः प्रमा, लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थसम्बन्धः। लोकश्च सस्कारमात्रजन्मनः स्मृतेरन्यामुपलब्धिमर्थाव्यभिचारिणी प्रमामाचष्टे ।"–न्यायवा० ता० पृ० २१। न्यायकुसु० ४।१। "अत एव न प्रमाणं तस्या पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनेनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात् ।" –प्रश० कन्द० पृ० २५७। (१०) "एतदुक्त भवति–सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति तद्विषया वा तदूनविषया वा नतु तदधिकविषया ।"–योगसू० तत्त्ववै० १।११।

(१) जैनतर्कवार्तिककारा हि अर्थाविनाभावाभावात्स्मरणस्याप्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति, तथाहि–"एव मन्यते वार्तिककारः–अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतेः अर्थमन्तरेणापि तस्या भावात् । प्रत्यक्षादेस्तु अव्यभिचारनिमित्ताभिधानात् कस्यचिद् व्यभिचारेऽपि न दोषः, नत्वेव स्मृतेरव्यभिचारनिमित्तमस्ति । अमूढस्मृतेस्तु पूर्वप्रत्यक्षफलत्वान्न पृथक् प्रामाण्यम् ।"–जैनतर्कवा० वृ०पृ० ९९। (२) "नार्थाद् भावस्तदाऽभावात् "–प्रमाणवा० २।३७५। "अनुभवादुत्पद्यमाना स्मृतिरर्थमन्तरेण भवन्ती कथ नीलाद्याकारा ?"–प्रमाणवार्तिकाल०, मनोरथ० २।३७५। "अथार्थजत्वमेव स्मृतेः कस्मान्नेष्यते ? अर्थविनाशेप्युत्पादात् । नच यद्देशकालालिङ्गितेऽनुभवज्ञानमुत्पन्नं तदालम्बनमेव न्याय्यम् । स्मृतिकाले तस्याविद्यमानतया विषयत्वाभावात् । वाह्येन्द्रियाणा च स्मृतिजन्मनि प्रत्येक व्यभिचारादन्तःकरणस्य व्यापारो निश्चीयते । न च तस्य स्वातन्त्र्येण बहिर्विषये व्यापारः सम्भवतीत्यनर्थजत्वमेव न्याय्यम् तस्मान्निर्विपयत्वमेव ।" –प्रश० व्यो० पृ० ६२१। "न स्मृतेरप्रमाणत्व गृहीतग्राहिताकृतम् । अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ।। ननु कथमनर्थजा स्मृतिः ? तदारूढस्य वस्तुनस्तदानीमसत्त्वात् ।" –न्यायम० पृ० २३। (३) "कस्मात् स्मरणज्ञानमप्रमाणमिति चेत् ? रज्जुसर्पादिज्ञानवत् भ्रान्तत्वादिति ब्रूम. ।"–न्यायसारटी० पृ० ६८। (४) तुलना–"गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता । धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैव लभ्येत केन सा ।। विशिष्टस्योपयोगस्याभावे सापि चेन्मता । तदभावे स्मरणेऽप्यक्षज्ञानवन्मानतास्तु नः ।। स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च वाध्यते । येन प्रेक्षावता तस्याः प्रवृत्तिर्विनिवार्यते ।।" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८९। (५) ज्ञेयविशिष्टस्य–आ० टि०। (६) ज्ञानव्यतिरिक्त। (७) तुलना–"अनुमानेनाधिगते वह्नौ तदुत्तरकालभाविन प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् ·"–स्या० र० पृ० ४८६। प्रमेयक० पृ० ३३७। (८) प्रत्यभिज्ञानानुमानयोः। (९) प्रत्यक्षादि।

1 अर्थाद्यनु–ब० । 2–नासाव–ब० । 3–रिक्तस्य ज्ञेयस्य श्र० । 4–धिगमप्रभवेन आ०, श्र०। 5–ण्यानुषङ्गाच्च ब० । 6 अथ अर्थाधिगमे–आ०, श्र० । 7–पूर्वांशाधि–ब० ।

पन्नेऽप्यर्थे केनचिदंशेनाऽपूर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यद्यत्तथाविधं तत्तत्प्रमाणम् यथा अनुमानाधिगतार्थे प्रत्यक्षादि, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति ।

एतेन[१] ज्ञानविशिष्टज्ञेयपक्षोऽप्यपास्तः; अशतः प्रामाण्यस्य[1] अत्राप्युपपत्तेः । किञ्चेदं ज्ञेयस्य ज्ञानविशिष्टत्वं नाम–तत्र संयोगः, समवायः[2], विशेषणीभावो वा ? तत्र आद्यपक्षद्वयमनुपपन्नम्, ज्ञेये ज्ञानस्याऽद्रव्यतया संयोगाऽसम्भवात्[3], आत्मनि[4] समवेततया च समवायस्याप्यनुपपत्तेः[5] । तदभावे[२] विशेषणीभावोऽपि दुर्घटः, तस्य तत्पूर्वकत्वात्[३] । न खलु दण्डपुरुषादौ सयोगादिसम्बन्धानपेक्षस्तद्भावो[४] दृष्टः । ज्ञेयविशिष्टज्ञानपक्षस्तु न युक्तः, तत्प्रतिभासस्य[५] स्मृतौ स्वप्नेऽप्यसंभवात् । नहि ज्ञान निर्विशेषणं सविशेषण[6] वा स्मृतौ[7] प्रतिभासमानं केनचिदिष्टम्, बहिर्वस्तुन एव तत्र प्रतिप्राणि प्रतिभासप्रतीतेः । तन्न गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम् ।

नापि परिच्छित्तिविशेषाभावात्, निहित[६]मन्त्रिताधीतादौ तस्यास्तद्विशेष[७]सद्भावात् ।

नाप्यसत्यतीतार्थे[8] प्रवर्त्तमानत्वात्, यतो[८]ऽतीतस्याऽर्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ? न तावत् स्वकाले, तदा[९] तस्य विद्यमानत्वात् । स्मृतिकाले तु तद्ग्राह्यस्या[१०]ऽसत्त्व[9] नाऽप्रामाण्य प्रत्यङ्गम्, प्रत्यक्षस्यापि अप्रामाण्यप्रसक्तेः, तत्काले[११] तद्ग्राह्यस्याप्यसत्त्वाऽविशेषात् । नहि प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थः प्रत्यक्षकाले सौगतैः सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते ।

"भिन्नकाल[१२] कथ ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्[10] ॥" [प्रमाणवा० २।२४७]

इत्यस्य विरोधाऽनुषङ्गात् । अतः प्रत्यक्षस्याप्यसति प्रवर्त्तनादप्रामाण्यं स्यात् ।

---

(१) ज्ञेयपक्षनिराकरणेन । (२) संयोगसमवायाद्यभावे । (३) सम्बन्ध । (४) विशेषणीभाव । (५) ज्ञेयविशिष्टज्ञानप्रतिभासस्य । (६) तुलना–"निहितमन्त्रिताधीतादौ हानोपादानहेता. परिच्छित्तिविशेषस्य स्मरणे सद्भावात् ।"–स्या० र० पृ० ४८७ । (७) परिच्छित्तिविशेष । (८) तुलना–"यतोऽतीतस्यार्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ?"–स्या० र० पृ० ४८७। (९) अतीतकाले। (१०) स्मृतिग्राह्यस्य । (११) प्रत्यक्षकाले प्रत्यक्षग्राह्यस्यापि । (१२) व्याख्या–"' • युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् । =प्राग्भावित्वाद् भिन्नकाल वस्तु कथ ग्राह्यमिति चेत् ? हेतुत्वमेव ज्ञाने आकारस्य स्वानुरूपस्य अर्पणक्षम ग्राह्यता युक्तिज्ञा विदु । न हि सन्दशायोगोलयोरिव ज्ञानपदार्थयो ग्राह्यग्राहकभाव । कथन्तर्हि ? यदाकारमनुकरोति तत् ग्राह्यस्य ग्राहकमित्युच्यते ।" –प्रमाणवा० मनोरथ० २।२४७ । निम्नग्रन्थेषु समुद्धृतेयम्–'हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञाना '–न्यायवा० ता० पृ० १५३। विधिवि० टी० पृ० १९८। स्फोटसि० टी० पृ० २३३। 'हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाका ' 'सर्वद० पृ० ३६। 'ज्ञानाकारार्पणक्षमम्'–अद्वयवज्रस० पृ० १७। प्रमाणमी० पृ० २०। प्रकृतपाठ –न्यायवि० वि० पृ० १३५ B । स्या० र० पृ० ४८७। प्रमेयर० २।७ ।

---

1 प्रमाणस्य आ०, श्र० । 2–वायो वा विशे–श्र० । 3–योगाभावात् ब०, श्र० । 4 आत्मसमवे–श्र० । 5–वायस्यानुप–ब० । 6 'सविशेषण' नास्ति ब० । 7 स्मृतिभासमा–श्र० । 8–सत्यतीतार्थप्र–आ० । 9–सत्त्वं वा ना–श्र० । 10–णक्षणम् श्र० ।

अर्था[1]दनुत्पद्यमानत्वञ्च अध्यक्षेऽप्यविशिष्टम्, ज्ञानं प्रति अर्थे कारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् ।

विसंवादकत्वञ्च स्मृतेरसिद्धम्; स्वप्रतिपन्नेऽर्थे अ[2]विसंवादकत्वात्तस्याः। यद्यत्राऽविसंवादकं तत्तत्र प्रमाणम् यथा प्रत्यक्षाद्यर्थे प्रत्यक्षादि,अविसंवादिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति। अ[3]विसंवादो हि गृहीते[1]ऽर्थे प्राप्तिः, प्रमाणान्तर[2]वृत्तिर्वा स्यात् । स द्विविधोऽपि स्मृ[4]तिप्रतिपन्ने स्वयंधृतद्रव्याद्यर्थेऽस्त्येव। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाद्याभासवत् ।

समारोपाव्यवच्छेदकत्वान्न स्मृतिः प्रमाणम् , इत्यप्यसमीचीनम्, तद्गृहीतेऽर्थे विपरीतारोपाननुप्रवेशतः त[5]द्व्यवच्छेदसंभवात् । यत् समारोपव्यवच्छेदकं तत् प्रमाणम् यथा अनुमानम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति ।

प्रयोजना[3]प्रसाधकत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम्, इत्यप्यसुन्दरम्, अनुमानप्रवृत्तिलक्षणस्य त[6]त्साध्यप्रयोजनस्य सद्भावात्। त[7]द्धि सा[8]ध्यप्रतिबद्धाद्धेतोः प्रवर्त्तते। साध्य[9]प्रतिबन्धश्च सत्तामात्रेण त[10]त्प्रवृत्तेरङ्गम्, परिज्ञातः सन्, स्मृ[11]तिक्रोडीकृतो वा ? प्रथमपक्षे ना[12]लिकेरद्वीपायातस्य अप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु

(१) तुलना–"अर्थादनुत्पद्यमानत्वञ्च स्मरणस्यासिद्धम्, स्वविषयभूतादर्थादुत्पद्यमानत्वात् ।" **–स्या० र० पृ० ४८७।** (२) तुलना–"प्रमाणमविसंवादात् मिथ्या तद्विपर्ययात् । गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः ॥ प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमविसवादात् न पुनरर्थानुकारितयाऽतिप्रसगात् । स पुनरनुभूतस्मृतेर्यदि स्यात् प्रामाण्य लक्षयति। सविकल्पेऽनधिगतार्थव्यवसायाभावादयुक्तमिति चेन्न, प्रयोजनविशेषात्, क्वचित्तादृशाकारभेदाना तथैव प्रामाण्याविरोधात्।अन्यथा कालादिभेदेन अनधिगतार्थाधिगतेरपि अन्यत प्रमाणताऽनभ्युपगमात् । साकल्येनादितो व्याप्तिः पूर्वं चेल्लिङ्गलिङ्गिनो । अनुमेयस्मृतिः सिद्धा न प्रमाणविशेषवत् ॥"**–सिद्धिवि०, टी० पृ० १४६ B प्रमाणसं पृ० ९९ ।** "सा च प्रमाणमविसंवादकत्वात् प्रत्यक्षवत् ।"**–प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३३७। सन्मति० टी० पृ० ५५३। स्या० र० पृ०४८७। प्रमेयर० पृ० ३१ । प्रमाणमी० पृ० ३३ ।न्यायदी० पृ० १७। जैनतर्कभा० पृ० ९।** (३) "अर्थक्रियास्थितिरविसवादनम्"**–प्रमाणवा० १।३।** "अविसंवादश्च अर्थादुत्पत्ते अर्थाव्यभिचारत ।"**–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० २७३।** "स चाविसंवादोऽर्थक्रियालक्षण एव।"**–तत्त्वसं प० पृ०७७८।** "अविसवादित्वञ्च अभिमतार्थक्रियासमर्थार्थप्रापणशक्तिकत्व न तु प्रापणमेव प्रतिबन्धादिसम्भवात।"**–तत्त्वस० प० पृ० ३९२ ।** (४) तुलना–"तस्याश्च प्रामाण्य युक्तम्, न हि तयाऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियाया विसंवाद्यते ।"**–सिद्धिवि०, टी० पृ० ३४ A. प्रमेयक० पृ० ३३७। स्या० र० पृ० ४८७।** (५) "समारोपव्यवच्छेद सम स्मृत्यनुमानत । स्वार्थे प्रमाणता तेन नैकत्रापि निवार्यते ॥"**–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८९। प्रमेयक० पृ० ३३८। स्या० र० पृ० ४८७।** (६) स्मृतिसाध्य । (७) अनुमानं हि । (८) साध्याविनाभाविन । (९) अविनाभावसम्बन्ध । तुलना–"लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतु , तद्दर्शनात्, तत्स्मरणाद्वा ?"**–प्रमेयक० पृ० ३३८।** "साध्यप्रतिबन्धश्च हेता सत्तामात्रेण अनुमानप्रवृत्तेरङ्गम्, परिज्ञातो वा, स्मृतिकोटीकृतो वा ?"**–स्या० र० पृ० ४८८।** (१०) अनुमानप्रवृत्ते । (११) स्मृतिविपयीकृत । (१२) एतद्द्वीपवासिनो हि नालिकेरफलमत्त्वा तज्जलञ्च निपीय जीवन यापयन्ति, अतस्तै पाकार्थमुपयुक्तौ अग्निधूमौ न दृष्टचरौ।

1 गृहीतार्थे व० । 2–न्तरप्रवृ–व० । 3–नासाधक–आ०, श्र० ।

बालावस्थायां प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धावस्थायां विस्मृतत[1]त्सम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गः। तृतीयपक्षे तु कथं स्मृते प्रामाण्यप्रतिषेधः अ[2]नुमानप्रवृत्तेरङ्गत्वात्? य[1]दनुमानप्रवृत्तेरङ्गं तत्प्रमाण यथा प्रत्यक्षम्, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति। तदेवं स्मृतेः कारणस्वरूपविषयभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धेः, स्वविष[2]येऽविसंवादप्रसिद्धेश्च सूक्तम् –'**अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा**' इति। तथा **स्मृतिः** प्रमाणम् अविसंवादसंज्ञाया हेतुत्वात्। अस्याः पर्यायमाह–**प्रत्यवमर्शस्य** 'स एवायम्, तेन सदृशोऽयम्' इति वा एकत्वसादृश्याभ्यां पदार्थानां सङ्कलनं प्र[3]त्यवमर्शः।

विरुद्धधर्माध्यासात् कारणाभावाद्विषयाभावतश्च नास्ति प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्यमिति बौद्धस्य पूर्वपक्ष –

[4]ननु प्रमाणप्ररूपणावसरे प्रत्यभिज्ञायाः प्ररूपणमयुक्तम्, विरु[5]द्धधर्माध्यासतः कारणाभावा[3]च्च अस्याः स्वरूपस्यैवाऽसम्भवात्, विष[6]याभावतः प्रामाण्यानुपपत्तेश्च। तथाहि–पूर्वं[4] ज्ञातस्य पुनः कालान्तरे 'स एवायम्' इत्यादिज्ञानं प्रत्यभि[5]ज्ञा। न चास्या एकत्वं युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासात्, यत्र विरुद्धधर्माध्यासः न तत्रैक्यम् यथा जलानलादौ, विरुद्धधर्माध्यासश्च प्रत्यभिज्ञायामिति। न चायमसिद्धः, स्पष्टेतररूपाक्रान्ततया

(१) अग्निधूमसम्बन्ध। (२) तुलना–"को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्तां निराकुर्यात् अनुमानस्यापि निराकरणानुषङ्गात्।"–प्रमेयक० पृ० ३३८। स्या० र० पृ० ४८८। प्रमेयर० पृ० ३२। प्रमाणमी० पृ० ३४। स्या० म० पृ० २०८। रत्नाकरा० ३।४। (३) तुलना–"पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।" –न्यायभा० ३।२।२। "प्रत्यभिज्ञानं हि नाम आद्यप्रत्यक्षनिरोधे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम्।"–न्यायवा० पृ० ४००। "प्रत्यभिज्ञा नाम स्मर्यमाणानुभूयमानसामानाधिकरण्यग्राहिणी संस्कारसचिवेन्द्रियजन्या प्रतीतिरिति केचित्। अन्ये मन्यन्ते स्मर्यमाणपूर्वज्ञानविशेषितार्थग्राहित्वात् तद्विशेषणस्य चार्थस्य बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वानुपपत्तेः स्तम्भादावपि मानसी प्रत्यभिज्ञेति।"–न्यायम० पृ० २२४। एतन्मतद्वयमभिमतं मञ्जरीकारस्य, दृष्टव्यम्–न्यायम० पृ० ४६१। "प्रत्यभिज्ञा प्रति आभिमुख्येन ज्ञानम्। लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसन्धानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते।"–सर्वद० पृ० १९३। "सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा"–सर्वार्थसि० १।१३ "सञ्ज्ञाज्ञानं नाम यत्तैरेवेन्द्रियैरनुभूतमर्थं प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पूर्वाह्णे इति सञ्ज्ञाज्ञानमेतत्।"–तत्त्वार्थभा० व्या० १।१३। "दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।"–परीक्षामु० ३।५। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणमी० १।२।४। "अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।"–प्रमाणनय० ३।३। जैनतर्कभा० पृ० ९। (४) बौद्ध प्राह–आ० टि०। (५) "स एवायमिति प्रत्यय उत्पद्यमानो नैकत्वे प्रमाणम् एकत्वस्याग्रहणात् दृष्टस्यैव तस्य प्रतिपत्तेः। एकत्वं हि पूर्वेण सह गृह्यमाणमेकता विवादविषयता स्वीकरोति। वर्तमानतामात्रस्यैकत्वे सिद्धसाधनमेव। तच्च पूर्वं पूर्वप्रत्ययेन गृहीतत्वान्नापरम्। पूर्वप्रत्ययेन चासौ त्रुटयदवस्थ एव पूर्वतया च गृह्यते। ततः पुनरनुसन्धीयमानं यथाभूतं गृहीतं तथाभूतमेव वाऽनुसन्धातव्यम्। गृहीतत्वेन च ग्रहणे स्मरणमेतदिति गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमपरस्मरणवत्। नैवादस्त्वर्थक्रियाकरणात्। न चैकत्वसाध्यार्थक्रिया, वस्तुसामर्थ्यमात्रादुत्पत्तेः। तस्मात् 'स एवायम्' इति

1 यज्ज्ञानमनुमान–ब०। 2–षये वाऽविस–श्र०। 3–वाद्वास्या. श्र०। 4 पूर्वज्ञानस्य श्र०। 5–भिज्ञान नचा–ब०।

तत्र[१] तत्प्र[२]सि[1]द्धेः । तथाहि–'सः' इत्याकारः स्मरणरूपतया प्रत्यभिज्ञायामस्पष्टः, 'अयम्' इति चाध्यक्षरूपत्वात् स्पष्टः । न चात्र[३] स्पष्टे[2]तरलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेप्यभेदो युक्तः; प्रत्यक्षानुमानयोरप्यभेदप्रसक्तेः ।

किञ्च, 'स एवायम्' इत्याकारद्वयं किं तत्र[४] परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननुप्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षे अन्यतरा[५]कारस्यैव प्रतिभासः स्यात्, द्वितीयाकारस्य ततोऽविविक्तस्वरूपत्वात्, यद् यतोऽविविक्तस्वरूपं न तत्ततो भेदेन प्रतिभासते यथा तस्यैव स्वरूपम्, एकस्मादाकारादविविक्तस्वरूपञ्च द्वितीयाकारस्वरूपमिति । द्वितीयपक्षे तु परस्परविभिन्नप्रतिभासद्वयप्रसङ्गः, अन्योन्याननुप्रवेशेन आकारद्वयस्यावस्थानात्, ययोः अन्योन्याननुप्रवेशेन अवस्थानं तयोः परस्परविभिन्नप्रतिभासः यथा[3] रूपरसयोः, अन्योन्याननुप्रवेशेनाऽवस्थानञ्च 'स एवायम्' इत्याकारद्वयस्य इति । न च 'प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमेतत्' इत्यभिधातव्यम्; परोक्षापरोक्षाकारयोः प्रतिभासयोरेकाधिकरणत्वानुपपत्तेः, अन्यथा सर्वसंविदामेकाधिकरणत्वप्रसक्तेः पुरुषाद्वैतसिद्धिः स्यात् । ततो विरुद्धधर्माध्यासान्नैकमिदं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्[६] । अतः कथं प्रत्यभिज्ञानसंभवः ?

कारणाभावाच्च, तथाहि–तत्कारणम्[4] इन्द्रियम्, पूर्वानुभवजनितः संस्कारः, तदुभयं वा ? न तावदिन्द्रियम्, तस्य वर्त्तमानार्थावभासजनकत्वात् । नापि संस्कारः, तस्य स्मरणकारणत्वात् । नाप्युभयम्; उभयदोषानुषङ्गात् । न च कारणान्तरमुपलभ्यते । तन्न प्रत्यभिज्ञान[5]संभवः ।

प्रत्ययद्वयमेतत् ।"–**प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ५१**। "स इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते । अयमित्यनेन च वर्तमानकालसम्बन्धी । अनयोश्च भेदो न कथञ्चिदभेदो वर्तमानकालभाविरूपैकस्वभावत्वाद्वस्तुनः । तस्माद् भेद एव प्रत्यभिज्ञाने सति भासते इति कथमनेन क्षणिकत्वानुमानबाधा ? यद्वा वस्तुनः पूर्वकालसम्बन्धित्वमिदानीमसदेव पूर्वकालाभावात् । सत्त्वे वास्य वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वमेव स्यान्न पूर्वकालसम्बन्धित्व विरोधादित्युक्तम् । तस्मात्पूर्वकालसम्बन्धित्वस्यासतो ग्राहक स इति ज्ञानांशो भ्रान्त, अन्यथा वस्तुन स्पष्टबालाद्यवस्थाग्राहक स्यात्, न च भवति । तस्मात् भ्रान्तात् पूर्वदृष्टरूपारोपेण 'स एवायम्' इति ज्ञानात् कथमनुमानबाधा ? विस्तरतस्त्वय प्रत्यभिज्ञाभङ्गविचारो नैरात्म्यसिद्धौ कृत इति तत्रैवावधार्य ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७८** । "तथाहि–घट स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते । सा किं स्मृत्यनुभवरूप ज्ञानद्वयम्, एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभव, उत स्मृतिरेव, आहोस्विदनुभव एव ?"–**खंडनखंड० पृ० १५६** । (६) "प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो भ्रान्त एव निर्विषयत्वात् । प्रयोगश्चैव य प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय. स तत्त्वतो नैकालम्बन यथा लूनपुनर्जाततृणादिषु, प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययश्चाय तदेवेद नीलादीति प्रत्यय इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धि ।"–**तर्कभा० मो० पृ० २९**।

(१) प्रत्यभिज्ञायाम्। (२) विरुद्धधर्माध्यासप्रसिद्धे । (३) प्रत्यभिज्ञायाम् । (४) प्रत्यभिज्ञायाम् । (५) 'स' इत्याकारस्य 'अयम्' इत्याकारस्य वा । (६) किन्तु ज्ञानद्वयमेतत्–स इत्याकारस्य स्मरणरूपत्वात् इदमंशस्य च प्रत्यक्षात्मकत्वादिति भाव ।

1–**सिद्धेः स इत्या**–आ०, श्र० । 2–**तरविलक्षण**–श्र० । 3–**यथा स्थाणुपुरुषयोः** ब०, श्र० । 4–**णमितीन्द्रि**–श्र० । 5–**ज्ञानसत्त्वम्** श्र० ।

अस्तु वा; तथापि न तत्[1] प्रमाणम्, विषयाभावात्। तस्य हि विषयः–पूर्वज्ञाने प्रतिभातमेव वस्तु, तदतिरिक्तं वा? तत्राद्यविकल्पे न तत् प्रमाणं गृहीतग्राहित्वात्[2] धारावाहिज्ञानवत्। द्वितीयविकल्पेऽपि किंकृतस्तस्य[3] अतिरेकः–स्वरूपभेदकृतः, कालद्वयसम्बन्धकृतः, तत्सम्बन्धे ऐक्यप्रतिपत्तिकृतो वा? यदि स्वरूपभेदकृतः, तदा ज्ञानवत् ज्ञेयस्यापि प्रतिक्षणं स्वरूपभेदप्रसिद्धेः सौगतमतप्रसङ्गः[1]।

अथ कालद्वयसम्बन्धकृतः, तदप्ययुक्तम्, तत्सम्बन्धस्य[4] अर्थभेदेऽप्युपपद्यमानत्वात्। न हि लूनपुनर्जातनखकेशाद्यर्थभेदे कालद्वयसम्बन्धोऽसिद्धः। अथ कालद्वयसम्बन्धे[2] देवदत्तस्य ऐक्यं प्रतीयते, अत. पूर्वज्ञाने प्रतिभातस्य वस्तुनः प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यग्रहणान्न गृहीतग्राहित्वेन अप्रामाण्यमित्यभिधीयते[3], तदप्यभिधानमात्रम्; यत. किमिदमैक्यं नाम–एकत्वसंख्या, स्थायित्व वा? यदि एकत्वसंख्या, तदास्या. पूर्वमेव[5] प्रतिपन्नत्वात् कथमाधिक्यपरिच्छेदः प्रत्यभिज्ञायाः? अथ स्थायित्वम्, तत् किं देवदत्तस्वरूपाद् भिन्नम्, अभिन्नं वा? यद्यभिन्नम्; तदा तत्स्वरूपवत्[6] तदपि[7] पूर्वज्ञानेनैव प्रतिपन्नम्। यद्यतोऽभिन्न तस्मिन् प्रतीयमाने तदपि प्रतीयते यथा तस्यैव स्वरूपम्, अभिन्नञ्च प्रत्यभिज्ञाविषयत्वेनाऽभिप्रेतं[4] वस्तुनः स्थायित्वमिति। अथ भिन्नम्, तत् कि पूर्वमप्युत्पन्नम्, अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एवोत्पद्यते? यदि पूर्वमप्युत्पन्नम्, तदा पूर्वज्ञानेनैव अस्य[8] परिच्छेदात् कथं प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यपरिच्छेदः? केनचिदंशेन आधिक्यपरिच्छेदाभ्युपगमे[5] वा अनवस्थातो[9] न प्रकृततत्त्वसिद्धिः[6]। अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एव उत्पद्यते, तर्हि तस्य पूर्वमप्रतिपन्नत्वात् कथ प्रत्यभिज्ञाविषयत्वम्[7]? पूर्वप्रतिपन्नस्यार्थस्य पुनः कालान्तरे गृह्यमाणस्य प्रत्यभिज्ञाविषयत्वाभ्युपगमात्। पूर्वज्ञानाप्रतिपन्नार्थान्तरावबोधकज्ञानस्य[8] प्रत्यभिज्ञात्वे[9] च घटज्ञानानन्तरमाविर्भूतपटज्ञानस्यापि तत्त्वप्रसङ्ग[10][11]। तत्समये[12] स्थायित्वस्य उत्पत्तौ च क्षणिकत्वानुषङ्गात् कथ तद्विशिष्टार्थानामक्षणिकत्व[13] स्यादिति ॥छ॥

(१) प्रत्यभिज्ञान। (२) "निष्पादितक्रिये चार्थे वृत्ते प्रस्मरणादिवत्। न प्रमाणमिद युक्तं करणार्थविहानित ॥–यदेव हि प्रमितिक्रियासिद्धौ प्रकृष्टमुपकरण तदेव साधकतम कारक प्रमाणमुच्यते। यदि च प्रत्यभिज्ञा पूर्वप्रमाणगृहीतार्थविषया स्यात् तदा निष्पन्नप्रमितिक्रियेऽर्थे प्रवृत्त्याऽसाध कतमत्वात् कथमिव प्रमाणतामश्नुवीत? अन्यथा हि स्मृतेरपि प्रामाण्य स्यात्।"–तत्त्वस० प० पृ० १५९। (३) विषयस्य। (४) अतीतवर्तमानकालद्वयसम्बन्धस्य। (५) प्रत्यक्षकाले एव। (६) देवदत्तस्वरूपवत्। (७) स्थायित्वमपि। (८) स्थायित्वस्य। (९) स अश वस्तुस्वरूपाद् भिन्नोऽभिन्नो वा? अभेदे वस्तुस्वरूपवत् पूर्वमेव प्रतिपत्ति। भेदे किमसौ पूर्वमेवोत्पन्न, अथ प्रत्यभिज्ञासमय एवोत्पद्यते? इत्यादिरूपेण ग्रन्थावर्तनरूपाऽनवस्था। (१०) प्रत्यभिज्ञाने आधिक्यपरिच्छेदसिद्धि। (११) प्रत्यभिज्ञानत्वप्रसंग। (१२) प्रत्यभिज्ञानसमये। (१३) तत्कालोत्पन्नस्थायित्वविशिष्टार्थानाम्। त्रिकालानुयायिस्थायित्वविशिष्टस्यैव अक्षणिकत्वादिति भाव।

1–मतप्रवेश. ब०। 2–सम्बन्धिदेव–ब०। 3–ण्यमित्यभिधानमा–ब०। 4–भिप्रेतवस्तुन आ०, श्र०। 5–गमेऽनवस्था–आ०, ब०। 6–कृतत्व–आ०। 7–ज्ञानवि–ब०, श्र०। 8–तिपन्नानन्तरावबोधक –आ०। 9–ज्ञानत्वे श्र०। 10–तत्प्रसङ्ग श्र०।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं प्रत्यभिज्ञानस्य प्रथक् प्रामाण्यप्रसाधनम् –

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'विरुद्धधर्मा[1]ध्यासतः' इत्यादि। तत्र किं धर्माणां धर्मिणा सह विरोधः, परस्पर वा? न तावत् धर्मिणा, तत्र[2] तेषां प्रतीयमानत्वात्, यद्यत्र प्रतीयते न तत्तत्र विरुद्धम् यथा चित्रज्ञाने नीलाद्याकाराः, प्रतीयते च प्रत्यभिज्ञाने 'स एवायम्' इत्याकारद्वयम्, तस्मान्न तत्तत्र विरुद्धमिति। यत् पुनर्यत्र विरुद्धं न तत्तत्र कदाचिद[2]प्युपलभ्यते, यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, उपलभ्यते च प्रत्यभिज्ञाने प्रागुक्तमाकारद्वयमिति। तन्न धर्मिणा सह धर्माणां विरोधो युक्तः। परस्पर[3]विरोधे तु धर्मिणः किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः प्रा[4]र्थ्येत? धर्माणां हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधसभवे ते[5]षामेव अन्योन्यं[6] भेदो युक्तः।

किञ्च[4], विरुद्धधर्माध्यासतः कारणभूताभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य भेदः साध्येत, स्वभावभूताभ्यां वा? तत्राद्यपक्षे सिद्ध[5]साधनम्। न खलु 'कारणस्वरूपमेव सर्वथा कार्यस्वरूपम्' इति स्याद्वादिनो मन्यन्ते। द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित्तद्[6]भेदः साध्येत, सर्वथा वा? यदि कथञ्चित्, तदा सिद्धसाधनमेव, आकारतद्वतोः कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्। सर्वथा भेदस्त्वनुपपन्नः, तयोः[7] तत्स्वभावत्वाभावप्रसङ्गात्। यो यत्स्वभावः न तस्य तद्वतः सर्वथा भेद. यथा चित्रज्ञानात् नीलाद्याकारस्य, स्वभाव[7]श्च प्रत्यभिज्ञानस्य 'स एवायम्' इत्याकारद्वयमिति। तद्धि[8] प्रत्यक्ष-स्मरणसामग्रीतः समुपजायमानं क्रोडीकृताऽऽकारद्वयमेवोपजायते चित्रपट्यादिसामग्रीतः चित्राकारैकज्ञानवत्, प्रत्यक्षादि[9]सामग्रीतो निर्विकल्पेतराकारैक[10]विकल्पवद्वा।

यदप्युक्तम्[11]–'आकारद्वयं कि परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते[8]' इत्यादि, तत्र कोऽयमस्य अनुप्रवेशो नाम–परस्पर[12][9]स्वरूपसाङ्कर्यम्, एकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा? प्रथमविकल्पोऽ-

(१) पृ० ४११ प० ८। (२) धर्मिणि। (३) तुलना–"तत्र यदि नाम दर्शनस्मरणलक्षणयोराकारयोर्विरोध, तथापि धर्मिण प्रत्यभिज्ञानस्य किमायात येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेद प्रार्थ्येत।"–स्या० र० पृ० ४९२। (४) तुलना–"विरुद्धाभ्या दर्शनस्मरणाकाराभ्या कारणभूताभ्या स्वभावभूताभ्या वा प्रत्यभिज्ञानस्य भेद साध्येत?"–स्या० र० पृ० ४९३। (५) कार्यकारणयोर्भेदस्येष्टत्वात्–आ० टि०। (६) प्रत्यभिज्ञानभेद–आ० टि०। (७) दर्शनस्मरणाकारयो स्वभावयो। (८) प्रत्यभिज्ञान। (९) आदिपदेन विकल्पवासनाशब्दसकेतस्मरणादिसामग्री ग्राह्या। (१०) एकज्ञानस्वरूपवत्–आ० टि०। तुलना–"यदि पारोक्ष्यापारोक्ष्यधर्मभेदात् पूर्वापरावस्थापरामर्शज्ञानं भिद्येत, हन्त भो, तदित्यपि विकल्पो भिद्येत। सोऽपि हि परोक्षश्चापरोक्षश्च, विकल्पोऽविकल्पश्च।अर्थे परोक्षो विकल्पश्च स्वात्मनि त्वविकल्पोऽपरोक्षश्च। तस्माद्विषयभेदादविरोध इति चेत्, नन्विहापि तदेवैकं विज्ञानं तस्यैवेकस्य वस्तुन पूर्वदेशकालसम्बन्धे परोक्षम्, अपरोक्षञ्चापरदेशकालसम्बन्ध इति को विरोध?"–न्यायवा० ता० पृ० १४०। विकल्पो हि स्वरूपे निर्विकल्पकमर्थरूपे च सविकल्पकमिति सौगतमतम्। (११) पृ०४१२ पं० ४। (१२) तुलना–"परस्परस्वरूपसाङ्कर्यमेकस्मिन्नाधारे धृतिर्वा।"–स्या० र० पृ० ४९३।

1–ध्यास इ–आ०। 2–चिदुपल–आ०, श्र०। 3–स्परं विरो–ब०। 4 प्राथ्यंते श्र०। 5 तेषामन्योन्यं ब०, श्र०। 6–न्यभेदो श्र०। 7–वस्य प्र–ब०। 8–भासतेतया–ब०। 9–स्पर स्व–ब०।

नुपपन्नः, प्रतीतिविरोधात् । नहि [1]यथोक्तमाकारद्वयमन्योन्यसङ्कीर्णस्वरूपं स्वप्नेऽपि प्रतीयते । द्वितीयविकल्पे तु नहि[1] किञ्चिदनिष्टम्, एकस्मिन् प्रत्यभिज्ञाख्ये ज्ञाने तदाकारद्वयस्य निर्बाधप्रतीतौ प्रतिभासमानत्वात् । यद्यथा निर्बाधायां प्रतीतौ प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नील[2]तया, प्रतिभासते च तथाविधायां प्रतीतौ आकारद्वयान्वितत्वे[3]नैकं ज्ञानमिति । न च प्रमाणप्रसिद्धे वस्तुस्वरूपे मिथ्याविकल्पसंहतिः किञ्चित्कर्तुं समर्था सकलशून्यतादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । कथञ्चैव[2]वादिनः चित्रज्ञानादेः सिद्धिः ? नीलादिप्रतिभासानां हि परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपताप्रसङ्गात् कुतश्चित्रता एकनीलाकारज्ञानवत् ? ते[3]षां तदननुप्रवेशे भिन्न[4]सन्ततिनीलादिप्रतिभासानामिव अत्यन्तभेदसिद्धेः नितरामचित्रता । एकज्ञानाधिकरणतया ते[5]षां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः प्रतिपादितदोषानवकाशः प्रत्यभिज्ञानेऽप्यविशिष्टः । तन्न विरुद्धधर्माध्यासतः प्रत्यभिज्ञानस्याभावो युक्तः ।

नापि कारणाभावतः[6]; दर्शन-स्मरणलक्षण[4]स्य तत्कारणस्य सद्भावात्[7] । कथं वि[8]भिन्नविषययोः विभि[9]न्नाकारयोश्चानयोः तत्कारणतेति चेत् ? तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कारणकम् यथा वीजाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी अङ्कुरः तत्कारणकः, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी च प्रत्यभिज्ञेति । न खलु वीजादेः अङ्कुरकारणतायां चि[5]त्रपट्यादेः चित्रज्ञानकारणतायां वा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादन्यन्निबन्धनमस्ति । तन्नास्य कारणाभावादप्यभावो युक्तः ।

किञ्च, इदं प्रत्यभिज्ञानं कार्यम्, का[6]र्यञ्च प्रतीयमानं कारणसद्भावमवबोधयति, अतः कथमस्य कारणाभावो ज्यायान् ? तथाहि–यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा घटादि, कार्यञ्चेदं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

यदप्युक्तम्[10]–'सतोऽपि प्रत्यभिज्ञान[7]स्य न प्रामाण्यम्' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिता-

(१) दर्शनस्मरणरूपम् । (२) 'दर्शनस्मरणरूपमाकारद्वय परस्परमनुप्रवेशेनऽननुप्रवेशेन वा प्रतिभासते' इत्येव वादिन सौगतस्य । तुलना–"कथञ्चैव वादिनश्चित्रज्ञानसिद्धि "–प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० र० पृ० ४९३ । (३) नीलादिप्रतिभासानाम् (४) देवदत्तस्य नीलज्ञान यज्ञदत्तस्य पतिज्ञान इन्द्रदत्तस्य च रक्तज्ञान यथा परस्परतोऽत्यन्तभिन्न सत् चित्रैकरूपता न प्रतिपद्यन्ते तथैव । (५) नीलादिप्रतिभासानाम् । (६) तुलना–"नापि कारणाभावत "–स्या० र० पृ० ४९४ । "यत्पुनरुक्त सामग्रीभेदात् विरुद्धधर्मससर्गाच्च प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य एकत्वानुपपत्तिरिति, तदयुक्तम्, सम्प्रयोगसस्कारयो सम्भूयसामग्रीत्वात् । न चान्यत्र सम्प्रयोगसस्कारयो प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयो कारणत्वादेकज्ञानकारणतानुपपत्ति , यस्मात् अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयो दृष्ट सम्भूयकारित्व विशिष्टानुमिति प्रति । तस्मात् प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य एकत्वेन प्रामाण्यमभवात् ।"–चित्सु० पृ० २१४ । (७) 'दर्शनस्मरणकारणक सकलन प्रत्यभिज्ञानम्' [परीक्षामु ३।५] इत्यभिधानात् । (८) वर्तमानपर्यायविषय हि दर्शनम् अतीतविवर्तगोचरञ्च स्मरणम् । (९) इदमाकारोल्लेखि हि दर्शनम् तदाकारोल्लेखि च स्मरणम् । (१०) पृ० ४१३ प० १ ।

1 न किञ्चि–ब० । 2 सलिलतया श्र० । 3–तत्वेनैव ज्ञान–आ०, श्र० । 4–णतत्का–आ०, श्र० । 5–चित्रपटादे ब०, श्र० । 6–कार्यं प्रती–श्र० । 7–स्य प्रामा–ब० ।

भिधानम्, यतो[१] विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, बाध्यमानत्वाद्वाऽस्य[२] अप्रामाण्यं स्यात्? न तावद्विषयाभावात्, पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्येकद्रव्यस्य[1] तद्विषयस्य सद्भावात्। प्रत्यक्षादितः प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपवैलक्षण्यसंभवाच्च विषयवैलक्षण्यमवश्याभ्युपगन्तव्यम्[2]। यस्य यतः स्वरूपवैलक्षण्यं तस्य ततो विषयवैलक्षण्यमप्यस्ति यथा प्रत्यक्षात् स्मरणस्य, अस्ति च स्वरूपवैलक्षण्यं प्रत्यभिज्ञानस्येति। सुप्रसिद्धं हि प्रत्यक्षस्मरणयोः स्पष्टेतररूपतया अतीतवर्त्तमानविषयपरामर्शरूपतया च स्वरूपवैलक्षण्याद् अतीतवर्त्तमानकालावच्छेदेन[३] विषयवैलक्षण्यम्, एवमत्रापि[४]। प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानकालावच्छिन्नो विषयः, स्मरणस्य तु अतीतकालावच्छिन्नः, प्रत्यभिज्ञानस्य तु उभयकालावच्छिन्नो द्रव्यविशेषो विषयः। न चाऽशेषार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वात्[3] द्रव्यविशेषस्य कस्यचिदप्यसंभवात् कस्य तद्विषयता प्रार्थ्यते इत्यभिधातव्यम्, क्षणभङ्गप्रतिषेधेन द्रव्यसिद्धेः प्रागेव[५] प्रपञ्चतो विहितत्वात्। तन्न विषयाभावात् तदप्रामाण्यम्।

नापि गृहीतग्राहित्वात्, तद्विषयस्य[६] प्रमाणान्तरेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्। स हि प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मरणेन, प्रमाणान्तरेण वा? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमानविवर्त्त[4]मात्रगोचरचारितया अतीतवर्त्तमानविवर्त्तवर्त्तिनो[5] द्रव्यस्य ग्रहणे सामर्थ्याऽसंभवात्। नापि स्मरणेन, तस्य अतीतपर्यायविषयतया तद्ग्रहणे[८]ऽसमर्थत्वात्। नापि प्रमाणान्तरेण, उभयविवर्त्तवर्तिद्रव्यविषयस्य[९] प्रत्यभिज्ञानतोऽन्यप्रमाणस्याऽसंभवात्। तदुभयसंस्कार[१०]जनितं कल्पनाज्ञानमस्तीति चेत्; न, तस्यैव[११] प्रत्यभिज्ञानत्वात्।

(१) तुलना–"तदप्रामाण्य हि गृहीतग्राहित्वात्, स्मरणानन्तरभावित्वात्, शब्दाकारधारित्वाद्वा, बाध्यमानत्वाद्वा स्यात् ?"–प्रमेयक० पृ० ३४३। (२) प्रत्यभिज्ञानस्य। (३) प्रत्यक्षे स्मरणे च प्रत्येकमिह तु युगपदिति विशेष–आ० टि०। (४) प्रत्यभिज्ञानेऽपि। (५) पृ० ३५७–३८९। (६) तुलना–"आकारवादप्रतिषेधे पूर्वानुभवजनितसस्कारस्मरणसहकारीन्द्रियेण स एवायमित्युभयोल्लेखि ज्ञान जन्यते। तस्य च अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानात् निर्विषयत्वमयुक्तम्।"–प्रश० व्यो० पृ० ३९७। "अतीतकालविशिष्टो वर्तमानकालावच्छिन्नश्चार्थ एतस्यामवभासते।"–न्यायम० पृ० ४५९। "प्रतीयते तावदेतस्माद्विज्ञानात् पूर्वापरकालावच्छिन्नमेक वस्तुतत्त्वम्, तदप्यस्य विषयो न भवतीति सविद्विरुद्धम्। ग्रहणस्मरणे च नैक विषयमालम्ब्येते तस्मादेकमेवेद विज्ञानं प्रतीतिसामर्थ्यादुभयविषयमास्थेयम्।"–प्रश० कन्द० पृ० ८०। (७) तुलना–"न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्य स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यं येन तत्र प्रवर्तमान प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राहि मन्येत, तद्गृहीतातीतवर्तमानविवर्ततादात्म्यात् द्रव्यस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्व लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्वप्रसगात् तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धे।"–प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमेयक० पृ० ३४३। स्या० र० पृ० ४९५। प्रमेयर० पृ० ३३। प्रमाणमी० पृ० ३५। (८) अतीतवर्तमानपर्यायानुयायिद्रव्यग्रहणे। (९) अतीतवर्तमान। (१०) स्मरणप्रत्यक्ष। तुलना–"प्रत्यक्षस्मरणजनितकल्पनाज्ञानमस्तीति चेत्, न, तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वेनास्माभिरभ्युपगमात्।"–स्या० र० पृ० ४९५। (११) उभयसस्कारजनितविकल्पस्यैव।

1–विवरवर्त्त्ये–आ०। 2–वश्यमभ्यु–श्र०। 3–क्षणिकत्वतो द्र–ब०। 4–विवर्त्तगोच–आ०, श्र०। 5–विवर्त्तिद्रव्यस्य श्र०, –विवर्त्तिनो द्रव्यस्य ब०।

ननु यदि प्रत्यक्षस्मरणयोः द्रव्यमविषयः तर्हि कथं ताभ्यां तत्र[१] तज्जन्येत[२] ? यद् यस्य विषयो न भवति न[1] तत्तत्र ज्ञानमुत्पादयति यथा चक्षू रसे, अविषयश्च एकत्वं प्रत्यक्षस्मरणयोरिति, तदप्यसुन्दरम्, विकल्पोत्पादका[३]ऽविकल्पकाध्यक्षेण अनेकान्तात्, तस्य सामान्यागोचरस्यापि सामान्ये विकल्पोत्पादकत्व[2]प्रतीतेः। 'विकल्पवासनासहायं स्वाविषयेऽपि तत्र[४] तत्[५] तमुत्पादयति[६]' इत्युत्तरम् अन्यत्रापि[७] तुल्यम्, प्रत्यक्षस्यापि स्मरणसहायस्य एकत्वे प्रत्यभिज्ञानजनकत्वप्रतीतेः, सहकारिणामचिन्त्यशक्तित्वात्। कथमन्यथा असर्वज्ञज्ञानम् अभ्यास[८]विशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत् ? एकत्वविषयत्वञ्च प्रत्यक्षस्यापि अक्षणिकत्वसिद्धौ[९] समर्थितम्। अन्यथा निर्विषयत्वमेव अस्य स्यात्, एकान्तेन अनित्यत्वस्य कदाचनाप्यप्रतीतेः। केवलं तेन[१०] एकत्वं प्रतिनियतवर्त्तमानपर्यायाधारतया अर्थे प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन[3] तु स्मर्यमाणाऽनुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेषः। अतः कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः न गृहीतग्राहित्वमस्य यतोऽप्रामाण्यं स्यात्, अन्यथा अनुमानादेरपि अप्रामाण्यप्रसङ्गः सर्वथाऽपूर्वार्थविषयत्वाऽसंभवात्, तद्विषयस्य[११] देशादि[१२]विशिष्टपावकादिव्यक्तिविशेषस्य सम्बन्धग्राहि[१३]ज्ञानविषयात् साध्यसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्य कथञ्चित् पूर्वार्थत्वप्रसिद्धेः।

[१४]बाध्यमानत्वात्तदप्रमाणं प्रत्यभिज्ञा, [4]इत्यप्ययुक्तम्, तद्बाधकस्य कस्यचिदप्यसंभवात्। तस्य हि बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यभावात्। यद् यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्तस्य बाधकम् यथा रूपज्ञानस्य

(१) द्रव्ये। (२) प्रत्यभिज्ञानम्। (३) सौगतमते हि निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सविकल्पकमुत्पद्यते। निर्विकल्पक च परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यत्वात् वस्तुविषय सविकल्पक तु बुद्धिकल्पितसामान्यगोचरत्वादवस्तुविषयक प्रसिद्धम्। ततो यथा निर्विकल्पक सामान्यमजानदपि सामान्यविषय विकल्पमुत्पादयति तथैव अतीतवर्तमानोभयविवर्तवर्तिनमेकत्वमजानत्यपि प्रत्यक्षस्मरणे तद्विषयक प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतामिति भाव। तुलना–"विकल्पोत्पादकाध्यक्षेणानेकान्तात्।"–स्या० र० पृ० ४९५। (४) सामान्ये। (५) निर्विकल्पकम्। (६) विकल्पम्। (७) प्रत्यक्षस्मरणाभ्याम् एकत्वे प्रत्यभिज्ञानसमुत्पादनस्थलेऽपि। (८) अभ्यासविशेषादय सहकारिण–आ० टि०। (९) पृ० ३८१। (१०) प्रत्यक्षेण। (११) अनुमानविषयस्य–आ० टि०। (१२) पर्वतादिदेशस्थपावकस्य–आ० टि०। (१३) तर्क–आ० टि०। तुलना–"सम्बन्धग्राहिविज्ञानविषयात् साध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात्।"–प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमेयक० पृ० ३४३। (१४) तुलना–"सवादो वाधवैधुर्यनिश्चयश्चेत् स विद्यते। सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवाञ्जसा॥ प्रत्यक्षवाधकं तावन्न सज्ञानस्य जातुचित्। तद्भिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९२। "वाधकप्रमाणान्न प्रमाण प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्, तद्वाधकस्यासम्भवात्। न हि प्रत्यक्षं तद्वाधक नस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसभवात्, साधकत्ववद् वाधकत्वविरोधात्।"–प्रमाणप० पृ० ७०। अष्टसह० पृ० २८०। प्रमेयक० पृ० ३४४। स्या० र० पृ० ४९६। प्रमेयर० पृ० ३६।

1 न तत्र आ०, श्र०। 2–कत्वं प्रती – श्र०। 3–भिज्ञाने तु आ०, श्र०। 4 इति चायुक्तम् श्र०।

रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञाविषये प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानम्; [1]तद्विषये [2]तस्याप्यप्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ वा संवादकत्वान्न तद्बाधकत्वम् । [3]ननु लूनपुनर्जातनखकेशादौ बाध्यमानं [4]तत् प्रतीतमेव अतः कथं तत् प्रमाणमिति चेत् ? यदि नाम [5]तत्र [6]तत्त्वथा प्रतीतम्, [7]अन्यत्र किमायातम् ? [8]अन्यथा शुक्तिशकले रजताभासप्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वोपलम्भात् सत्यरजतेऽप्य[9]स्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः । तन्न एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापह्नवो युक्तः ।

नापि साद्दश्यप्रत्यभिज्ञानस्य[10], [11]अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्–[12]येनैव हि पूर्वं धूमसहितोऽग्निर्दृष्टः [13]तस्यैव उत्तरकालं पूर्वधूमसद्दशधूमदर्शनात् अग्न्यनुमानोत्पत्तिर्युक्ता, नान्यस्य[14] [15]अन्यदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेदं सद्दशम्' इति प्रतिपत्तिर्घटते, पूर्वप्रत्यक्षेण [16]उत्तरस्य [17]तत्प्रत्यक्षेण च पूर्वस्य धूमादिवस्तुनोऽप्रतिपत्तेः । [18]न च द्वयाऽप्रतिपत्तौ द्विष्ठं साद्दश्यं प्रतिपत्तुं शक्यमतिप्रसङ्गात् । यद् द्विष्ठं तद् द्वयप्रतिपत्तावेव प्रतीयते यथा सम्बन्धः, द्विष्ठञ्च साद्दश्यमिति । ततः सिद्धा एकत्वोल्लेखिनी साद्दश्योल्लेखिनी च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ।

एतदेवाह–**संज्ञा प्रमाणं चिन्तायाः 'फलस्य हेतुत्वात्'** इति सम्बन्धः । अस्याः पर्यायमाह–**तर्कस्य** इति । कः पुनरयं [19]तर्को नाम इति चेत् ? व्याप्तिज्ञानम् । व्याप्तिर्हि

---

(१) प्रत्यभिज्ञाविषये । (२) अनुमानस्यापि । (३) तुलना–"न च लूनपुनर्जातनखकेशादिवत् सर्वत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञा "–**प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० र० पृ० ४९४** । (४) स एवाय नखादिरिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (५) लूनपुनर्जातनखकेशादौ । (६) स एवाय नखकेशादिरिति प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानम् । (७) तस्मिन्नेव नखे केशे वा स एवाय नखादिरिति प्रत्यभिज्ञानं कथ बाध्यमानमिति भावः । (८) एकत्र बाध्यमानत्वोपलम्भात् सर्वत्र बाध्यमानत्वस्वीकारे । (९) रजताभासप्रत्यक्षस्य । (१०) अपह्नवो युक्त इति गतेन सम्बन्ध । (११) तुलना–"सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम् । प्रमाण स्वार्थसंवादादप्रमाणं ततोऽन्यथा ॥" –**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९३।** "कथञ्च प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्ति येनैव हि ··"–**प्रमेयक० पृ० ३४३** । "अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, येनैव हि पूर्वं घूमोऽग्ने "–**स्या० र० पृ० ४९६** । (१२) प्रतिपत्रा । (१३) प्रतिपत्तु । (१४) जनस्य । (१५) घटादिदर्शनात् । (१६) धूमस्य । (१७) उत्तरकालीनधूमप्रत्यक्षेण । (१८) तुलना–"न च द्वयाप्रतिपत्तौ "–**स्या० र० पृ० ४९६** । (१९) "चिन्ताज्ञानमागामिनो वस्तुन एव निष्पत्तिर्भवति अन्यथा नेति, यथैव ज्ञानादित्रयसमन्विते तत्रैव परमसुखावाप्तिरन्यथा नेत्येतच्चिन्ताज्ञान मनोज्ञानमेव ।" –**तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ७८** । "सम्बन्धं व्याप्तितोऽर्थाना विनिश्चत्य प्रवर्तते । येन तर्क स सवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते ।"–**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९४ । प्रमाणप० पृ० ७०।** "उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूह । इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येवेति च ।"–**परीक्षामु० ३।११, १२ । प्रमाणमी० १।२।५** । "उपलम्भानुपलम्भसभव त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्वनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं सवेदनमूहापरनामा तर्कः ।"–**प्रमाणनय० ३।५ । जैनतर्कभा० पृ० १०** । "व्याप्तिज्ञान तर्कः ।"–**न्यायदी० पृ०१९।** "अन्वयव्यतिरेकाभ्या व्याप्तिज्ञान दर्शनस्मरणाभ्यामगृहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धन तर्क चिन्ता ।"–**लघी० अभ० पृ० २९** । "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क ।"–**न्यायसू० १।१।४०** । "अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिणि

1–**भिज्ञाने विषये** श्र०,–**भिज्ञानविषये** ब० । 2 **धूमोऽग्निर्दृष्टः** ब० । 3 'यद्' नास्ति श्र० ।

साध्यसाधनयोरविनाभावः। तद्ग्राहि ज्ञानं तर्कोऽभिधीयते, तत्र[2] तस्यैव प्रमाण्यात्, ज्ञानान्तराणां[3] तद्ग्रहणे[4] सामर्थ्याऽसंभवतः तत्र[1] प्रामाण्यानुपपत्तेः।

एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् सभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुख प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क।"–न्यायम० पृ० ५८६। न्यायकलि० पृ० १३। "एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूप तर्क"–न्यायली० पृ० ५४। "व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीते व्याप्यस्याहार्यारोपाद्यो व्यापकस्याहार्यारोप स तर्क। यथा निर्वह्नित्वारोपान्निर्धूमत्वारोप। यदि निर्वह्नि स्यान्निर्धूम स्यादिति।"–न्यायसूत्रवृ० १।१।४०। "तर्कश्चापाद्यापादकयोर्व्याप्तिमूल।"–महावि० पृ० १३१। "जैमिनीयास्तु ब्रुवते–युक्त्या प्रयोगनिरूपणमूह। स च त्रिविध मन्त्रसामसंस्कारविषय.। [शाबरभा० ९।१।१]–"न्यायम० पृ० ५०८। "अदृष्टसम्बन्धात् परोक्षप्रतीति तर्क इति लक्षणम्।"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३००।

(१) "सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना"–मी० श्लो० अनु० श्लो० ४। "नियमरूपं मीमासका"–न्याय० मा० पृ० ५६। प्रकरणप० पृ० ६८। "व्याप्तिरविनाभाव इति"–प्रश० व्यो० पृ० ५७०। "स्वभावत साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभाव।"–न्यायसा० पृ० ५। "साहचर्यं तु सम्बन्ध इति नो हृदयङ्गमम्। तस्मिन् सत्येव भवने न विना भवन तत॥ अयमेवाविनाभावो नियम सहचारिता।"–न्यायम० पृ० १२१। न्यायकलि० पृ० २। "तस्माद् यो वा स वाऽस्तु सम्बन्ध, केवल यस्यासौ स्वाभाविको नियत स एव गमको गम्यश्चेतर सम्बन्धीति युज्यते।"–न्यायवा० ता० पृ० १६५। "स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थ।"–ता० प० पृ० ६९१। न्यायली० पृ० ५४। "अनौपाधिक सम्बन्ध"–प्रश० किर० पृ० २१७। "अनौपाधिक सम्बन्धो व्याप्ति। यद्वा साध्यसामानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्ति।"–वैशे० उप० ३।१।१४। तत्त्वचि० व्या०। "उपाधिविधुर सम्बन्ध"–सर्वद० पृ० ७। "साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथन व्याप्तिकथनम्। यथोक्तम्–'व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य च तत्रैव भाव' [प्रमाणवा० स्ववृ० ३।१] इति।"–न्यायबिन्दुटी० पृ० ६४। "द्विविधा चेय व्याप्ति व्यापकव्याप्यधर्मतया। तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावस्तस्य व्याप्ति, व्याप्यस्य च व्यापक एव सति भावो नाम तस्य व्याप्ति.। आभ्या यथाक्रममन्वयव्यतिरेकावुक्तौ। व्याप्यसद्भावे व्यापकस्य सत्त्वनियमस्य अन्वयरूपत्वात्। व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात्।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१। "तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिर्यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते व्याप्यव्यापकधर्मतया प्रतीते। यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य भाव एवेति सम्बन्ध। तत्रेति सप्तम्यर्थप्रधानमेतन्नाधारार्थप्रधानम् धर्माणा धर्मान्तरत्वाभावात्। तेनायमर्थ–यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र व्यापकस्य भाव एवेति व्यापकधर्मो व्याप्ति। नत्वेवमवधार्यते व्यापकस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात्, अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात्। नापि तत्रैवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरहेतुत्वापत्ते। साधारणश्च हेतु स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात्। यदा तु व्याप्यधर्मता व्याप्तेर्विवक्षिता तदा यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव व्याप्यस्य भावो नान्यत्र। अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र भाव इत्यवधारणम् हेत्वभावप्रसक्तेरेव नाश्रितम् अव्याप्यस्यापि तत्र भावात्। नापि व्याप्यस्य तत्र भाव एवेत्यवधार्यते, सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्ते, साधारणस्य च हेतुत्व स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यम्भावादिति। व्यापकस्य तत्र भाव इत्यनेन चान्वय आक्षिप्तो व्याप्यस्य वा तत्रैव भाव इत्यनेन व्यतिरेक आक्षिप्त।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१। हेतुबि० टी० पृ० १८०। प्रमाणमी० पृ० ३८। "सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव."–परीक्षामु० ३।१६। प्रमाणमी० १।२।१०। (२) व्याप्तिग्रहणे तर्कस्यैव। (३) प्रत्यक्षादीनाम्। (४) व्याप्तिग्रहणे।

1 तत्प्रामा–आ०, श्र०।

व्याप्तिस्वरूपस्यैवासंभवान्नास्ति तर्कस्य प्रामाण्यमिति चार्वाकस्य पूर्वपक्षः —

ननु व्याप्ति[1]स्वरूपस्यैवाऽसंभवात् कथं तत्र तर्कः प्रमाणम् ? तथाहि–व्याप्ति[2]: सम्बन्धोऽर्थानाम्, सा[१] च देशतः कालतो वा कस्यचित्[२] केनचित्[३] स्यात् ? [४]न तावद् देशतः, यतो व्योम्नि धूम , भूमौ अग्नि:, [५]उपरि देशे वृष्टिः, अधोदेशे नदीपूरः। नापि [६]कालतः, न हि वृष्टिकाले नदीपूरः कृत्तिकोदयकाले रोहिण्युदयो वाऽस्ति।

किञ्च, कस्य केनायमविनाभावः–किं [७]सामान्यस्य सामान्येन, किं वा सामान्यस्य विशेषैः, [3]उत विशेषाणां विशेषैः? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, [4]नित्यत्व-विभुत्वाभ्यां सकलदेशकालसम्बन्धितया अग्नित्व-धूमत्वयोः सुप्रसिद्धत्वात्। द्वितीय[5]पक्षेऽपि देशकालानवच्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभावः, तदवच्छिन्ने वा? यद्यनवच्छिन्ने; तदा सिद्धसाधनमेव। अथ देशकालावच्छिन्ने, तदा [९]अनुगमाभावः। नहि महानसस्थधूमसामा-

(१) तुलना– 'किञ्च, साध्यसाधनयो व्याप्तिः कि यत्र यत्र साधन तत्र तत्र साध्यमिति देशरूपा निरूप्येत, किं वा यदा यदा साधन तदा तदा साध्यमिति कालरूपा, युगपदुभयस्वभावा वा ?"–**हेतुबिड० पृ० ४ B** (२) साधनस्य साध्यस्य वा। (३) साध्येन साधनेन वा। (४) तुलना–"देशव्याप्तिमात्राङ्गीकारे समग्रजाग्रत्प्रामाणिकमान्ये धूमानुमानेऽपि सत्यताभिमानोऽभिमानशालिना कथ पृथापथमानीयते, तत्र च देशव्याप्ते स्वप्नदशायामपि विभावनाभावात्। तथाहि–गगनमण्डलतलावलम्बी धूमः पर्वताखर्वनितम्बसम्बन्धी च धूमध्वज इति क्व देशव्याप्तिरिति।"–**हेतुबिड० पृ० ४B**। (५) उपरि वृष्टो मेघ अधोनदीपूरदर्शनादित्यनुमाने। (६) तुलना–"उद्गतो नभश्चन्द्रो जलचन्द्रोदयदर्शनात्, आसीत्पूर्वमस्मिन् देशे वृष्टिः उत्तरत्र तथाविधवारिपूरविलोकनात्, भविष्यति वा वारिवाहवृष्टिः तादृग्वारिवाहविभावनात्, उदेष्यति रोहिणी कृतिकोदयात्, उदेष्यति श्वः सविता अद्यतनादित्योदयदर्शनात्, उदगुः मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वाफाल्गुनी उत्तरफाल्गुनीनामुदयोपलब्धेः इत्यादि मानानामनेकेषा देशकालोभयेभ्यो विप्रकृष्टाना कार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरहेतुविशेषाणा देशकालोभयैः क्वापि व्याप्त्यनुपपत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः।"–**हेतुबिड० पृ० ४ B** (७) तुलना–"इतोऽपि अविनाभावसम्बन्धग्रहणानुपपत्तिः–कि सामान्ययो सम्बन्धावधारणम्, आहो स्वलक्षणयो, सामान्यस्वलक्षणयोर्वा ?"–**तत्त्वोप० पृ० ६५, ८३**। "तथाहि-व्याप्तिर्भवन्ती कि साधनसाध्यव्यक्तयोर्बोभोति, उताहो साधनत्वसाध्यत्वजात्योर्वा, आहोस्वित् साधनवत्साध्यवतो, किं वा साधनत्ववत्साध्यत्ववतोः, उत साधनवत्त्वसाध्यवत्त्वयो इति पक्षपञ्चतयी "–**हेतुबिड० पृ० ४ A**। "तथाहि–किं व्यक्तयोरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयो। व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनवत्त्वयो। सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसभवात्। न तद्वतोरुक्तदोषान्न चतुर्थोऽनिरूपणात्।"–**चित्सु० पृ० २३३**। (८) पर्वत-महानसादिदेशम् अतीतवर्तमानादिकालञ्चानपेक्ष्य अग्न्यादिविशेषमात्रे। तुलना–"यद्यनवच्छिन्ने; तदा सिद्धसाध्यतैव देशकालानवच्छिन्नाना वह्न्यादिविशेषाणामतिप्रतीतत्वात्।"–**स्या० र० पृ० ५०५**। (९) तुलना–"किं चानुमान प्रमाणमुपेत्योक्तं वस्तुतस्तु न तन्मानमित्याह–विशेष इति। विशेषेऽनुगमाभाव सामान्ये सिद्धसाध्यता। इत्यादिदोपदुष्टत्वान्न च नोऽनुमिति प्रमा॥—व्यक्त्योर्वा व्याप्ति, जात्योर्वा, तदाक्रान्तविशेपयोर्वा, धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोर्वा ? नाद्य, सर्वोपसंहारासिद्धे। न द्वितीय, तयो स्वरूपभेदात् धर्मिभेदाच्च। न तृतीय, उक्तदोषात्। न चतुर्थ; औपाधिकधर्मस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानिरूपणात्।"–**बृहदा० वा० पृ० १४०१। न्यायकुमु० पृ० ६९ टि० ५**।

1–स्वरूपासभ–श्र०। 2 व्याप्तिसम्ब–ब०। 3 'उत विशेषाणां विशेषैः' नास्ति ब०। 4 नित्यविभुत्वा–ब०। 5–पक्षे देश–आ०।

न्यस्य पर्वतस्थेन अग्निविशेषेणाऽनुगमोऽस्ति, पर्वतस्थस्य वा महानसस्थेन। नापि विशेषाणां विशेषैर्नियमः, स हि दृष्टानां दृष्टैः, अदृष्टानामदृष्टैः, दृष्टानां वा अदृष्टैः स्यात्? यदि दृष्टानां दृष्टैः, तदा सिद्धसाधनम्[1], अपूर्वव्यक्तिदर्शने च अनुमानानुपपत्तिः[2]। अथ अदृष्टानामदृष्टैः, तत्रापि सम्बन्धग्रहणाभावादनुगमाभावाच्च कथमनुमानम्? नापि दृष्टानामदृष्टैः, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्[3]।

किञ्च, अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः, सम्बन्धिनौ च द्वौ द्वौ विशेषौ, अतः कथं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्या[4]?

किञ्च, अयमविनाभावशब्दः साध्याभावे साधनाभावं वदतीति व्यतिरेकमात्रवचनः, न सम्बन्धवचनः।

किञ्च, 'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इति धूमानुपपत्तेः अग्न्यभावो विशेषणम्। सः पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वा स्यात्। पारमार्थिकत्वे[5] अविद्यमानत्वात् धूमस्य न तदाश्रिता[6] व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्या, नहि अगृह्यमाणे आश्रये[7] तदाश्रितं[8] ग्रहीतुं शक्यमतिप्रसङ्गात्। अपारमार्थिकत्वे तु उपाधेः[9] तदुपहितायां[10] धूमानुपपत्तेरपि § अपारमार्थिकत्वं स्यात्, तथा चाऽनुमानस्यापि§ अपारमार्थिकत्वमेव आयातम्। अथैवमुच्यते—अग्न्यभावश्चेद् धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः, अग्न्यभावस्य धूमाभावेन व्याप्तत्वात्; तदप्यनुपपन्नम्, विद्यमाना गृहीता च व्याप्तिः अनुमानाङ्गम् न प्रसज्यमाना[11], तस्याः[12] सत्त्वेनाप्यनिश्चितत्वात्। संभावनाज्ञानं चैतत्[13], न च तद् वस्तुपरिच्छेदकम् यथा 'भूमिश्चेन्नाभविष्यद् अपतिष्यन् पर्वताः' इति।

किञ्च, एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा? न तावदेकस्य; अस्याभावेऽपि[14] अग्न्यन्तरे धूमसद्भावस्योपपद्यमानत्वात्। नापि सर्वस्य, उपहितग्रहणस्य[15] उपाधिग्रहणमन्तरेणाऽसभवात्[16]। धूमानुपपत्तेश्च अशेषाग्न्यभाव एवोपाधिः, न चासौ

(१) प्रत्यक्षसिद्धे प्रत्यक्षसिद्धस्य अविनाभावे सिद्धेऽपि न किञ्चित्फलम्, साध्य-साधनयो प्रत्यक्षत्वात्, तथा च नानुमानप्रामाण्यमिति भाव। (२) अपूर्वव्यक्तौ अविनाभावग्रहणाभावात् नानुमाप्रवृत्ति। (३) अप्रत्यक्षेण सह अविनाभावग्रहणासभवात्, सभवेऽपि अनुगमाभाव। (४) अपि तु यौ द्वौ सम्बन्धिनौ महानसीयधूमाग्नी प्रत्यक्षविषयौ स्याताम् तयोरेव सम्बन्धो गृहीत स्यात् न सकलसाध्यसाधनव्यक्तीनाम्। (५) अग्न्यभावस्येति शेष—आ० टि०। (६) धूमाश्रिता। (७) धूमलक्षणे। (८) व्याप्तिस्वरूपम्। (९) अग्न्यभावरूपविशेषणस्य। (१०) अग्न्यभावविशिष्टाया। (११) सभाव्यमाना। (१२) सभाव्यमानाया व्याप्ते सत्त्वमपि अनिश्चितमेव। (१३) 'अग्न्यभावश्चेत् स्यात् धूमसद्भावस्यानुपपत्ति स्यात्' इत्याकारकं पूर्वोक्तं ज्ञानम्। (१४) कस्यचिदेकस्य अग्नेरभावेपि 'अशेषाग्न्यभावविशिष्टो धूमाभाव' इत्याकारकविशिष्टग्रहणस्य अनुपपत्तेरितिभाव। (१५) विशिष्ट—आ० टि०। (१६) अशेषाग्न्यभावरूपविशेषण।

1–पत्ते श्र०। 2 'अथ' नास्ति आ०। 3 स्वाश्रये श्र०। 4 उपाधि. श्र०, ब०। 5–हितत्वात् धू–ज०। § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 6–मार्थिकत्वं स्यात् श्र०। 7–पत्ते श्र०।

सर्वाग्निष्वगृहीतेषु ग्रहीतुं शक्यते, अभावग्रहणस्य प्रतियोग्याश्रयग्रहणसव्यपेक्षत्वात्[1]।

अपि[2] च क्वचिदग्न्य[3]भावाभावेऽपि[1] धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः, अतो नाग्न्यभावो धूमभावविरोधस्य उपाधिः[4], किन्तु धूमाभाव एव। अतो न व्याप्तिर्विचार्यमाणा घटते, तत्कथं तद्ग्राहिणः तर्कस्य [5]तत्प्रभवानुमानस्य वा प्रामाण्यम्? अस्तु वा व्याप्तिः, तथापि अविनाभावे सत्यपि[2] न धूमाद् वह्निपैङ्गल्यमनुमीयते वह्नेरेव धूमेन अनुमीयमानत्वात्। [6]तथा नियतत्वाविशेषेऽपि धूम एव गमको न तद्गताः श्यामत्वादय इति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सर तर्कस्य पृथक् प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[7]–'व्याप्तिस्वरूपस्य' इत्यादि, तदसमीचनम्, यतः [8]स्वरूपप्रयुक्तस्याऽव्यभिचारस्य व्याप्तित्वप्रतिज्ञानात् कथं तस्याः स्वरूपासंभवः? स्वरूपं हि साध्यसाधनयोः स्वधर्मकलापकलितम् [9]अग्नित्वं धूमत्वञ्च, तद्धि अन्यतो देशकालाकारादेर्व्यावर्त्त्य प्रकर्षेण सम्बन्धम् आत्मन्येव योजयति। '[10]मदधीनामेव व्याप्तिं बु[3]ध्यस्व बुध्यस्व' इत्यात्मसम्बन्धित्वेनैव व्याप्तिं व्यवस्थापयत् स्वप्रयुक्तामेव व्याप्तिं बोद्धारं बोधयति।

यदप्युक्तम्[11]–देशतः कालतो वाऽविनाभावो न संभवति' इति; तदप्येतेन प्रत्युक्तम्; [12]तद्वतः [13]तद्वता अविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्। अव्यभिचा[4]रिणा हि

(१) यस्याभाव क्रियते स प्रतियोगी यथा अशेषाग्न्यभावे कर्त्तव्ये अशेषाग्नि प्रतियोगी, यस्मिन् अभाव क्रियते स आश्रय, यथा त्रिकाले त्रिलोके च अशेषाग्न्यभावे प्रस्तुते कालत्रय त्रिलोकश्च आश्रय । "गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानस नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया"–[मी० श्लो० अभा० श्लो० २७] इत्यभिधानात् । (२) तुलना–"अपि च यत्सद्भाव एव यस्य निवृत्ति तेनैव तस्य विरोध, तदिह धूमाभाव एव सति धूमस्य निवृत्तिर्दृश्यत इति धूमाभावेनैव अस्य विरोधो नत्वग्न्यभावेन । केवलाङ्गाराद्यवस्थायाम अग्न्यभावाभावेऽपि धूमनिवृत्ते प्रतीयमानत्वात् ।"–स्या० र० पृ० ५०५ । (३) अङ्गारावस्थापन्नाग्निमन्निर्धूमप्रदेशे अग्न्यभावाभावेऽपि-अग्निसद्भावे सत्यपि । (४) यदि हि अग्न्यभाव धूमाभावस्य उपाधि स्यात् तदा 'उपाध्यपाये उपाधिमतोऽभावात्' इति न्यायेन अङ्गारावस्थाग्निमत्प्रदेशे अग्न्यभावस्य अभावो विद्यते अतस्तत्र धूमाभावस्यापि अभाव प्राप्नोति, न च तत्र धूमाभावस्याभाव धूमसद्भावरूप समस्ति । अत नाग्न्यभाव धूमाभावस्य विशेषणम् अपि तु धूमनिवृत्तिरेव । (५) तर्कगृहीतव्याप्तिवलोद्भूत । (६) तथा तेन अविनाभावप्रकारेण सम्बद्धत्वे समानेऽपि । (७) पृ० ४२० पं० १ । (८) तुलना–"अविनाभावस्य साध्याव्यभिचरितत्वस्य"–प्रमाणवा० मनोरथ०३।१। "स्वरूपप्रयुक्तस्याव्यभिचारस्य व्याप्तित्वप्रतिज्ञानात्"–स्या० र० पृ० ५०६ । जैनतर्कभा० पृ० १० । (९) धूमत्वमग्नित्वञ्च । (१०)अग्नित्वधूमत्वप्रयुक्तामेव । (११) पृ०४२० पं०२। (१२) सामान्यविशेषवतो धूमादे –आ० टि०। (१३) सामान्यविशेषवता अग्न्यादिना –आ० टि० । तुलना–"धूमो हि यत्र यत्रेति सामन्येनैव गृह्यते। न पुन पर्वतेऽरण्ये गृहे वेत्येवमिष्यते ।"–न्यायमं० पृ० १११ । "देशकालौ परिपत्य स्वरूपमात्रेणैव धूमादेरग्न्यादिना सहाविनाभावस्य निर्बाधबोधाधिरूढत्वात् ।"–स्या० र० पृ० ५०६।

1–पि धूमसद्भा–श्र० । 2–पि धूमाद् श्र० । 3 बुद्ध्यस्व २ इ–आ० । 4–चारिणा हि श्र०

[1]व्याप्तिः । न च §देशकालयोरव्यभिचारित्वम्, विवक्षित§देशकालयोरभावेऽपि धूमादेरुपलम्भात् ।

यच्चान्यदुक्तम्[2]–'कस्य केन व्याप्तिः' इति; तत्र यस्य येन अव्यभिचारः तस्य तेन व्याप्तिः, सामान्यविशेषवतश्च धूमादेः सामान्यविशेषवताऽग्न्यादिनाऽव्यभिचारात् तस्य तेनैव व्याप्तिः, अतश्च उक्तदोषानवकाश. । गम्य[3] हि व्यापकम्, गमकं व्याप्यम् । न च केवलौ सामान्यविशेषौ गम्यगमकरूपतया अनुभूयेते, जात्यन्तररूपस्यैव[1][4] उभयात्मनः तद्रूपतया[5]ऽवभासनात् ।

यदप्यभिहितम्[6]–'अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः' इत्यादि, तदप्यनेनैव प्रत्याख्यातम्, सामान्योपलक्षितविशेषयो[7]र्व्याप्तेः सर्वोपसंहारेणैव[8] सभवात् । नहि तत्र आनन्त्यादि[9]दोषोऽवकाश लभते ।

यच्चोच्यते[10]–अविनाभावशब्दो व्यतिरेकमात्रवचनो न सम्बन्धवचनः, तदप्युक्तिमात्रम्, यतोऽविनाभावशब्दो न व्यतिरेकमात्रे[11] पर्यवस्यति घटाद्यभावेऽपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु नियमे । स च नियमः[12] तथोपपत्ति[13]-अन्यथानुपपत्तिप्रकाराभ्यां व्यवस्थितः, अत. तावुभावपि अविनाभावशब्देन उच्येते, 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निः, यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति । ननु 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इत्येतत् कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अग्न्यभावे धूमस्य नियमेन अप्रतीयमानत्वात् तत्सद्भाव[14]नियत एवाऽसौ, अन्यथा[15] यथा धूमाभावेऽपि क्वचिद[16]ग्निरुपलभ्यते तथा

(१) तुलना–"यो यथा नियतो येन यादृशेन यथाविध । स तथा तादृशस्यैव तादृशोऽन्यत्र वोधक ॥"–न्याय० मा० पृ० ५७ । (२) पृ० ४२० प० ६ । (३) तुलना–' व्याप्यस्य गमकत्वञ्च व्यापक गम्यमिष्यते । यो यस्य देशकालाभ्या समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ॥ स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा । तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥ न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयो ।"–मी० श्लो० अनु० श्लो० ४–६ । (४) सर्वथा सामान्यविशेषाभ्या विलक्षणजातिकस्य कथञ्चिदुभयरूपस्य इत्यर्थ । (५) गम्यगमकरूपतया । (६) पृ० ४२१ प० ६ । (७) धूमत्वाग्नित्वविशिष्टधूमाग्निव्यक्त्यो । "तुलना–"सामान्यवतोरविनाभावग्रहणाभ्युपगमात् । यद्यपि अग्निविशेषा धूमविशेषाश्चानन्त्येनावस्थिता तथापि तेष्ववस्थितमग्नित्व धूमत्वञ्च सामान्यमुपग्राहकमस्तीति तदुपग्राहकवशात् भूयोदर्शनवलादग्निधूमयोर्देशादिव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम् "–प्रश० व्यो० पृ० ५७० । प्रश० कन्द० पृ० २१० । (८) यावान् कश्चिद्धूम स कालान्तरे देशान्तरे च अग्निजन्मैव अनग्निजन्मा कदापि न भवतीत्येव प्रकारेण । तुलना–"सर्वोपसंहारवती व्याप्ति "–तर्कभा० मो० पृ० १९ । (९) अननुगमदेशादिव्यभिचारादय । (१०) पृ० ४२१ प० ८ । (११) अभावसामान्ये । (१२) तुलना–"अविनाभाव एव हि नियम, साध्य विना न भवतीति कृत्वा ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७० । (१३) तुलना–"हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा । द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ।"–न्यायाव० श्लो० १७ । परीक्षामु० ३।९५ । प्रमाणनय० ३।२८ । प्रमाणमी० २।१।४ । (१४) अग्निसद्भाव । (१५) धूमस्य अग्निसद्भावनियतत्वाभावे, अग्नेर्वा धूमसद्भावनियतत्वे । (१६) तप्तायोगोलकादौ ।

§ एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 1 जात्यन्तरस्यैव ब० ।

अग्न्यभावे धूमोऽपि क्वचिदुपलभ्येत । यस्य येन विना नानुपपत्तिर्न स तेन नियतः यथा धूमाभावेप्युपपद्यमानोऽग्निर्न धूमेन नियतः, अग्निना विनाऽनुपपत्तिश्च धूमस्य, तस्मादसौ तन्नियत इति ।

यदप्युक्तम्[1]–'अग्न्यभावस्य पारमार्थिकत्वे धूमस्याविद्यमानत्वान्न तदाश्रिता व्याप्तिर्ग्रहीतुं[2] शक्या' इति, तदप्यसमीचीनम्, यतो यत्रैव देशे काले वा वास्तवोऽग्न्यभावः तत्रैव[2] धूमस्य अविद्यमानत्वं न सर्वत्रेति कथं तदाश्रिता[3] व्याप्तिः प्रत्येतुमशक्या ?

यदपि–'एकस्याग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते सर्वस्य वा' इत्याद्युक्तम्[4]; तदप्ययुक्तम्, यतो[5] व्याप्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते 'यः कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः' इति, न पुनः एकैकधर्म्युल्लेखेन[1] 'पर्वते गृहे अरण्ये वा धूमोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः' इति । तथा[6] तत्प्रतिपत्तौ अनन्तेनापि कालेन व्याप्तिप्रतिपत्तिर्न स्यात् धर्मिणामानन्त्यात् । अनुमानवैफल्यप्रसङ्गाच्च, अग्निधूमवतामशेषाणां धर्मिणां व्याप्तिग्रहणकाल एव गृहीतत्वात् ।

न च सर्वाग्निष्वगृहीतेषु धूमानुपपत्तेर्विशेषणभूतः तदभावो[7] ग्रहीतुमशक्य[2] इत्यभिधातव्यम्; यतः तदभावः[8] तदन्यदेशादिस्वभावः[9], भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य, तुच्छस्वभावाऽभावस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । स चाखिलाग्निविविक्तो देशादिः[10] प्रत्यक्षत[3] एव प्रतीयते । व्यवहार[11] एव हि प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्षः न स्वरूपप्रतिपत्तिः, कथमन्यथा[12] घटादेरपि प्रतिपत्तिः स्यात् तत्स्वरूपस्यापि[13] त्रैलोक्यविलक्षणतया त्रैलोक्याप्रतिपत्तावप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ?

यच्च–'अग्न्यभावाभावेऽपि क्वचिद् धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः' इत्याद्यभिहितम्[14]; तदप्यभिधानमात्रम् ; अग्न्यभावे सति धूमसद्भावस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वात् तद्विरोधे[15][4] स्वाभावस्येव[16][5] अग्न्यभावस्यापि निमित्तत्वोपपत्तेः । यद्[17] यस्मिन् सति नियमेन निवर्त्तते तत्तद्विरोधनिमित्तम् यथा उष्णस्पर्शसद्भावे शीतस्पर्शः, नियमेन निवर्त्तते चाग्न्यभावे धूमसद्भावः, तस्माद् धूमविरोधस्यासौ[18] निमित्तमिति । ननु अग्न्यभावे

(१) पृ० ४२१ पं० ११ । (२) महाह्रदादौ । (३) धूमाश्रिता । (४) पृ० ४२१ पं० १९ । (५) तुलना–"तत्र सर्वस्येति ब्रूम, यतो धूमानुपपत्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वः सर्वस्याग्नेरभावेऽनुपपन्नः"–स्या० र० पृ० ५०६ । (६) प्रतिनियतधर्मिव्यक्तिनिर्देशेन व्याप्तिप्रतीतौ आनन्त्यं बाधकम् तदाह तथेति । (७) अग्न्यभावः–आ० टि० । (८) अग्न्यभावः–आ० टि० । तुलना–"यतोऽग्न्यभावः तदन्यदेशादिस्वभावः भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य ।"–स्या० र० पृ०५०७। (९) तस्माद्विवक्षितवस्तुनो वह्नेरन्यदेशः पर्वतादिस्तद्ग्रहणस्वभाव इति–आ० टि० । (१०) महाह्रदादि । (११) अत्र घटाभावः अत्र अग्न्यभावः इति व्यवहारः । (१२) स्वरूपप्रतिपत्तिरपि यदि प्रतियोगिग्रहणापेक्षा स्यात्तदा । (१३) घटस्वरूपस्यापि । (१४) पृ० ४२२ पं० २ । (१५) धूमविरोधे । (१६) धूमाभावस्येव । (१७) तुलना–"तस्मात् यत्सद्भावे यस्य नियमेन निवृत्तिः तेन तद्विरुद्धमेव, अग्न्यभावे च सति धूमस्य नियमेन निवर्तमानत्वात् धूमाभावेनेव तेनापि तस्य विरोधः । तथाहि यस्मिन् सति यन्नियमेन निवर्तते"–स्या० र० पृ० ५०७ । (१८) अग्न्यभावः–आ० टि० ।

1–धर्मोल्ले–ब० । 2 ग्रहीतुं शक्य –ब० । 3–क्ष एव ब० । 4 तद्विरोधिस्वभावस्येव अग्न्यसभावस्या–श्र० । 5–वस्यैव ब० ।

धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वमसिद्धम्, गोपालघटिकादौ[1] तदभावेऽपि[2] तत्सद्भावप्रतीतेः, इत्यप्यसत्, तत्रापि त[3]त्सद्भाव एव तद्भावसंभवात्। धूमस्य हि भावः आत्मलाभः, स च अग्नौ सत्येव संवृत्तः, तत्कथं त[4]त्र अग्न्यभावे धूं[5]मसद्भावाशङ्कापि ? तर्हि पर्वतादाविव गोपालघटिकादावपि धूमोऽग्निं गमयेत्, इत्यप्ययुक्तम्, पर्वतादिधूमादस्यै वैलक्षण्यात्। वह्निसमानसमयसत्ताको हि पर्वतादिधूमो बहलपताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते, न चायं तथा, अतो नास्य अग्न्यनुमापकत्वम्।

यदप्युक्त[6]म्–'अविनाभावे सत्यपि न धूमात् पैङ्गल्यमनुमीयते' इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्, य[7]तो व्याप्त्यनुसारेण अनुमानं विधीयते, व्याप्तिश्च अग्नित्व-धूमत्वद्वारेणैवावसीयते न पैङ्गल्यादिधर्मद्वारेण, तेषामानन्त्यात् व्यभिचाराच्च। पैङ्गल्यं हि हरितालकाञ्चनादौ व्यभिचरदुपलभ्यते, भासुरत्व सूर्य-तारका-तडिदादौ, द्रव्यत्वं नवस्वपि द्रव्येषु, ऊर्ध्वगतित्वं वा[8]त्यादौ, इति अग्निगतानां धर्माणां व्यभिचारः। तथा धूमगतानामपि, तथाहि–श्यामत्वं नीलाञ्जनादौ, कटुकत्व त्रिकटुकादौ[9], अक्षिविकारकारित्व कटुतैलादौ, कण्ठग्राहित्वम् अपक्वजम्बूफलादौ, ऊर्ध्वगतित्व वाष्पादौ साधारणं दृश्यते। अतो येन एकेनैव रूपेण त्रैलोक्योदरवर्त्तिन्यो वह्निव्यक्तयो धूमव्यक्तयः तद्धर्माश्च संगृह्यन्ते तदेव रूपं व्याप्तिं नियमेन व्यवस्थापयति, तच्च अग्नित्वधूमत्वे मुक्त्वा नान्यद् भवितुमर्हति। न खलु यथा व[10]स्त्वन्तरसाधारणाः पैङ्गल्यादयः तथा अग्नित्व-धूमत्वे। त[11]द्वाचके चोच्चरिते शब्दे प्रतिपत्रा त्रैलोक्यविलक्षणः स्वधर्मकलापकलितोऽग्निः धूमश्चार्थः सगृह्यते इति सिद्धा त[12]द्द्वारेण व्याप्तिः साध्यसाधनयोः।

ननु यदि अन[13]योः वस्तुतो व्याप्तिरस्ति तर्हि प्रथमदर्शनकाले कस्मान्नोल्लिखतीति चेत् ? ग्राहकाभावात्। यत्काले यद्ग्राहकं नास्ति तत्काले तन्न प्रतिभासते यथा रूपदर्शनकाले रसः, अग्निधूमयोः प्रथमदर्शनकाले नास्ति च व्याप्तिग्राहकं ज्ञानमिति।

(१) इन्द्रजालघटादौ। "गोपालघुटिकादिषु"–प्रश० व्यो० पृ० ५७१। स्या० र० पृ० ५०७। (२) अग्न्यभावेऽपि धूमसद्भावप्रतीते। (३) अग्निसद्भाव एव। (४) इन्द्रजालघटादौ। (५) गोपालघटिकागतधूमस्य। तुलना–"पर्वतादिधूमादन्य वैलक्षण्यात्। वह्निसमानसमयसत्ताको हि पर्वतादिधूमो बहल पताकायमानस्वरूपोऽनुभूयते"–स्या० र० पृ० ५०७। (६) पृ० ४२२ प० ५। (७) तुलना–"यतो व्याप्त्यनुसारेणानुमानं विधीयते, व्याप्तिश्चाग्नित्वधूमत्वद्वारेणैवावसीयते"–स्या० र० पृ० ५०७। (८) वात्या–वातूल 'बवण्डर आंधी' इति भाषायाम्। (९) त्रयाणां कटूनां शुण्ठीमरीचपिप्पलीनां समाहारः त्रिकटुकम् "विश्वोपकुल्या मरिचं त्रयं त्रिकटु कथ्यते। कटुत्रयं तु त्रिकटु त्र्यूषणं व्योषं उच्यते॥"–भाव प्र० ५।६०। (१०) हरितालसुवर्णादयो वस्त्वन्तरम्। (११) अग्निधूमप्रतिपादके। (१२) अग्नित्वधूमत्वद्वारेण। (१३) अग्निधूमयोः।

1–भावे तत्स–श्र०, ब०। 2 धूमस्य स–श्र०। 3–धूमस्य वै–श्र०। 4 नीलोत्पलाञ्जनादौ ब०। 5 एकेन स्वरूपेण ब०। 6 तदेक रू–श्र०। 7 अग्निधूमत्वे श्र०। 8 सिद्धान्तद्वारेण ब०। 9 नास्ति व्या–श्र०। 10–कं तर्काख्यं ज्ञानमिति ब०।

विवृतिः—नहि[1] प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्। नाप्यनुमानान्तरम्; सर्वत्राऽविशेषात्। नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम। "तन्न अप्रत्यक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणम्" [ ] इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात्।

लिङ्गं हि साध्येन साधनस्य अविनाभावोऽभिधीयते, तस्मिन् सत्येव लिङ्गस्य लिङ्गत्वोपपत्तेः। तस्य प्रतिपत्तिः किं प्रत्यक्षात्, अनुमानतो वा स्यात्? प्रत्यक्षाच्चेत्, किम् अस्मदादिसम्बन्धिनः, योगिसम्बन्धिनो वा? प्रथमपक्षे किं स्वसंवेदनात्, इन्द्रियजात्, मानसाद्वा ततोऽसौ प्रतीयेत? न तावत् स्वसंवेदनात्, तस्य स्वरूपमात्रविषयतया बहिरर्थवार्त्तानभिज्ञत्वात्। इन्द्रियमनःप्रभवादपि प्रत्यक्षात् सविकल्पात्, निर्विकल्पाद्वा अविनाभावः प्रतीयेत? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, सविकल्पकप्रत्यक्षस्य सौगतैः प्रामाण्यानभ्युपगमात्। तदभ्युपगमेऽपि न तत्तत्र समर्थम्, इत्याह—**'न प्रत्यक्षम्'** इत्यादि। प्रत्यक्षं सौगतयौगकल्पितं मानसेन्द्रियलक्षणम् तन्न **'यावान् कश्चिद् धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थम्।** कुत एतत्? **सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः।** सन्निहितः अविप्रकृष्टदेशकालो यो विषयः अग्निधूमादिः साध्यसाधनव्यक्तिलक्षणः तस्य बलं सामर्थ्यं तेन उत्पत्तेः। एतेन निर्विकल्पकमपि न तत् ततः तत्र समर्थमिति प्रतिपत्तव्यम्। अत्रैव हेत्वन्तरमाह—**अविचारकत्वात्** इति। न विद्यते विचारः 'यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्नेरेव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति परामर्शो यस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य तस्य भावः तत्त्वात्। चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः। कथमस्याऽविचारकत्वमिति चेत्?

व्याप्तिनिर्णय इति चेत्, सोऽयं परस्पराश्रयदोषः। तन्नानुमानमपि व्याप्तिग्राहकमिति तद्ग्राहकं प्रमाणान्तरं तर्काख्यम् आञ्जसं पारमार्थिकं न मिथ्याविकल्पात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा अनुमानप्रामाण्यायोगात्।"—लघी० ता० पृ० ३०।

(१) तुलना—"यदाह नहीदमियतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थमिति।'—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।४१। "न हि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं क्वचित् कदाचिद् भवितुमर्हति सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्।"—सिद्धिवि०, टी० पृ० १५६। अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११९। "यथाह—न हीदमियतो व्यापारान् कर्त्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात्।"—ब्रा० भा० भामती पृ० ७६६। न्यायवा० ता० पृ० १३७। (२) उद्धृतमिदम्—प्रमाणमी० पृ० १०१। (३) तुलना—'सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः साकल्येनेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुमसत्यं तर्कं परं शरणम्।"—सिद्धिवि० टी० पृ० २९८। (४) अविनाभावे। (५) अविनाभावः। (६) सविकल्पकप्रत्यक्षम् अविनाभावग्रहणे। (७) प्रत्यक्षम्—आ० टि०। (८) सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः—आ० टि०। (९) व्याप्तिग्रहण—आ० टि०।

---

1 इति यतो ज० वि०। 2—नुमानन्—ज० वि०। 3 व्याप्तेरसि—ज० वि०। 4 प्रतीयते भ०। 5 तत्त्वाच्च चशब्दो आ०, ब०।

हि व्याप्तिरुल्लिख्यते। अनुसन्धानञ्च सकृदेकेन[1] सहितस्य[2] ग्रहणे अनु पश्चाद् अपरेण[3] सहितस्यैव ग्रहणम्। एतच्च[4] भूयोदर्शना[5]ऽदर्शनैरेव[6] उत्पद्यते। अन्वयव्यतिरेकौ च प्रयोजकसन्देहव्युदासार्थौ युक्तावेव। अनेकसहचारिदर्शने हि प्रयोजके सन्देहः–'किं धूमत्वप्रयुक्तोऽयं नियम, किं वा तार्णत्वश्यामत्वादिप्रयुक्तः?' इति। तत्र तार्णत्वादयः सम्बन्धिनो व्यभिचारिणः[7], श्यामत्वादयस्तु धूमापेक्षाः, इति धूमस्य अग्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमेव प्रयोजकम्। तस्मिन् सति न कदाचिदग्नित्वं व्यभिचरतीति भूयोदृष्टान्वयव्यतिरेकवतो विस्फारिताक्षस्य अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य अपरोक्षाकारतया उपजायमानत्वात् विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षमेवेदं व्याप्तिज्ञानमिति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं व्याप्तिग्रहणार्थं तर्कस्यैव प्रथरू प्रामाण्यसमर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[8]–'प्रत्यक्षेणैव अविनाभावः प्रतीयते' इत्यादि; तत्र[9] किम् ऐन्द्रियम्, मानसं वा प्रत्यक्षं तद्ग्रहणे प्रवर्त्तेत? न तावद् ऐन्द्रियम्, तद्धि[10] येनार्थेन प्रतिनियतदेशकालादिना इन्द्रियं सम्बध्यते तमेव अवभासयति न तु व्याप्तिम्, तस्याः सकलदेशकालकलापरिगतार्थाक्षेपेण[11] अवस्थितत्वात्। सा[12] हि गृह्यमाणा त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् अतीतानागतवर्त्तमानाऽशेषार्थानामुपसंहारेण गृह्यते। यतो व्यापनं व्याप्तिः, सर्वासां व्याप्यव्यक्तीनां व्यापकव्यक्तीनाञ्च व्याप्यरूपतया व्यापकरूपतया च क्रोडीकरणम्। न च तत्र[13] इन्द्रियस्य सम्बन्धो ग्रहणसामर्थ्यं वा सम्भवति, वर्त्तमाने नियत एवार्थे[14] तत्सम्भवात्। न च विश्वोदरवर्त्तिन्यो व्यक्तयः सर्वा तेन[15] सम्बद्धा वर्त्तमाना वा, तत्कथं प्रत्यक्षतस्तत्र[16] व्याप्तिप्रतिपत्तिः?

किञ्च, प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायम्, अन्वयव्यतिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत्? न तावत् प्रत्यक्षमात्रम्, भूभवन[17]वर्द्धितोत्थितमात्रस्य प्रथमाऽग्निधूमव्यक्तिदर्शनेऽपि व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्।

यदप्युक्तम्[18]–'प्रथमप्रत्यक्षेपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्गतो नियमोऽपि प्रतिभासते' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यत. पुरोदृश्यमाने[19] नियताग्नि-

(१) महानसाग्निना–आ० टि०। (२) धूमस्य। (३) चत्वराग्निना। (४) अनुसन्धानम्। (५) अन्वय–आ० टि०। (६) व्यतिरेक–आ० टि०। (७) तृणनिर्मितकटादिष्वपि भावात्। (८) पृ० ४२८ प० ३। (९) तुलना–"तत्र किमैन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणे प्रवर्तते।"–स्या० र० पृ० ५१०। (१०) तुलना–"न तावत्प्रत्यक्षम्, सन्निहितदेशवर्तमानकालवस्तुविषयनियमात्। येन हि प्रमाणेन सर्वदेशेषु च धूमादीनामग्न्यादिसम्बन्धोऽवगम्यते, तेन तेषां सम्बन्धनियमोऽवगम्यते। न च प्रत्यक्षं तत्र समर्थम्।"–प्रक० प० पृ० ६८। अष्टसह० पृ० ४३। प्रमेयक० पृ० ३४६। स्या० र० पृ० ५१०। चित्सु० पृ० २३८। (११) सर्वोपसंहारेण। (१२) व्याप्ति। (१३) सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिषु। (१४) सम्बन्ध-ग्रहणसामर्थ्ययोः सम्भवात्। (१५) इन्द्रियेण। (१६) विश्ववर्तिषु व्याप्यव्यापकव्यक्तिषु। (१७) भूमिगृह–आ० टि०। (१८) पृ० ४२८ प० ३। (१९) सन्निधीभूते महानसादौ।

1 विशिष्ट द–आ०।

सम्बन्धित्वेन धूमस्तत्र प्रतिभासेत, अनियताखिलाग्निसम्बन्धित्वेन वा ? प्रथमपक्षे कथं प्रथमदर्शने व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? प्रतिनियतव्यक्तौ व्याप्तेरेवाऽसंभवात्, तस्या[2]ः सर्वाक्षेपेण पर्यवसानात्। द्वितीयपक्षे तु आस्तां प्रथमप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षशतैरपि न व्याप्तिः प्रत्येतुं शक्या, तेषां[3] सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया 'यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्नौ[4] एव' इति सर्वाक्षेपेण अविनाभावप्रतिपत्तावसमर्थत्वात्।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यप्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इत्ययमपि पक्ष[5]ः प्रत्युक्तः।

नाप्यन्वयव्यतिरेकसहकृतं तत्[6] तां प्रतिपत्तुं समर्थम्, यत. तत्सह[7]कृतस्याप्यस्य यत्रैव स्वयं प्रवृत्तिः तत्रैव तत्[8]प्रतिपत्तिर्घटते न पुनः 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः, यत्र अग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति सर्वाक्षेपेण, तत्र[9] च व्याप्तिप्रतिपत्ते[10]र्वैयर्थ्यम्। अनुमानार्थं हि सा इष्यते, प्रत्यक्षेण च प्रतिपन्ने साध्यसाधनव्यक्तिविशेषे किमनुमानेन ? [11]अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वञ्चास्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिः, स्वविषये प्रवर्त्तमानस्य अतिशयाधानं वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः, स्वार्थातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिलक्षणसहकारित्वस्य क्वचिदप्यप्रतीतेः। न खलु प्रदीपसहकृतं चक्षू रसादौ प्रवर्त्तमानं प्रतीयते। स्वविषये[1] प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधानञ्च अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वे सिद्धे सिद्ध्येत्। तच्च[12] असिद्धम्, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात्तस्य। न च तत्[13]सहकृतस्यापीन्द्रियजाध्यक्षस्य कश्चनोत्कर्षो जायते, येन स्वविषयातिक्रमेणाप्यर्थान् गृह्णीयात्।

एतेन 'भूयोदर्शनावगताऽन्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इति[14] प्रत्युक्तम्। किञ्च, [15]इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात् तत्[16]प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिः प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ? न तावद् विद्यमानत्वात्; रसादेरपि चाक्षुषत्वानुषङ्गात्, व्याप्तिवद् धूमादौ [17]तत्सत्त्वस्याप्यविशेषात्। नापि स्वविषयत्वात्, तस्या[18]ः तद्[19]विषयत्वानुपपत्तेः। [20]अनियतविषया हि व्याप्तिः, [तां] कथं नियतविषयमिन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं प्रतिपद्येत ?

(१) तुलना–"यत पुरोदृश्यमानाग्निसम्बन्धित्वेन धूम प्रथमप्रत्यक्षे प्रतिभासेत, सकलाग्नि सम्बन्धित्वेन वा ?"–स्या० र० पृ० ५१०। (२) व्याप्ते। (३) प्रत्यक्षाणाम्। (४) सत्यव भवति अग्न्यभावे तु कदाचिदपि न भवतीत्यध्याहार्यम्। (५) पृ० ४२८ प० ७। (६) प्रत्यक्षम्। (७) सहसृग अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्यापि प्रत्यक्षस्य। (८) व्याप्ति। (९) प्रत्यक्षविषयीभूत धूमाग्निव्यक्तिविशेषे। (१०) व्याप्तिप्रतिपत्ति। (११) तुलना–"अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वं हि प्रत्यक्षस्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्ति, स्वविषये प्रवर्त्तमानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यामतिशयाधानं वा ?"–स्या० र० पृ० ५११। (१२) अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वम्। (१३) अन्वयव्यतिरेकसहकृतस्य। (१४) पृ० ४२८ पं० ८। (१५) तुलना–"किञ्च, इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात् तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्ति प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ?"–स्या० र० पृ० ५११। (१६) इन्द्रियप्रभव। (१७) यथा धूमादिषु व्याप्तिरस्ति एवमाम्रादौ रसादित्वमपि–आ० टि०। (१८) व्याप्ते। (१९) प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्ते। (२०) तुलना–"अनियतविषया हि व्याप्तिर्गिनि कथं नियत विषयेन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षना प्रतिपद्येत"–स्या० र० पृ० ५११।

1 स्वे विषये ब०।

यदप्यभिहितम्[1]–'अनुसन्धानेन हि व्याप्तिरुल्लिख्यते, तच्च[2] भूयोदर्शनादर्शनैरेव उत्पद्यते[1]' इत्यादि, तदुपपन्नमेव, उपलम्भानुपलम्भप्रभवस्यैव[2] ज्ञानस्य[3] अस्माभिः[4] व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यस्य समर्थयितुमुपक्रान्तत्वात्। प्रत्यक्षरूपता तु तस्य[5] अनुपपन्ना, विभिन्नसामग्रीविषयत्वात्। तद्धि[6] इन्द्रियादिसामग्रीकं सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयञ्च प्रसिद्धम्, नचेद[7] तथा इति कथ प्रत्यक्षरूपतां प्रतिपद्येत ?

ननु सामान्यस्य[8] व्याप्तिप्रतिपत्तौ प्रयोजकत्वात्, तस्य च इन्द्रियेण सम्बद्धत्वात्[9] वर्त्तमानत्वाच्च कथन्न व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्षम् ? इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतः किं सामान्यस्य सामान्येन व्याप्तिः, उत तदुपलक्षितविशेषाणां[10] तदुपलक्षितविशेषैः ? तत्र आद्यपक्षे न किञ्चिद् व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनम् सामान्ये सिद्धसाधनतो[11]ऽनुमानवैफल्य[12]प्रसङ्गात्। तदुपलक्षितविशेषाणां तु आनन्त्यात् कथं सम्बद्धवर्त्तमानता यतो व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यात् ?

एतेन 'भूयोदृष्टान्वय' इत्यादि[13] प्रत्युक्तम्, विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययस्य हि सम्बद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारितया प्रत्यक्षता युक्ता, न तु व्याप्तिज्ञानस्य तद्विपर्ययात्[14] इत्यसकृदावेदितम्। अथ अस्य[15] अप्रत्यक्षत्वे कथम् 'इन्द्रियापेक्षा' इत्युच्यते ? 'तत्कारणकारणत्वात्' इति ब्रूमः। व्याप्तिज्ञानस्य हि कारण प्रत्यक्षानुपलम्भौ तयोश्च इन्द्रियमिति। तन्न इन्द्रियप्रभवं प्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थम्।

नापि मानसम्[16], मनसो[17] बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरर्थे प्रवृत्त्यभावात्। "अस्वतन्त्र

(१) पृ० ४२८ प० १०। (२) अनुसन्धानम्। (३) तर्काख्यस्य–आ० टि०। (४) जैनैः। (५) उपलम्भानुपलम्भजस्य तर्कस्य। (६) प्रत्यक्षम्। (७) तर्काख्य ज्ञानम्। (८) धूमत्वस्य अग्नित्वस्य च। (९) संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावात्, चक्षुःसंयुक्ते अग्नौ धूमे च अग्नित्वस्य धूमत्वस्य च समवायात्। (१०) सामान्योपलक्षित। (११) अग्निधूमसामान्ययोः महानसादावेव प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। (१२) विशेषस्यैव साधनीयत्वात्–आ० टि०। (१३) पृ० ४२९ प० ६। (१४) सकलसाध्यसाधनव्यक्तिविषयतया सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरत्वाभावात्। (१५) व्याप्तिज्ञानस्य–आ० टि०। (१६) "तत्र केचिदाचक्षते मानसं प्रत्यक्षं प्रतिबन्धग्राहीति। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामनलसहचरितमनग्नेश्च व्यावर्त्तमानं धूममुपलभ्य विभावसौ नियतो धूम इति मनसा प्रतिपद्यते। मनश्च सर्वविषयं केन वा नाभ्युपेयते असन्निहितमप्यर्थमवधारयितुं क्षमम्। भावाभावसाहचर्यमवधार्य मनसा नियमज्ञानसिद्धेरित्यलं निर्बन्धेन।'–न्यायम० पृ० १२१, १२३। 'तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहायान्मानसात् प्रत्यक्षात्। धूममग्निसहचरितमिन्द्रियेणोपलभ्यानग्नेश्च जलादेर्व्यावर्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीति।'–न्यायकलि० पृ० ३। (१७) तुलना–"प्रत्यक्षं मानसं येषां सम्बन्धं लिङ्गलिङ्गिनोः। व्याप्त्या जानाति तेऽप्यर्थेऽतीन्द्रिये किमु कुर्वते॥ यद्याक्षाणि प्रवर्त्तन्ते मानसं तत्र वर्त्तते। नोऽन्यथाक्षादिवैधुर्यप्रसङ्गात् सर्वदेहिनाम्॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७९। 'न चातीतानागतानां व्यक्तीनां मनसा सङ्कलनमिति न्याय्यम्, मनसो बहिरर्थे स्वातन्त्र्ये अन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गात्।"–प्रश० कन्द० पृ० २१०। 'मनस्तेद्बहिर्विषये बाह्यानपेक्षं प्रवर्त्तेत तदा सर्वं सर्वदर्शी स्यादविशेषात्।"–प्रश० प० पृ० ६९। बृह० प० पृ० ९५। न्याय० मा० पृ० ५८। प्रमेयक० पृ० ३५१। स्या० र० पृ० ५११।

1 उत्पद्येत आ०, ब०। 2 उपलम्भप्रभ–द०।

बहिर्मन:[1]" [ ] इत्यभिधानात्। व्याप्तिश्च बहिरर्थधर्मत्वाद् बहिरर्थ:, यो बहिरर्थधर्म: स बहिरर्थ: यथा रूपादि:, बहिरर्थधर्मश्च व्याप्तिरिति। भवत्कल्पितस्य[2] मनस: पट्पदार्थपरीक्षायां[3] प्रतिषेधतोऽसत्त्वाच्च कथं तद्भवं[4] प्रत्यक्षतां प्रतीयात्। सत्त्वे वा न अणुस्वभावस्यास्य[5] अशेषार्थै: सकृत् सम्बन्धसंभव:, यदणुस्वभावं न तत् सकृदशेषार्थै: सम्बध्यते यथा परमाणु:, अणुस्वभावञ्च भवत्कल्पितं मन इति। अथ साक्षात् मनसोऽशेषार्थै: सम्बन्धाभावेऽपि परम्परयाऽसौ[6] भविष्यति; तथाहि–मनसा साक्षात् संयुज्यते आत्मा तेन च संयुक्ता: सर्वेऽग्न्यादयो धूमादयश्च साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति; तदप्यपेशलम्; एवं[7] सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसङ्गात्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सर्वार्थानां मनसा सम्बद्धसंब[8] (सम्बन्धसम्बन्धस) भवात्।

किञ्च, असौ[9] सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनस: सद्भिरेव अर्थै: स्यात् नाऽसद्भि:[10]; तत्कथं तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति: ? न चात्मनो व्यापित्वं सिद्धम्, तस्य[11] षट्पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चत: प्रतिषेधात्[12], तत्कथं सम्बन्धसम्बन्धगन्धोऽपि स्यात् ? अतो दृष्टान्त एव साध्यसाधनयो: भवता व्याप्ति: प्रतिपत्तव्या, तथा च अनुमानानुत्थान साध्यधर्मिणि साध्यधर्मेण हेतोर्व्याप्त्यनिश्चयात्। तन्न सौगतमते यौगमते वा ऐन्द्रियं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तेरङ्गमिति स्थितम्।

एतेन योगिप्रत्यक्षस्यापि[13] अविनाभावप्रतिपत्त्यङ्गत्वं प्रत्याख्यातम्; तस्याप्यविचारकतया[14] कारणभूतप्रतिनियतसन्निहितार्थगोचरचारितया चैतावतो[15] व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थत्वाविशेषात्। अस्तु वा तत: तत्प्रतिपत्ति:, तथापि–योगी[16] प्रत्यक्षतो व्याप्तिं

(१) तुलना–"परतन्त्र वहिर्मन ।"–विधिवि० पृ० ११४। लौकिकन्या० टृ० पृ० ८२। उद्धृतमिदम्–स्या० र० पृ० ५११। (२) यौगपरिकल्पितस्य। (३) पृ० २६९। (४) मनोभव ज्ञानम्। (५) मनस। (६) सम्बन्ध। (७) आत्मव्यापकत्वप्रयुक्तसयुक्तसयोगवशात् अशेषधूमाग्नि व्यक्तीना मनसा सम्बन्धकल्पने। (८) परम्परासम्बन्ध, मन सयुक्त आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वेऽर्था इति। (९) तुलना–"किञ्चासौ सम्बद्धसम्बन्धोऽपि सद्भिरेवार्थै नासद्भिरतीतानागतै तत्कथ तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति ?"– स्या० र० पृ० ५१२। (१०) अतीतानागतदेशकालभावैरिति–आ० टि०। (११) आत्मनो व्यापित्वस्य। (१२) पृ० २६१। (१३) तुलना–"अन्ये तु व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपत्तुर्योगिन इवाशेषविषय परिज्ञानमस्तीति ब्रुवते। अन्यथा हि सर्वो धूमोऽग्नि विना न भवतीति व्याप्तिस्मरण न स्यात्। विवेकेन चाप्रतिभास समानाभिव्याहारात् यथा धान्यराशिक्षिप्ताया व्यक्तेरिति।"–प्रश० व्यो० पृ० ५७०। "यस्तु मन्यते प्रज्ञाकरगुप्त योगिज्ञान व्याप्तिज्ञानमिति।"–सिद्धिवि० टी० पृ० १०५ B (१४) योगिप्रत्यक्षस्यापि। (१५) यावान् कश्चिद्धूम स सर्वोऽग्निजन्मा अनग्निजन्मा वा न भवतीत्येतावत (१६)तुलना–"योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घट। सर्वत्रानुमितिज्ञानाभावात् सकलयोगिन ॥ परार्थानुमितौ तस्य व्यापारोऽपि न युज्यते। अर्थान्स्वय व्याप्तिमजानान जनान् प्रति ॥ योगिनोऽपि प्रति व्यर्थ स्वस्वार्थानुमिताविव। समारोपविशेषस्याभावात् सर्वत्र योगिनाम् ॥"–तत्त्वार्थ श्लो० पृ० १७९। प्रमेयक० पृ० ३५१।

1 तत्प्रभव ब०। 2 सम्बन्धसभवात् ब०। सम्बद्धसम्ब–आ०। 4 सम्बद्धसम्ब–... 5 वैना–ब०।

प्रतिपद्य स्वार्थमनुमानं विदध्यात्, परार्थं वा ? न तावत् स्वार्थम्, सकलसाध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणां प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नत्वेन अस्य[1] अफलत्वात्। यत् प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नम् न तत्र अनुमानं फलवत् यथा प्रत्यक्षस्वरूपे, प्रत्यक्षतः परिस्फुटतया प्रतिपन्नाश्च योगिनो निखिलाः साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति। न च तथा[2] तत्प्रतिपन्नेष्वप्येतेषु[3] समारोपव्यवच्छेदार्थं सफलमेवानुमानमित्यभिधातव्यम्, योगिनो विधूतकल्पनाजालतया[4] समारोपस्यैवाऽसंभवात्। अथ परार्थं योगिनोऽनुमानम्, ननु[5] गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं परार्थानुमानेन योगी प्रतिपादयेत् ? यदि गृहीतव्याप्तिकम्; कुतस्तेन[6] गृहीता व्याप्तिः ? न तावत् स्वसंवेदनेन्द्रियमनोविज्ञानैः; तेषां तदविषयत्वप्रतिपादनात्[7]। नापि योगिप्रत्यक्षेण, अनुमानानर्थक्यानुषङ्गात्[8]। अगृहीतव्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिः अतिप्रसङ्गात्। तन्न कुतश्चिदपि प्रत्यक्षात् साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं शक्या[9]।

कारिका-विवृत्योर्व्याख्यानम्—

अतः सूक्तम्–'**अविकल्पधिया**' इत्यादि। न विद्यते विकल्पः स्वपरव्यवसायो यस्याः सा चासौ धीश्च तया परोक्षया[10] ज्ञानान्तरानुभवनिश्चयात्मिकया च **न किञ्चित्** स्वभावविषयं कार्यादिविषयं वा **लिङ्गम्** अविनाभावः[11] **सम्प्रतीयत** इति। तर्हि अनुमानात् तत्सम्प्रतीयते इत्यत्राह–**न अनुमानात्** 'लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानम्' इत्येव लक्षणात् तत्सम्प्रतीयते; तथाहि–प्रथमानुमानं हेतोः अविनाभावावसाये समर्थम्, अनुमानान्तरं वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, तदनुमानस्य[12] **असिद्धत्वात्।** अत एव तत्सिद्धौ[13] अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि हेतोरविनाभावे ततस्तदुत्पत्तिसिद्धिः[14], तत्सिद्धौ च हेतोरविनाभावसिद्धिरिति। **नाप्यनुमानान्तरम्;** यतः तदपि प्रतिपन्नाऽविनाभावात् हेतोरुत्पद्यते, तत्प्रतिपत्तिश्च[15] तत्र प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे दूषणमाह–'**सर्वत्र**' इत्यादि। सर्वत्र प्रथमानुमानवत् द्वितीयेऽप्यनुमाने **अविशेषात्, 'न प्रत्यक्षम्'** इत्यादेर्दोषस्य अभिधानात्[16]। अनुमानतोऽपि तत एव, अन्यतो वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? यदि तत एव, अन्योन्याश्रयः[17]।

---

(१) अनुमानस्य। (२) परिस्फुटतया। (३) योगिप्रत्यक्षज्ञानेष्वपि साध्यसाधनव्यक्तिविशेषेषु। (४) "प्रागुक्तं योगिनां तेषां तद्भावनामयम्। विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते॥"–प्रमाणवा० २।२८१। "तत्त्वस्वरूपविषयत्वेन विधूतकल्पनाजालम् अविकल्पकत्वाच्च स्पष्टं विशदतया[illegible]कारमेवावभासते।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८१। (५) तुलना–"नहि योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकमगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्।"–प्रमेयक० पृ० ३५१। (६) परेण प्रतिपाद्येन। (७) व्याप्त्यविषयत्व। (८) सकलसाध्यसाधनयोः स्पष्टं प्रतिभानत्वात्। (९) [illegible]। (१०) नैयायिकमते। (११) लिङ्गम्–अविनाभावः। (१२) प्रथमानुमानस्य व्याप्तिग्रहणात्पूर्वमनुत्पन्नत्वात्। (१३) अनुमानसिद्धौ। (१४) अनुमानोत्पत्ति। (१५) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च अनुमानान्तरे। (१६) समानत्वात्। (१७) सिद्धायां हि व्याप्तिप्रतिपत्तौ अनुमानोत्थानम्, सति च अनुमानोत्थाने व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति।

1–तदर्थक्यप्रसङ्गात् श्र०। 2 एतदनन्तरं ब० प्रतौ 'अविकल्पधिया इति [illegible] नास्ति। 3 [illegible]–श्र०। 4 'कार्यादिविषयं' नास्ति ब०। 5 सिद्धे हेतो–श्र०।

अथाऽन्यतः; तदा अनवस्था–तद्[1]उत्थापकहेतावप्यनुमानान्तरात्[2]प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। तन्न कुतश्चित् परस्य प्रतिबन्धसिद्धिः। मा भूत्, किं तया? इत्यत्राह–'**नहि**' इत्यादि। न खलु **साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचिद्** अनित्यत्वादौ वह्न्यादौ वा साध्ये व्यवहारे परमार्थे वा **किञ्चित्** स्वभावलिङ्गजं कार्यादिलिङ्गजं वा **अनुमानन्नाम**। इदमत्र तात्पर्यम्–यथा अनुमानमन्तरेण न किञ्चित् साध्यं सिद्ध्यति इति तदर्थमनुमानमिष्यते तथा तल्लिङ्गलिङ्गिव्याप्तिसिद्धिमन्तरेण त[3]दपि न सिद्ध्यति इति तद[4]र्थो सो[5]ऽपि इष्यतामविशेषात्। ततः किं जातम्? इत्याह–'**तन्न**' इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **न अप्रत्यक्षं** परोक्षम् **अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणमस्ति** किन्तु अनुमानमेव' इ[6]त्ययुक्तम्, **लिङ्गप्रतिपत्तेः** अविनाभावप्रतिपत्तेः तर्काख्यायाः **प्रमाणान्तरत्वाद्** अलिङ्गजाऽविशदस्वभावतया प्र[7]माणद्वयानन्तर्भूतत्वात्। ततः सूक्तम्–'**चिन्ता प्रमाणम् अनुमानादेर्हेतुत्वात्**' इति। कीदृशं तदनुमानम्? इत्याह–

लिङ्गा[8]त् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्ष[9]णात् ॥ १२ ॥
लिङ्गिधीरनुमा[10]नं तत्फलं हा[11]नादिबुद्धयः।

---

(१) अन्यानुमानोत्थापक। (२) व्याप्तिप्रतिपत्ति। (३) अनुमानमपि। (४) अनुमानसिद्ध्यर्था। (५) व्याप्तिसिद्धिरपि। तुलना–"तर्कसंवादसन्देहे निःशङ्कानुमतिः क्व ते।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९५। (६) 'तन्नाप्रत्यक्षम्' इत्यादि बौद्धोक्त वाक्यम्। (७) अनुमानप्रत्यक्षरूप। (८) व्याख्या–"अनुमानं प्रमाणं भवति। किम्? लिङ्गिधीः लिङ्गिनः साध्यस्य धीर्ज्ञानमित्यर्थः। लिङ्गमविनाभावसम्बन्धोऽस्यास्तीति लिङ्गीति विग्रहात्। तस्योत्पत्तिकारणमाह लिङ्गात् साधनात्। साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्, साध्येन इष्टाबाधितासिद्धरूपेण सह अविनाभावोऽन्यथानुपपत्तिनियमः तस्य अभितो देशकालान्तरव्याप्त्या निबोधो निर्णयः स एकं प्रधानं लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं तस्माल्लिङ्गादुत्पद्यमाना लिङ्गिधीरनुमानमित्यर्थः। नन्वस्य तर्कफलत्वात्कथं प्रमाणत्वमित्याशङ्क्याह–तत्फलं हानादिबुद्धयः, हानं परिहारः आदिशब्देन उपादानमपेक्षा च गृह्यते। तासां बुद्धयो विकल्पाः तस्य अनुमानस्य फलं भवन्ति, ततः फलहेतुत्वादनुमानं प्रमाणं प्रत्यक्षवदित्यभिप्रायः।"–लघी० ता० पृ० ३१। (९) "अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥" –**प्रश० भा० पृ० २००**। "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।"–**न्यायसू०** १।१। ३४-३५। "हेतुस्त्रिरूपः"–**न्यायप्र० पृ० १**। "पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः। अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"–**हेतुबि० प्र० परि०। प्रमाणवा० ३।१। तत्त्वसं० का०** १३६२। "त्रिरूपो हेतुः।"–**सांख्यका० माठ० पृ० १२**। "साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचनं हेतुः।" –**न्यायसा० पृ० ५**। "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।"–**न्यायाव० श्लो० २२**। "साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्"–**प्रमाणसं० पृ० १०२। न्यायवि० का० २६९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४। परीक्षामु० ३।१५**। "तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः–अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते।" –**प्रमाणप० पृ० ७२**। "निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः।"–**प्रमाणनय० ३।९**। "साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः।"–**प्रमाणमी० २।१।१२**। (१०) "लिङ्गदर्शनात्संजायमानं लैङ्गिकम्।"–**प्रश० भा० पृ० २००**। "अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः।"–**शाबरभा० १।१।५**। "प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्।"–**सांख्यसू० १।१००**। "अनुमानं मितेन लिंगेन अनु पश्चान्मानम्।"–**न्यायवा० पृ० २८**। "तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये

विवृतिः–नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः। नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा। न चात्र विसंवादोऽस्ति।

लिङ्गात् हेतोः। किंविशिष्टात् ? इत्याह–'**साध्य**' इत्यादि। साध्येन

कारिकाव्याख्यानम्–

इष्टाऽबाधिताऽसिद्धविशेषणविशिष्टेन **अविनाभावो** व्याप्तिः, तस्य **अभि** समन्तात् **निबोधो** निश्चयः **एकं** प्रधानं **लक्षणं** यस्य तस्मात् सुनिश्चिताऽन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणात् इत्यर्थः। **लिङ्गिनि** साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रयुज्यमाने गम्यमाने वा **धीः** ज्ञानम् **अनुमानम्।**

ननु 'प्रयुज्यमाने साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि' इत्ययुक्तम्, पक्षस्य प्रयोजनाभावतः

प्रतिज्ञाप्रयोगमनभ्युपगच्छतो बौद्धस्य प्रतिविधानम्–

प्रयोगानुपपत्तेः, सर्वत्र गम्यमान एवास्मिन् साधनात् साध्यसम्प्रतिपत्त्युपपत्तेः। अथ तत्प्रयोगस्य साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजनसंभवात् तदसंभवोऽसिद्धः; तन्न, तस्य तत्प्रतिपादनासंभवात्। स

ज्ञान तदनुमानम्।"–न्यायवि० २।३। "सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम्।"–न्यायसा० पृ० ५। "साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चायक स्मृतम्। अनुमान तदभ्रान्त प्रमाणत्वात् समक्षवत्॥"–न्यायाव० श्लो० ५। "साधनात्साध्यविज्ञानमनुमान "–न्यायवि० का० १६७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७। प्रमाणप० पृ० ७०। परीक्षामु० ३।१४। प्रमाणनय० ३।८। प्रमाणमी० १।२।७। न्यायदी० पृ० २०। जैनतर्कभा० पृ० १२। (११) तुलना–"तत्र लिङ्गदर्शन प्रमाण प्रमितिरग्निज्ञानम्। अथवा अग्निज्ञानमेव प्रमाणम्, प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति।"–प्रश० भा० पृ० २०६।

(१) तुलना–"पक्ष प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वय साध्यत्वेनेप्सित, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेष।"–न्यायप्रवे० पृ० १। "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृत पक्ष इति।"–न्यायबि० पृ० ७९। 'न्यायमुखप्रकरणे तु स्वय साध्यत्वेनेप्सित पक्षो विरुद्धार्थोऽनिराकृत इति पाठात्"–प्रमाणवार्तिकाल० परि० ४। "साध्याभ्युपगम पक्ष प्रत्यक्षाद्यनिराकृत।"–न्यायाव० श्लो० १४। "साध्य शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् "–न्यायवि० श्लो० १७२। "इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम्"–परीक्षामु० ३।१५। "अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सित साध्यम्'–प्रमाणनय० ३।१२। "सिसाधयिषितमबाध्य साध्य पक्ष।"–प्रमाणमी० १।२।१३। (२) उपनयवाक्यसामर्थ्यात् हेतो पक्षधर्मत्वसमर्थनाद्वा अर्थादापन्ने। (३) "तत्पक्षवचन वक्तुरभिप्रायनिवेदने। प्रमाण संशयोत्पत्तेस्तत साक्षान्न साधनम्। साध्यस्यैवाभिधानेन पारम्पर्येण नाप्यलम्। ननु–अव्यापिते हि विषये हेतुवृत्तेरसभवात्। विषयव्यापनादेव सिद्धौ चेत्तस्य शक्तता॥ उक्तमत्र विनाप्यस्मात् कृतक शब्द ईदृशः। सर्वेऽनित्या इति प्रोक्तेऽप्यर्थात्तन्नाशधीर्भवेत्॥ अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिबन्धत। त्रिष्वन्यतमरूपस्यैवानुक्तिर्न्यूनतोदिता॥"–प्रमाणवा० ४। १६–२३। हेतुवि० प्र० परि०। "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्ग प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादान वादिनो निग्रहस्थानम् व्यर्थाभिधानात्। ननु च विषयोपदर्शनाय प्रतिज्ञादचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव, न, वैयर्थ्यात् असत्यपि प्रतिज्ञावचने यथोक्तात् साधनवाक्यात् भवत्येवेष्टार्थप्रतिपत्तिरिति व्यर्थं तस्योपादानम्।–वादन्याय पृ० ६१–६५। "हेतोरपवृत्तौ प्रयोगे नावश्यं पक्षनिर्देश। यतश्च साधन साध्येनाप्रतिबद्ध तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्या प्रतिपत्तव्य इत्येतौ प्रयोगौ तस्मात् पक्षोऽपि तत्त्वेन न निर्देश्य। यत्र यदि पक्षो न निर्देश्य

1–पपत्तिरि–ता० वि०। 2 साध्यविनि–आ०।

हि केवलः सा[1]ध्यमर्थं प्रतिपादयेत्, हेतूपन्याससमन्वितो वा? यदि केवलः; हेतूपन्यासो व्यर्थः, प्रतिज्ञाप्रयोगमात्रादेव त[1]त्प्रतिपत्तेः सं[2]ज्ञातत्वात्। अथ हेतूपन्याससमन्वितः; तर्हि हेतोरेव त[1]त्र सामर्थ्योपपत्तेः किं तत्प्रयोगेणेति?

अत्रोच्यते–पक्षस्[3]य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धित्वादप्रयोगः, प्र[4]क्रमात् त[5]त्संसिद्धेः; प्रयोजनाऽप्रसाधकत्वात्, हेतूपन्यासापेक्षस्य त[6]त्प्रसाधकत्वाद्वा? न तावत् तत्सिद्धिप्रतिबन्धित्वात्; वादिना सम्यक् साधनात् स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे त[7]द्विपक्षाप्रसाधकत्वतः तत्प्रयोगस्य त[8]त्प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः। यत् यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकम् न तत्तस्य प्रतिबन्धकम् यथा धूमे काष्ठादिकम्, सम्यक् साधनतः स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकश्च प्रतिज्ञाप्रयोग इति।

प्रक्रमात्तत्सिद्धिश्च प्रतिज्ञावत् हेत्वादावप्यविशिष्टा, त[9]तस्तस्याप्यप्रयोगप्रसङ्गः। नहि शब्दस्य अनित्यत्वप्रतिज्ञाने कृतकत्वादिहेतुः घटादिदृष्टान्तश्च प्रक्रमान्न सिद्धयति। त[10]थाविधस्याप्यस्याभिधाने पक्षेण कोऽपराधः कृतः येनास्य तथाविधस्याभिधानं नेष्यते?

प्रयोजनाप्रसाधकत्वञ्च असिद्धम्, [11]प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य तत्प्रसाध्यप्रयोजनस्य सद्भावात्। प्रतिपाद्यो हि कश्चिन् मन्दमतिः कश्चित्तीव्रमतिः। तत्र यो मन्दमतिः न तस्य प्रकृतार्थप्रतिपत्तिविशेषः प्रतिज्ञाप्रयोगमन्तरेणोपपद्यते, नापि नैयायिकादेः पञ्चावयवप्रयोगे प्रतिपन्नसङ्केतस्यामन्दमतेरपि। [12]तद्प्रयोगे ते[13]न निग्रहस्थानाभिधानात्। "*हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्*" [न्यायसू० ५।२।१२] इति वचनात्। तीव्रमतेस्तु त[14]त्प्रयोगमन्तरेणापि हेतुप्रयोगमात्रात् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिप्रतीतेस्त[15]स्य वैयर्थ्ये हेतुप्रयोगस्यापि वैयर्थ्यं स्यात्, [16]निश्चिताऽविप्रतारकपुरुषवचनाद् 'अग्निरत्र' इत्यादिप्रतिज्ञाप्रयोगमात्ररूपादेव क[5]स्यचित् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्।

कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम्? न साधनवाक्यावयवत्वादस्य लक्षणमुक्तमपि तु असाध्य केचित् साध्य साध्य चासाध्य प्रतिपन्ना, तत्साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम्।"–न्यायवि० टी० पृ० ७७–७९। "असाधनाङ्गभूतत्वात् प्रतिज्ञाऽनुपयोगिनी।"–तत्त्वस० पृ० ४१८।

(१) साध्यार्थप्रतिपत्ते। (२) साध्यार्थप्रतिपत्तौ। (३) तुलना–"तस्यावचनं साध्यसिद्धि प्रतिबन्धकत्वात्, प्रयोजनाभावाद्वा?"–प्रमेयक० पृ० ३७३। "कथन्न पुनरस्या साधनाङ्गत्व किं सर्वत्र कथास्वनुपयोगात्, अथोपयुक्तस्याप्यन्यथैव परिग्रहात्?"–प्रश० किर० पृ० ३३५। (४) प्रकरणात्। (५) पक्षप्रयोगनसिद्धेः। (६) प्रयोजन। (७) स्वपक्षविरुद्धासाधकत्वात्। (८) साध्यसिद्धि। (९) यत हेत्वादीनामपि प्रकरणादेव सिद्धिस्तत। (१०) प्रकरणात् सिद्धस्यापि (११) तुलना–"तत्र मन्द प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात्।"–प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५०। (१२) प्रतिज्ञाया अप्रयोगे। (१३) नैयायिकेन। (१४) प्रतिज्ञाप्रयोग। (१५) प्रतिज्ञाप्रयोगस्य (१६) तुलना– "अविप्रतारकत्वानिश्चितपुरुषवचनमात्रादपि 'अग्निरत्र' इत्यादिरूपात् क्वचित् प्रमेयोऽर्थं सिद्धम्" हेतोरप्यसाधनताप्रसङ्गात् तद्विरहेणापि साध्यसिद्धेः।"–न्यायाव० टी० पृ० ४७। (१७) तीव्रमतं श्रद्धा

1 सामर्थ्यं प्र–श्र०। 2 संज्ञातत्वात् ब०। 3 पक्षमात्रसिद्धे श्र०। 4–त्र प्रति–ब०। 5 नियामकादे ब०।

एतेन हेतूपन्यासापेक्षस्य प्रयोजनप्रसाधकत्वात्' इत्यपि[1] प्रत्याख्यातम्, नियमाभावात्। क्वचिद् हेतुप्रयोगमन्तरेणापि केव[2]लस्यैव पक्षप्रयोगस्य प्रतिपाद्यस्य प्रतिपत्तिविशेषलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रतीतेः।

किञ्च, हे[1]तुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैकान्तिकत्वादिदोषानुषङ्गः, तमन्तरेण तत्र वास्तवगुणदोषविवेकस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। यथैव हि लक्ष्यनिर्देशं विना धानुष्कस्य इषुं प्रतिक्षिपतो गुणोऽपि दोषतया दोषोऽपि गुणतया तत्प्रेक्षकजनानां व्यामोहात् प्रतिभाति, त[2]न्निर्देशे तु त[3]द्गुणो लक्ष्यवेधप्रावीण्यलक्षणः तद्विपरीतत्वलक्षणश्च दोषः ते[4]षां यथावत् प्रतिभाति, एवं पक्षाऽनिर्देशे व्यामोहात् सम्यग्हेतावपि 'किमयं हेतुः साध्ये एव वर्त्तते तदभावे वा' इत्याशङ्काकलङ्कितत्वादनैकान्तिकः, 'विपक्ष एव वर्त्तिष्यते' इति विपरीताशङ्काऽनिवृत्तेः विरुद्धो वा स्यात्। पक्षनिर्देशे तु लक्ष्यनिर्देशे धानुष्कवत् [3]यथावत्त[5]द्गुणदोषयोः प्रतिपत्त्युपपत्तेः न कश्चिद् दोषः।

यदप्यभिहितम्[6]–'केवलस्यैव पक्षस्य साध्यप्रतिपादनसामर्थ्ये हेतूपन्यासो व्यर्थः' इति, तदप्यभिधानमात्रम्, एकाकिनः कारणस्य कार्यकारित्वाप्रतीतेः। न खलु बीजादेः केवलस्यैव अङ्कुरादिकार्यकरणे सामर्थ्यं दृष्टम्। नाप्येक[7]स्य त[8]त्र सामर्थ्ये अ[9]न्येषां वैयर्थ्यम्। क[10]थञ्चैवं हेतोः केवलस्यैव साध्यसिद्धौ सामर्थ्ये तत्समर्थनस्य उपनयादेश्च वैयर्थ्यंन्न स्यात्? पक्षस्य अर्थसिद्धौ हेत्वपेक्षणान्न त[11]त्सिद्धिनिबन्धनत्वम्, इत्यप्यसुन्दरम्, भ[12]वत्कल्पिताऽविकल्पकाध्यक्षस्याप्यर्थसिद्धिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात् त[13]त्सिद्धौ त[14]स्य विकल्पापेक्षणात्। अथ 'तत्[15]प्रतिपन्नमेवार्थं विकल्पो व्यवस्थापयति' इत्युच्यते, तर्हि

(१) तुलना–"तत्प्रयोगोऽत्र कर्त्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः ॥ अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः। प्रत्याय्यस्य भवेद्धेतुर्विरुद्धारेकितो यथा ॥ धानुष्कगुणसम्प्रेक्षिजनस्य परिविध्यतः। धानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरौ ॥ ततश्च सम्यग्हेतावपि विपक्षे एवायं वर्त्तते इति व्यामोहाद् विरुद्धदूषणमभिदधीत, पक्षोपन्यासात्तु निर्णीतहेतुगोचरस्य नैव दोषः स्यादित्यभिप्रायः यथा लक्ष्यनिर्देशं विना धानुष्कस्येषु प्रक्षिपतो यौ गुणदोषौ तौ तद्दर्शिजनस्य विपर्यस्तावपि प्रतिभातः–गुणोऽपि दोषतया, दोषोऽपि वा गुणतया, तथा पक्षनिर्देशं विना हेतुमुपन्यस्यतो वादिनो यौ स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षणौ गुणदोषौ तौ प्राश्निकप्रतिवाद्यादीनां विपरीतावपि प्रतिभात इति भावार्थः।"–न्यायाव० श्लो० १४-१६, टी० पृ० ४८-४९। (२) लक्ष्यनिर्देशे। (३) धानुष्कस्य कौशल्यम्। (४) प्रेक्षकजनानाम्। (५) वादिनः स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षणयोः गुणदोषयोः। (६) पृ० ४३६ प० १। (७) बीजस्य हेतोर्वा। (८) अङ्कुरोत्पादने साध्यप्रतिपादने वा। (९) क्षितिसलिलादीनाम् पक्षप्रयोगादीनां वा। (१०) तुलना–"तत्र च यद्दूषणमुक्तम्–नहि हेतोरिव तस्य सामर्थ्योपपत्तेः किं पक्षवचनेनेति, तदयुक्तम्, एवं हि हेतोः समर्थनापेक्षस्य साध्यसिद्धिनिबन्धनत्वोपपत्तेः तत्समर्थनमपि न स्यात्।"–स्या० र० पृ० ५५०। न्यायाव० टी० पृ० ८७। (११) साध्यसिद्धि। (१२) सौगत। (१३) अर्थसिद्धौ (१४) अविकल्पकाध्यक्षस्य। (१५) निर्विकल्पकप्रतिपन्न।

1 इत्यपि भा०। 2 केवलस्यान्वेव ब०। 3 यथावद्गुण–आ०। 4–वार्थकानां भा०। 5–नियमनम् ब०।

पक्षप्रतिपादितमेवार्थं हेतुः प्रतिपादयति, [1]तत्प्रतिपादितञ्च प्रमा[2]णान्तरं समर्थयत इत्यप्युच्यतामविशेषात्[1]। [2]इदमेव च पक्षस्य स्वरूपम्–यद् हेत्वपेक्षस्य अर्थप्रतिपादकत्वं नाम। '[3]पच्यते कोमलीक्रियते हेतुना सुकुमारप्रज्ञानां साध्यधर्मान्वितत्वेन व्यक्ततामापाद्यते [3]इति पक्ष.' इति व्युत्पत्तेः।

यदि च पक्षो नेष्यते कथं तर्हि सपक्षविपक्षव्यवस्था स्यात् तत्पूर्वकत्वात्त[5]योः ? तदभावे च त्रिरूपस्य हेतोरप्यनुपपत्तेरनुमानोच्छेदः स्यात्।

किञ्च, [7]प्रतिज्ञायाः प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत [8]अविशेषात्। न चैवम्, तत्र[9] तत्प्रयोगदर्शनात्। नहि [4]शास्त्रेऽनि[10]यतकथायां वा प्रतिज्ञा नाभिधीयते 'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' इत्याद्यभिधानानां [11]तत्रोपलम्भात्। '[12]परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्य' इत्यभ्युपगमे [5]वादेऽपि सोऽस्तु[13] [14]तत्रापि तेषां[15] [16]तादृशत्वादिति[17]।

पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य लिङ्गलक्षणत्वव्युदासपुरस्सरं तस्य अविनाभावैकलक्षणत्वसमर्थनम्—

ननु लिङ्गस्य साध्याविनाभावैकलक्षणत्वमयुक्तम्, त[18]स्य पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रयान्वितत्वेन एकलक्षणत्वायोगात्। तदनन्वितत्वे हेतोः असिद्धत्वादिदोषानुषङ्गात्। नहि पक्षधर्मत्वाभावे अस्य असिद्धत्वव्यवच्छेदः, सपक्षे सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासः, विपक्षेऽसत्त्वाभावे च अनैकान्तिकत्वनिषेधः कर्त्तुं [6]शक्य इति। उक्तञ्च—

(१) हेतुप्रतिपादितञ्च। (२) समर्थनरूपम्। (३) तुलना–"पच्यते इति पक्षः। पच् व्यक्तीकरणे। पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थ स पक्ष।"–न्यायप्र० वृ० पृ० १३। न्यायसारटी० पृ० १०१। (४) पक्षपूर्वकत्वात्। (५) सपक्षविपक्षव्यवस्थाया। (६) सपक्षविपक्षव्यवस्थाया अभावे। (७) तुलना–"प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत विशेषाभावात्। नहि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयत एव अनियतकथाया वा, 'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' इत्यादिवचनाना शास्त्रे दर्शनात्, 'विरुद्धोऽय हेतुरसिद्धोऽयम्' इत्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथाया प्रयोगात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८३। प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५१। (८) प्रयोगानर्हत्वाविशेषात्। (९) शास्त्रादौ। (१०) सुगोष्ठ्याम्। (११) शास्त्रे सुगोष्ठ्या वा। (१२) तुलना–"परानुग्रहप्रवृत्ताना शास्त्रकाराणा प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्येति चेत्, वादेऽपि सोऽस्तु, तत्रापि तेषा तादृशत्वात्, वादेऽपि विजिगीषुप्रतिपादनाय आचार्याणा प्रवृत्ते।" –अष्टसह० पृ० ८३। प्रमेयक० पृ० ३७३। स्या० र० पृ० ५५१। (१३) प्रतिज्ञाप्रयोगोऽस्तु। (१४) वादेऽपि। (१५) शास्त्रकाराणाम्। (१६) परानुग्रहप्रवृत्तिमत्त्वात्। (१७) प्रकारान्तरेण पक्षप्रयोगसमर्थनं निम्न ग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–प्रश० व्यो० पृ० ६०१। न्यायमं० पृ० ५७१। न्यायवा० ता० टी० पृ० २७५। प्रश० कन्द० पृ० २३५। प्रश० किर० पृ० ३३५। प्रमाणमी० पृ० ५१। (१८) 'हेतुस्त्रिरूप। किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति।" –न्यायप्रवे० पृ० १। "त्रैरूप्यं पुन लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, अनुमेय वक्ष्यमाणलक्षणम्, तस्मिन्लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमेकं रूपम्, तत्र सत्त्ववचनेन असिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम्। एवकारेण पक्षैकदेश

1 इत्यप्युच्यतेनाविशेषात् ब० 2 इदमेव पक्ष–आ, श्र०। 3 'इतिपक्ष' नास्ति ब०। 4 शास्त्रेनिय- आ०। 5 वादे सो–वादे सा–श्र०। 6 शक्यते इति ब०।

"हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥" [प्रमाणवा० ३।१४] इति ।

अत्रोच्यते–न पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय हेतोर्लक्षणम्, विपक्षेऽप्यस्य वर्त्तमानत्वात्, यद् विपक्षेऽपि वर्त्तते न तत् लक्षणम् यथा सत्त्वम् अग्ने, विपक्षेऽपि हेत्वाभासलक्षणे वर्त्तते च पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमिति । यदेवं हि विपक्षासाधारण स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रसिद्धम्, यथा भासुररूपोष्णस्पर्शवत्त्वम् अग्नेः । न चेद पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं

सिद्धो निरस्तो हेतु, यथा चेतनास्तरव स्वापात् इति । पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसंकोचलक्षण स्वापः एकदेशेन सिद्ध । न हि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्रसंकोचभाज, किन्तु केचिदेव । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेन एवकारेण असाधारणो धर्मो निरस्त । यदि हि अनुमेय एव सत्त्वमिति कुर्यात् श्रावणत्वमेव हेतु स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्ध सर्वो निरस्त । **सपक्षएव सत्त्वम्**, सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण, तस्मिन्नेव सत्त्व निश्चित द्वितीय रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्त, स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिक, अनित्य शब्द प्रमेयत्वात्, स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तूभयत्रापि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वावधारणवचनेन सपक्षव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्व कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थ स्यात्–सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयक न हेतु स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्त, यथा सर्वज्ञ कश्चिद् वक्तृत्वात्, वक्तृत्व हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । **असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्**, असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण, तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीय रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरास, विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरास, नित्य शब्द कृतकत्वात् खवत् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये हि अनित्यत्व विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति आकाशादौ नास्ति ततो नियमेनास्य निरास । असत्त्ववचनात् पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमर्थ स्यात्– विपक्षे एव यो नास्ति स हेतु । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति ततो न हेतु स्यात्, नत पूर्व न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्त ।" –न्यायवि०, टी० पृ० ३१–३३ । वादन्याय पृ० ६० । तत्त्वसं० पृ० ४०४ ।

(१) 'निश्चय'–प्रमाणवा० । (२) अभावादित्यर्थ –आ० टि० । (३) अस्य व्याख्या– "यत एवं तेन कारणेन हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकेषु निश्चयो वर्णित आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु 'असिद्धस्तु द्वयोरपि साधनम्' इत्यादिना । कस्य निरासेनेत्याह–असिद्धेत्यादि । आद्यादित्वात् तृतीयार्थे तसि विपक्षेण इत्यर्थ । तत्र असिद्धविपक्षेण पक्षधर्मत्वनिश्चयो वर्णित । विपरीतार्थो विरुद्ध, तस्य विपक्षेण अन्वयनिश्चय । व्यभिचार्यनैकान्तिक, तस्य विपक्षेण व्यतिरेकनिश्चय ।"–प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० । स्या० र० पृ० ५१८ । "तेन–प्रतिबन्धस्यास्यान्यथा [illegible] हेतो निरपि [illegible]'–प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । 'निश्चयस्तेन'–बृहदा० भा० वा० पृ० १५७१ । स्या० र० पृ० ५१८ । (४) हेत्वाभासेऽपि । तुलना–'निश्चितं पक्षधर्मत्वं विपक्षेऽसत्त्वमेव च । सपक्ष एव जन्मत्वं तत्त्रयं हेतुलक्षणम् ॥ केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेऽपि सम्भवात् । [illegible] ॥ [illegible] –तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९८ । (५) तुलना– यदेव हि [illegible] तदेव लक्षणतया लोके [illegible], यथा भासुररूपोष्णस्पर्शवत्त्वमग्नेः ।'–स्या० र० पृ० ५१८ ।

1 लक्षण तया लोके आ०, तल्लक्षणतया लोके भा० ।

तथा[1]विधं तत्पु[2]त्रत्वादौ तदाभासेऽपि गतत्वात् पञ्चरूपत्वादिवत् । अथ अन्यथानुपत्ति-नियमवत्त्रैरूप्यं तल्लक्षणं न त्रैरूप्यमात्रम्, [3]तथाविधञ्च तत् तदाभासे नास्तीति; तदप्य-सङ्गतम्, एवं सति त्रैरूप्यकल्पनाऽ[1]नर्थक्यप्रसङ्गात् तन्नि[4]यमादेवास्य गमकत्वोपपत्तेः ।

न खलु [5]कृतिकोदयात् शकटोदयाद्यनुमाने पक्षधर्मता सम्भवति । अथ '[6]कालाकाशादिः भविष्यच्छकटोदयादिमान् कृतिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलब्धकालादिवत्' इतीत्थमत्र[7] पक्षधर्मताऽभिधीयते, तर्हि न कश्चिद[8]पक्षधर्मको हेतुः स्यात्, काककार्ष्ण्यादेरपि प्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं सुशकत्वात्, तथाहि–जगत् प्रासादधावल्ययोगि काककार्ष्ण्ययोगित्वात् । तथा महोदध्याधाराऽग्नियोगि त[9]द् महानसधूमयोगित्वात् पूर्वोपलब्धजगत्वदिति । लोकविरोधः अन्यत्राप्यविशिष्टः । तन्न पक्षधर्मत्वं हेतोर्गमकत्वाङ्गम् ।

ना[10]पि सपक्षे सत्वम्, 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'

(१) विपक्षासाधारणम् । (२) तुलना–"न च सपक्षे सत्त्वं पक्षधर्मत्व विपक्षे चासत्त्वमात्र साधनलक्षणम्, स श्याम तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यत्र साधनाभासे तत्सद्भावसिद्धे । सपक्षे हीतरत्र तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्व प्रसिद्धम्, विवादाध्यासिते च तत्पुत्रे पक्षीकृते तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्, विपक्षे वाऽश्यामे क्वचिदन्यपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षेऽसत्त्व मात्रं च । न च तावता साध्यसाधनत्व साधनस्य ।"–**प्रमाणप० पृ० ७० । सन्मति० टी० पृ० ५९०। स्या० र० पृ० ५१८ । प्रमेयर० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । न्यायदी० पृ० २६ ।** (३) अविनाभावनियमवत्त्रैरूप्यम् । (४) अन्यथानुपपत्तिनियमादेव । (५) तुलना–"न हि शकटे धर्मिणि उदेष्यत्ताया साध्याया कृतिकाया उदयोऽस्ति तस्य कृतिकाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम् ।"–**प्रमाणप० पृ० ७१ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । स्या० र० पृ० ५१९ । प्रमेयर० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० ।** "नन्वेवमपि 'श्व उदेष्यति सविता अद्यतनादित्योदयात्, जाता समुद्रवृद्धिः शशाङ्कोदयदर्शनात्' इत्यादिप्रयोगेषु हेतो पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेर्न पक्षधर्मत्व तल्लक्षणम् ।"–**सन्मति० टी० पृ० ५९१ ।** (६) "तथा न चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्ध्यनुमान चन्द्रोदयात् (पूर्वं पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात् । चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्, यद्येव तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयो, तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमान चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ?"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३ ।** (७) कृतिकोदयादौ । (८) तुलना–"कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्ग ।"–**प्रमाणस० पृ० १०४ ।** "यदि पुनराकाश कालो वा धर्मी तस्योदेष्यच्छकटवत्त्व साध्य कृतिकोदयसाधनं पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराग्निमत्त्वं साध्य महानसधूमवत्त्व साधनं पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्नि गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतु स्यात् ।"–**प्रमाणप० पृ० ७१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०० । सन्मति० टी० पृ० ५९१ । स्या० र० पृ० ५१९ । जैनतर्कभा० पृ० १२ ।** "कृतिकोदयपूरादे कालादिपरिकल्पनात् । यदि स्यात्पक्षधर्मत्व चाक्षुषत्वं न किंचनौ (किं ध्वनौ)"–**जैनतर्कवा० वृ० पृ० १४० । न्यायाव० टी० पृ० ३५ ।** (९) जगत् । (१०) "तुलना–नि शेप सात्मकं जीवच्छरीर परिणामिना । पुसा प्राणादिमत्त्वस्य त्वन्यथानुपपत्तित ॥ सपक्षसत्त्वशून्यस्य हेतोरस्य समर्थनात् । नून निश्चीयते सद्भिर्नान्वयो हेतुलक्षणम् ॥ क्षणिकत्वेन न व्याप्तं सत्त्वमेव प्रसिद्ध्यति । सन्दिग्धव्यतिरेकाच्च ततोऽ

1–**नर्थक्यमितिप्रस–श्र० ।**

इत्यादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीतेः। विपक्षे बाधकप्रमाणबलात् अन्तर्व्याप्ति[1]सिद्धेरस्य[2] गमकत्वे बहिर्व्याप्तिकल्पनाऽनर्थक्यम्, अत[3] एव सर्वत्र गमकत्वोपपत्तेः। तन्न पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम्।

विपक्षे[1][4] पुनरसत्त्वमेव निश्चित साध्याऽविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव, अतस्त-देव[5] प्रधानं हेतोः लक्षणमस्तु अलं लक्षणान्तरेण। न च सपक्षे[2] सत्त्वाभावे हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गः, अन्तर्व्याप्ति[6]लक्षणस्य तथो[7]पपत्तिरूपस्य अन्वयस्य सद्भावात् अन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेक[8]वत्। नहि 'दृष्टान्तधर्मिण्येव अन्वयो व्यतिरेकश्च प्रतिपत्तव्य इति नियमो युक्तः, सर्वस्य[9] क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्। नहि निरन्वय क्षणिकत्व क्वचिदपि प्रसिद्धम्, शब्द-विद्युत्-प्रदीपादावपि विप्रतिपत्तेः[3]।

यदप्युक्तम्[10]–'पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयासंभवे हेतोरसिद्धत्वादिदोषानुषङ्गः' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अन्यथा[11]नुपपत्तिनिश्चयलक्षणत्वादेव अस्य[12] असिद्धत्वादिदोषपरिहार[4]सिद्धेः। स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवो विरुद्धाऽनैकान्तिकवत्। तथापि[13] अविनाभावप्रपञ्चत्वात् पक्षधर्मत्वादेः असिद्धादि (द्धत्वादि) व्यवच्छेदार्थमभिधाने निश्चितत्वस्यापि रूपान्तरस्य अज्ञाता[14]सिद्धताव्यवच्छेदार्थम्, अबाधितविषयत्वादेश्च बाधितविषयत्वादिव्यवच्छित्तये अभिधानप्रसङ्गः। तन्न सौगतपरिकल्पित पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोर्लक्षणं युक्तम्।

सिद्धि क्षणक्षये ॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१–२०२। "सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादे शब्दानित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीते।" –प्रमेयक० पृ० ३५५। स्या० र० पृ० ५१९।

(१) "पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्ति, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्ति। यथा अनेकान्तात्मक वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानय देशो धूमवत्त्वात्, य एव स एव यथा पारस्थानम्।'–प्रमाणनय० ३।३६। (२) सत्त्वस्य श्रावणत्वस्य वा। (३) अन्तर्व्याप्तेरेव। (४) तुलना–"साध्याभावे विपक्षे तु योऽसत्त्वस्यैव निश्चय। सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तथाह च॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५६। स्या० र० पृ० ५२१। (५) विपक्षासत्त्वमेव। (६) तुलना–"अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्।'–प्रमेयक० पृ० ३५६। स्या० र० पृ० ५२०। (७) तथा साध्ये सत्येव उपपत्ति साधनस्य। (८) अन्यथा साध्याभावे अनुपपत्ति अभाव साधनस्य। (९) शब्दादीनामपि द्रव्यार्थतया नित्यत्वाभ्युपगमात्। (१०) पृ० ४३८ पं० १२। (११) तुलना–"हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारसिद्धेः, स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासंभवात् अनैकान्तिकविरुद्धनार्थवत्। तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयाप्र-[illegible]। तस्य च असिद्धे व्यभिचारिणि विरुद्धे च हेत्वाभासेऽसंभवात्। –प्रमाणप० पृ० ७२। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० र० पृ० ५२१। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०। (१२) हेतो–आ० टि० (१३) [illegible] [illegible]। तुलना– [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]॥ [illegible] [illegible] न [illegible]। [illegible] हेतो [illegible]॥" –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३। प्रमाणप० पृ० ७२। स्या० र० पृ० ५२१। (१४) [illegible] [illegible] [illegible]–आ० टि०।

1 [illegible] [illegible]। 2 सपक्षसत्त्वा–[illegible]। 3 –[illegible] [illegible]। 4 –हारसि–[illegible], [illegible]।

यौगपरिकल्पितस्य पाञ्चरूप्यस्य प्रतिविधानम्—

नापि यौगोप[1]कल्पितं पञ्चरूपत्वम्, पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात्, साध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अबाधितविषयत्वादेरप्यसंभवात्[2], अतस्तदेव[3] प्रधानं हेतोर्लक्षणमस्तु किं[4] पञ्चरूपकल्पनया ? नहि 'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत्' इत्यादावपि[1] अविनाभावाभावादन्यद् बाधितविषयत्वं नाम प्रतीयते, बा[5]धितविपयत्व-अविनाभावयोः विरोधात्। साध्यसद्भाव एव हेतोः धर्मिणि सद्भावः अविनाभावः, तद[6]भावे एव च तत्र[7] तत्[8]संभवो विषयबाधेति।

किञ्च, अ[9]बाधितविपयत्व निश्चितम्, अनिश्चितं वा हेतोर्लक्षणं स्यात् ? न तावदनिश्चितम्, अतिप्रसङ्गात्, अज्ञायमानस्य ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वाच्च। नापि निश्चितम्; त[10]न्निश्चयनिबन्धनाऽसंभवात्। त[11]न्निबन्धनं हि अनुपलम्भः, संवादः, अन्यद्वा किञ्चित् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; स[12]र्वात्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वात्।

(१) "तत्र परोक्षोऽर्थो लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्, तच्च पञ्चलक्षणम्। कानि पुन पञ्च लक्षणानि ? पक्षधर्मत्व सपक्षधर्मत्व विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविपयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति। सिसाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी पक्ष, तद्धर्मत्व तदाश्रितत्वमित्यर्थ। साध्यधर्मयोगेन निर्ज्ञात धर्म्यन्तरं सपक्ष तत्रास्तित्वम्। साध्यधर्मसंस्पर्शशून्यो धर्मी विपक्ष ततो व्यावृत्ति। अनुमेयस्यार्थस्य प्रत्यक्षेणागमेन वाऽनपहरणमबाधितविषयत्वम्। सशयबीजभूतेनार्थेन प्रत्यनुमानतया प्रयुज्यमानेनानुपहतत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् एतै. पञ्चभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति।"–**न्यायमं० पृ० १७०। न्यायकलि० पृ० २। न्यायसा० पृ० ६।** "पञ्चसु वा चतुर्षु वा रूपेषु हेतोरविनाभाव परिसमाप्यते तस्मादबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयसंसूचनाय निगमनमिति"–**न्यायवा० ता० पृ० २०२।** "अतश्चानयो (कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमयो) व्यवच्छेदार्थमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्व च समानतन्त्रगतमभ्यूह्यम्, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्।"–**प्रश० व्यो० पृ० ५६५।** (२) तुलना–"साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्य अबाधितविषयत्वादेरसंभवात्"–**प्रमेयक० पृ० ३५७।** (३) अविनाभावित्वमेव। (४) तुलना–"अन्यथानुपपन्नत्वं रूपै कि पञ्चभि कृतम्। नान्यथानुपपन्नत्व रूपैः किं पञ्चभि कृतम्॥"–**प्रमाणप० पृ० ७२। स्या० र० पृ० ५२७।** (५) तुलना–"बाधाया अविनाभावस्य च विरोधादति। तथाहि–सत्यप्यविनाभावे यथोक्ते बाधासम्भव मन्यमानैरबाधितविषयत्वं रूपान्तरमुच्यते, सा चेय तत्सम्भावना न सभवति बाधाया अविनाभावेन विरोधात् सहानवस्थानलक्षणात्। तमेव विरोध साधयन्नाह–अविनाभावं हि इत्यादि। सत्येव हि साध्यधर्मे भावो हेतोरविनाभाव उच्यते, प्रमाणबाधा तु तस्मिन्नसति। यदि हि सत्येव तस्मिंस्तदभावविपयं प्रमाणं प्रवर्तेत तदास्य भ्रान्तत्वादप्रमाणतैव स्यादिति कुतो बाधा ? तत स हेतुस्तल्लक्षण साध्याविनाभावी धर्मिणि स्यात् अत्र च साध्यधर्म कथन्न भवेत् यतो बाधावकाश स्यात्। तस्मादविनाभावस्य प्रमाणबाधायाश्च सहानवस्थानम्, अविनाभावेनोपस्थापितस्य च तदभावस्य परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया विरोधेन एकत्र धर्मिण्यसभवादिति।"–**हेतुबि० टी० पृ० १९५ B। वादन्यायटी० पृ० १३८। न्यायमं० पृ० ४४८। प्रमेयक० पृ० ३५७। प्रमाणमी० पृ० ४१।** (६) साध्याभाव एव। (७) धर्मिणि विपक्षे। (८) हेतुसम्भव। (९) तुलना–"किञ्चाबाधितविपयत्वं निश्चितमनिश्चित वा हेतोर्लक्षण स्यात् ?"–**प्रमेयक० पृ० ३५८।** (१०) अबाधितविषयत्वनिश्चय। (११) तुलना–"तन्निबन्धन ह्यनुपलम्भ, सवादो वा स्यात।"–**प्रमेयक० पृ० ३५८।** (१२) तुलना–"सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी। विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादेरदृष्टावापि सत्त्वत॥"–**तत्त्वसं० पृ० ६५।** " स्वसर्वानुपलम्भयो। आरेका

1 –**वावपिविनाभावादन्यद्** आ०, –**दावविनाभावाभावादन्यद्** श्र०।

द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; प्रागनुमानप्रवृत्तेः संवादस्याऽसिद्धत्वात्। तदुत्तरकालं तत्सिद्ध्यभ्युपगमे त्वन्योन्याश्रयः, तथाहि—अनुमानात् प्रवृत्तौ संवादसिद्धिः; ततश्च अबाधितविषयत्वसिद्धेरनुमानप्रवृत्तिरिति। अथान्यत् किञ्चित्, तत् किं तद्विषयं प्रमाणान्तरम्, अविनाभावावगमो वा? तत्र प्रमाणान्तरात् कुतश्चिदबाधितविषयत्वावगमे हेतोरकिञ्चित्करत्वं साध्यस्यापि अत एवावगमात्। न ह्यसति साध्यसद्भावावगमे तद्बाधाविरहो निश्चेतुं शक्यः। अथाविनाभावावगमात् तदवगमः; तन्न; पञ्चरूपयोगिनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तिवादिनाम् अबाधितविषयत्वस्याऽनवगमे अविनाभावाऽवगमस्यैवाऽसंभवात्। ततोऽबाधितविषयत्वस्याऽसिद्धेः न तद्धेतोर्लक्षणं युक्तम्।

नाप्यसत्प्रतिपक्षत्वम्, यतः प्रतिपक्षः तुल्यबलः, अतुल्यबलो वा सत्त्वेन प्रतिषिध्येत? तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावानुपपत्तिः। ययोस्तुल्यबलत्वं न तयोर्बाध्यबाधकभावः यथा राज्ञोः, तुल्यबलत्वञ्च पक्षप्रतिपक्षयोरिति। अतुल्यबलत्वं तु अनयोः किंकृतम्—पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा? न तावत् प्रथमपक्षो युक्तः, पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यविशेषात्। नहि मूर्खत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वादेः पक्षधर्मत्वादिकं न संभवति, शास्त्रव्याख्यानलिङ्गस्यैव वा संभवति। द्वितीयपक्षोऽप्यसंभाव्यः, अनुमानबाधाया अद्याप्यसिद्धेः। नहि द्वयोः पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वम् अपरस्य च बाधकत्वं युक्तम्, अविशेषेणैव तत्प्रसङ्गात्। अन्योन्याश्रयश्च,

---

सिद्धते"—न्यायवि० का० ४०६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३। सन्मति० टी० पृ० १८। आत्मतत्त्ववि० पृ० ९४। तर्कभा० मो० लि० पृ० २२। न्यायली० पृ० २२। सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सर्वज्ञत्वमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वादसिद्धत्वम्, आत्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्तु परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारी।

(१) अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरम्। (२) संवादसिद्धिस्वीकारे। (३) अर्थक्रियायां सत्याम् अर्थक्रियास्थितिलक्षणः संवादः सिद्ध्यति। (४) तुलना—"तद्बाधाभावनिर्णीतिः सिद्धा चेत्साधनेन किम्। यथैव हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५। 'सदाप्यकिञ्चित्करत्वं हेतोः, यथैव हि हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये तत्साधनासमर्थत्वादकिञ्चित्करत्वं तथैव बाधाविरहनिश्चये कृतनिश्चयस्य तत्सद्भावसिद्धेस्तत्साधनाय प्रवर्तमानस्य सिद्धसाधनादपि इति।'—न्या० कु० पृ० ५२६। (५) प्रमाणान्तरादेव। (६) अबाधितविषयत्वावगम-आ० टि०। (७) यौगानाम्—आ० टि०। "एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभावः समाप्यते"—न्यायकलि० पृ० २। (८) तुलना—सत्प्रतिपक्षस्तु तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा सन् स्यात्।—प्रमेयक० पृ० ३५९। न्या० कु० पृ० ५२५। "अत्र आह तुल्ये लक्षणे हि इत्यादि। [illegible] तुल्यं लक्षणं [illegible] तस्मिन् दृष्टे प्रतियोगिनि [illegible] न तेषामपि [illegible] प्रतियोगी न दृश्यते [illegible]। किं कारणम्? [illegible] दृष्टप्रतियोगिनो [illegible]। न हि [illegible]। [illegible] —हेतुबि० टी० पृ० २०९ A। (९) [illegible] —आ० टि०। (१०) [illegible]।

1 [illegible] ब०। —[illegible] ब०। [illegible] ब०।

तथाहि–अतुल्यबलत्वे अनुमानबाधा, तस्याञ्च अतुल्यबलत्वमिति । ततः सूक्तम्–यथोक्ताल्लिङ्गात् **लिङ्गिधीः अनुमानमिति ।**

ननु चास्य[1] निष्फलत्वात् किं तत्स्वरूप[1]निरूपणप्रयासेन ? फलवता हि प्रमाणेन भवितव्यम् नान्येन [2]अतिप्रसङ्गात्, इत्याशङ्कापनोदार्थं '**तत्फलम्**' इत्याद्याह । तस्य अनुमानस्य **फलं हानम् आदि**र्यस्य उपादानानादेः तस्य **बुद्धयः** । ननु न किञ्चिद् वास्तवं प्रमाणमस्ति नापि तत्फलम् अन्यत्राऽविद्यावासनाविशेषात्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्; तदुभयसद्भावस्य वास्तवस्य '**पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्**' [लघी० का० ७] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वा[3]त् ।

अविनाभावस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव नियतत्वात् कार्यस्वभावहेतावेव तत्संभावनेति बौद्धस्य पूर्वपक्षः

अत्र सौगतः प्राह–यदुक्तं '[2]**साध्याविनाभाव**' इत्यादि; [3]तत्सूक्तम्, अविनाभावबलेनैव सर्वत्र हेतोः गमकत्वप्रतीतेः, स त्वविनाभावः [4]तादात्म्यतदुत्पत्तिनियतत्वात् [4]कार्यस्वभावहेतावेव अवतिष्ठते । तदात्म्येन हि स्वभावहेतोः अविनाभावः परिसमाप्यते, तदुत्पत्त्या[5] तु कार्यहेतोः । न च अन्यल्लिङ्गमस्ति, [5]अनुपलब्धेरपि स्वभावहेतौ अन्तर्भावात् । घटाद्यभावो[6] हि घटादिविविक्तभूतलादिस्वभावः, [7]तदनुपलब्धिश्च [8]तद्विविक्तभूतलादिस्वभावोपलब्धिः । [9]तत्प्रतिपत्तिश्च ऊहज्ञानात्; इ[7]त्यपि श्रद्धामात्रम्, कार्यहेतोरविनाभावस्य [10]प्रत्यक्षा-

(१) अनुमानस्य । (२) काकदन्तादीनामपि निरूपणप्रसङ्गात् । (३) पृ० २०८ । (४) "स च प्रतिबन्ध साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्यात् साध्यादर्थादुत्पत्तेश्च । अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् । ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धि ।"–**न्यायबि० पृ० ४०-४२ ।** "कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमो दर्शनान्न दर्शनात् ॥ यत् एव प्रतिबन्धवशाद् गमकत्वात्तस्मात् कार्यकारणभावाद्वा नियामकात् साध्यसाधनयोरव्यभिचारसाधकात् स्वभावाद्वा तादात्म्यलक्षणान्नियामकात् कार्यस्य स्वभावस्य च लिंगस्याविनाभाव साध्यधर्मं विना न भाव इत्यर्थ "–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३३ । हेतुबि० टी० पृ० ६ B.** । "यत्तादात्म्यतदुत्पत्त्या सम्बन्ध परिनिश्चितम् । तदेव साधन प्राहु सिद्धये न्यायवादिन ॥"–**तत्त्वस० पृ० ४२९ ।** (५) "इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगा स्वभावानुपलब्धौ सग्रहमुपयान्ति"–**न्यायबि० पृ० ५५ ।** "अनुपलब्धेस्तु स्वभावेऽन्तर्भाव ।"–**तत्त्वसं० पं० पृ० ४३१ ।** "स्वभावानुपलब्धिस्तु स्वभावहेतावन्तर्भावितेति तस्या तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्ध । व्यापककारणानुपलब्धी तु तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धवशादेव व्याप्यव्यापकयोर्निवृत्ति साधयत ।"–**हेतुबि० टी० पृ० ७ A.** । (६) "यस्मादेकज्ञानससर्गिणो प्रत्यक्षेण एकस्य ग्रहणमेव अन्यस्याग्रहणम्, तदग्रहणमेव च तस्याभावग्रहणम्, भावे हि तस्याग्रहणायोगात् । यदाह–अन्यहेतुसाकल्ये तदव्यभिचाराच्चोपलम्भ सत्ता, तदभावोऽनुपलब्धिरसत्ता, अन्योपलब्धिश्चानुपलब्धिरिति ।"–**प्रमाण वा० स्ववृ० टी० १।५ ।** (७) घटानुपलब्धि. । (८) घटरहित । (९) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च । (१०) तुलना–**न्यायकु० पृ० १२ टि० ३ ।** "यस्तु अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथम धूमस्यानुपलम्भ एक, तदनन्तरमग्नेरुपलम्भ ततो धूमस्येत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तर धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकाद् व्या

1–**पप्ररूपण**–ब० । 2 **साध्याविनाभावबलेनैव** आ० । 3 **तदसूक्तम्** श्र० । 4 **कार्यहेतोः स्वभाव** श्र०, **कार्यसद्भावहे**–ब० । 5–**त्त्या का**–ब० । 6–**लब्धेः** आ० । 7 **इत्याद्यपि** ब० ।

नुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः । तथाहि–अग्निधूमव्यतिरिक्तेषु उपलभ्यमानेष्वपि भूतलाद्यर्थेषु प्रथमम् अग्निधूमयोरनुपलम्भः एकः, अनन्तरम् अग्नेरुपलम्भः ततो धूमस्य इत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भः इति द्वावनुपलम्भौ, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन एकस्यामपि व्यक्तौ कार्यकारणभावावगमो भवति अग्नेः कार्यं धूमः । यश्च यत्कार्यः स तेन नियतः । यदि तेन नियतो न स्यात् तर्हि निरपेक्षत्वात् नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । यश्च नियतः स नियामकवान्, तदभावे स्वातन्त्र्यात् नित्यं सत्त्वासत्त्वयोः पुनः प्रसङ्गः स्यात् । ततश्चायमर्थः सम्पन्नः–यो यस्मादुत्पद्यमानः सकृदप्युपलब्धः स तस्मादेव नान्यस्मात्, अहेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वस्मात् सर्वस्योत्पत्तिः, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन स्वभावहेतुद्वयेन च कार्यहेतोः सार्वत्रिकी व्याप्तिः प्रतीयते ।

स्वभावहेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन, यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन । तथाहि–अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, ते चाऽक्षणिकान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्त्तेते, सा च सत्त्वम् । कस्मात् पुनः अक्षणिकात् क्रमयौगपद्ययोर्व्यावृत्तिरिति चेत् ? नानारूपत्वात् । कालतः पौर्वापर्यं हि क्रमः तद्विपरीतं यौगपद्यम्, इत्थञ्च ते नानारूपे, अक्षणिकत्वञ्च एकरूपता, एकरूपता-नानारूपते च एकाश्रिते विरुद्धे, अतः अक्षणिकान्निवर्त्तमानं सत्त्वं क्षणिक एव अवतिष्ठते प्रकारान्तरासंभवात् । नहि क्षणिकाऽक्षणिकव्यतिरिक्तस्तृतीयः प्रकारोऽस्ति यतस्तत्र अस्य वृत्तिराशङ्क्येत ।

प्तिगह इत्येषा सिद्धान्तः । तदुक्तम्–"धूमाधीर्वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥"–जैनतर्कभा० पृ० ११ । "प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।" –हेतुबि०पृ० ५३ B ।

(१) उपलम्भ इति शेषः । (२) धूमोऽग्निनियतः तत्कार्यत्वात् इति । (३) अग्निना । (४) "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ॥"–प्रमाणवा० १।३६ । (५) धूमोऽग्निनियामकः अग्निकार्यत्वेन तन्नियतत्वात् । (६) उत्पद्यत इति शेषः । (७) आगमोक्त-नियतत्वनियामकत्वरूपेण–आ० टि० । पूर्वोक्त नियतत्वनियामकत्वरूपेण हेतुद्वयम् । (८) "सत् शब्दः कृतको वा, यश्चैवं स सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति । अत्र व्याप्तिसाधनं विपक्षे बाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्या-भ्यामर्थक्रियाऽयोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् । [illegible] ति [illegible] । –वादन्याय पृ० ७ । तत्त्वसं० पृ० १४३ । हेतुबि० टी० पृ० १८३ A । क्षणभङ्ग-सि० पृ० २० । स्याद्वादमं० पृ० ८ टि० १ । (९) क्रमयौगपद्ये । (१०) अर्थक्रिया । (११) क्रमः [illegible] –हेतुबि० टी० पृ० १४३ B । (१२) [illegible] । (१३) सत्त्वस्य ।

1–[illegible] 2–[illegible] 3–[illegible] 4–[illegible]

अनुपलब्धिः पुनः सर्वा स्वभावानुपलब्धौ अन्तर्भवति । स्वभावानुपलब्धिश्च स्वभावहेतुः, तस्य च तादात्म्यमेव प्रतिबन्धः । अतोऽस्या न पृथक् प्रतिबन्धचिन्ता इति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि अविनाभावसम्भावनात कृत्तिकोदयादिहेतूना गमकत्वप्रदर्शनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[1]–'अविनाभावस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां नियतः' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्, न[2]हि तादात्म्यम् अविनाभावनियमनिमित्तम्; तस्मिन् सति भेदाभावेन सम्बन्धाभावे अविनाभावानुपपत्तेः, भेदाधिष्ठानत्वात् सम्बन्धस्य । न चानंशार्थवादिनः[3] तादात्म्यभेदौ मनागपि उपपद्य(द्ये)ते । तादात्म्यं हि तत्स्वभावता, तेन साध्येन साधनस्यैक्यम्, न चैक्ये भेदः संभवति, भेदे वा नैक्यम्, अतः कथं तदात्मतया शिंशपा वृक्षं गमयेत् ? ता[4]दात्म्येन च गमकत्वे हेतुग्रहणवेलायामेव त[5]द्व्यतिरेकितया साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् नानुमानस्य साफल्यम्। न ह्यगृहीतं लिङ्गं लिङ्गिविषयां धियमाधत्ते । गृ[6]हीतौ च यदि लिङ्गप्रतीतौ न लिङ्गी प्रतिभासेत् तदा कथं त[7]योस्तादात्म्यम् ? प्रतिभा[8]से तु सिद्धमनुमानस्य वफल्यम्, प्रति[9]ज्ञार्थैकदेशता च हेतोः । विप[10]रीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्तस्य[11] साफल्यञ्चेत्; ननु त[12]त्स्व-

(१) पृ० ४४४ पं० १० । (२) तुलना–"तथा वृक्षत्वशिशपात्वयोर्न तादात्म्यप्रतिबन्ध साध्यसाधनभावानुपपत्तिप्रसगात् । तथाहि–धर्मिण्युपलब्धे तत्तादात्म्यादुभयोरप्युपलम्भे कथ साध्यसाधनभाव ।"–प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । "अपि च तादात्म्ये कथ गम्यगमकभाव, न हि तदेव कर्म कर्तृ चेति युक्तम्, तस्य भेदाश्रयत्वात् ।"–न्यायवा० ता० पृ० १६३ । "न च तादात्म्ये गम्यगमकता घटते एकस्य सकृज्ज्ञातत्वाज्ञातत्वायोगात् ।"–बृह० पं० पृ० ९५ । "तादात्म्ये च यदनुमान तदपि न साधीय, सिद्ध हि लिङ्ग साध्य लैङ्गिकम्, न सिद्धस्य साध्यस्य च तादात्म्यमुपपद्यते ।" –प्रक० प० पृ० ६७ । "न च तादात्म्ये गम्यगमकभावव्यवस्था युक्ता, तस्या भेदाश्रयत्वात् । यदि शिंशपात्वे गृह्यमाणे वृक्षमगृहीत क्व तादात्म्यम् ? गृहीत चेत् क्वानुमानम् ?"–प्रश० कन्द० पृ० २०७। "अपि च यदि तादात्म्य गमकत्वागमिष्यते तदा साध्यसाधनयोर्भेदाभावेन सम्बन्धाभावादविनाभावानुपपत्ति" –स्या० र० पृ० ५३३ । (३) सौगतस्य । (४) तुलना–"तादात्म्ये तावद् गमकत्वाङ्गे हेतुसाध्ययोरव्यतिरेके गम्यगमकभाव एव दुरुपपाद । न खल्वगृहीत लिङ्ग लिङ्गिप्रतीतिमाधातुमर्हति । तत्र लिङ्गबुद्धौ लिङ्ग (लिङ्गी) प्रतिभासते न वा ? अप्रतिभासे तद्बुद्ध्या तदग्रहणात् कथ तस्य तदात्मकत्वम् । प्रतिभासे तु लिङ्गवत् प्रत्यक्ष एव सोऽर्थ इति किमनुमानेन ?"–न्यायम० पृ० ११३ । "तादाम्येन च गमकत्वे हेतुप्रतिपत्तिवेलायामेव साध्यस्यापि प्रतिपन्नत्वान्नानुमानस्य साफल्यम् ।"–स्या० र० पृ० ३५३। (५) हेतुतादात्म्येन अभिन्नत्वात् । (६) गृहीतिशब्दस्य सप्तम्येकवचनम् । लिङ्गग्रहणे सत्यपि, चशब्दस्य अप्यर्थकत्वात् । (७) लिङ्गलिङ्गिनो । (८) लिङ्गप्रतीतौ साध्यस्य प्रतिभासे । (९) साध्यसाधनयो वृक्षत्वशिंशपात्वयो तादात्म्ये हि प्रतिज्ञैकदेशभूत यत् वृक्षत्व साध्य तत्तादात्म्यापन्न शिंशपात्वमेव च हेतु इति साध्यस्य असिद्धत्वात् हेतोरप्यसिद्धत्वमिति भाव । (१०) तुलना–"विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थमनुमानमिति चेत्, न, तत्स्वरूपग्रहणे विपरीतारोपणावसराभावात् । न हि शिर पाण्यादिविशेषदर्शने सति स्थाणुसमारोप प्रवर्तते, तत्र तद्भेदादुपपद्येतापि, न हि शिर पाण्यादय एव पुरुष इति, तद्ग्रहणेऽप्यपुरुषारोप काम भवेत्, इह वृक्षत्वशिंशपात्वयोरभेदात् शिंशपात्वग्रहणे सति का कथा वृक्षेतरसमारोपस्य ।"–न्यायमं० पृ० ११३ । स्या० र० पृ० ५३५ । (११) शिंशपात्वसत्त्वादर्हेतो –आ० टि० । (१२) हेतुस्वरूपे ।

रूपे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वा विपरीतसमारोपः स्यात् ? तत्र प्रतिपन्ने कोऽवसरो विपरीतसमारोपस्य ? न हि शिरःपाण्यादिविशेषोपलम्भे स्थाणुसमारोपः समाविशति। तत्स्वरूपेऽप्रतिपन्ने तु का कथा विपरीतसमारोपस्य ?[1]

किञ्च, वृक्षत्वग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद् विशेषाग्रहणात् स्यात् कदाचिदशिंशपात्वसमारोपः, नतु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपः। शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षं वृक्षत्वं न तस्याऽप्रत्यक्षम्।[2]

किञ्च, साध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते, तथा वृक्षत्वेनापि किन्न शिंशपात्वं तादात्म्याऽविशेषात् ?[3] अथ शिंशपात्वमेव वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न वृक्षत्वं शिंशपात्वे, न तर्हि तादात्म्याद् गमकत्वम्, अपितु अविनाभावादेव। तत्र तादात्म्ये अविनाभावस्य नियतत्वम्।

नापि तदुत्पत्तौ, वह्न्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेषु श्यामत्वादिषु अविनाभावस्याऽनुपलब्धेः। न च सामान्ययोः कार्यकारणभावः किन्तु विशेषयोः, ययोश्चाऽनयोर्महानसादौ कार्यकारणभावोऽवगतः न तयोर्गम्यगमकभावः, ययोस्तु पर्वतस्थयोः गम्यगमकभावः न तयोः कार्यकारणभावोऽवगतः। न चानवगते तस्मिन्[4] तयोरविनाभावो ग्रहीतुं शक्यः।

(१) शिंशपात्वलक्षणे हेतुस्वरूपे प्रतिपन्ने हि तदभेदाद् वृक्षत्वमपि प्रतीतमेवेति विपरीतस्य वृक्षत्वेतरत्वस्य आरोपः कथं स्यात् ? (२) "तुलना–अपि च वृक्षस्य ग्रहणे सति सामान्यधर्मग्रहणाद्विशेषानध्यवसायात् कदाचिदशिंशपासमारोपः स्यात् न तु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपो युक्तः। प्रगातु शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षगोचरः। परोक्षं तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लौकिकम् ॥" –न्यायम० पृ० ११४। (३) तुलना–"तथोभयोस्तादात्म्याविशेषेऽपि शिंशपात्वेन वृक्षस्य प्रतिपत्तिवत् वृक्षत्वेन शिंशपात्वप्रतिपत्तिरपि स्यात्। –प्रश० व्यो० पृ० ५७१। "किञ्च साध्यसाधनयोरव्यतिरेकाद् यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते तथा वृक्षत्वेनापि शिंशपात्वमनुमीयेत तादात्म्याविशेषात्। ननूक्तं सपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोर्भेद उक्तः न हीयेत। ननु चान्यः सम्बन्धः अन्यश्च प्रतिबन्धः, श्लिष्टः सम्बन्धः, प्रतिबन्धस्तु परायत्तत्वलक्षणः। तत्र शिंशपात्वं वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न वृक्षत्वं शिंशपात्वे, प्रयत्नानन्तरीयकत्वमपि अनित्यत्वे नियतं न त्वनित्यत्वं तत्रेति, यथा धूमस्याग्नौ प्रतिबन्धः न त्वग्नेर्धूमे, सत्यमेवम्, किन्त्वेवमुच्यमाने नियमः स्वाभाविको भवेत् न तादात्म्यम्। तादात्म्ये हि यथा शिंशपा शिंशपां विना न दृश्यते तथा वृक्षत्वमपि शिंशपां विना न दृश्येत दृश्यते च खदिरादौ [illegible] ॥ –न्यायम० पृ० ११४।

न च अगृहीतोऽसौ[1] अनुमानाङ्गम्। तदानीं[2] ग्रहणे तु हेतुप्रतिपत्तिसमय एव साध्यप्रतिपत्तेर्जातत्वात्[1] किमनुमानेन ?

तादात्म्य[3]तदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभावप्रतिनियमे च कथं कृत्तिकोदय-शकटोदययोः चन्द्रोदय-समुद्रवृद्ध्योश्च[2] गम्यगमकभावस्तत्र[4] तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात्।

यदप्युक्तम्[5]–'अविनाभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षस्य अविकल्पकतया अनुपलम्भस्यापि अर्थान्तरोपलम्भस्वभावस्य तथाभूत[6]तया शतशोऽपि प्रवृत्तस्य व्याप्तिग्रहणे सामर्थ्यासंभवात्। नहि निर्विकल्पकम् 'इदमस्मिन् सत्येव भवति अतोऽन्यथा[7] न भवत्येव' इत्येतावतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च इत्युक्त[8]मनन्तरमेव। नापि तत्प्रभवो[9] विकल्पः, तस्य भवतां[10] प्रामाण्यानभ्युपगमात्।

"व्यावृत्त्योर्[11]लिङ्गलिङ्गित्वं प्रतिबन्धस्तु वस्तुनोः।
विकल्पैर्ग्रहणं तस्य[12] को ब्रूयात् सौगतात् परः॥" [न्यायम० पृ० ११७]

यदपि–'स्वभावहेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणेन व्याप्तिः प्रतीयते' इत्याद्युक्तम्[13], तदप्यु-

(१) अविनाभाव। (२) अनुमानप्रयोगकाले तु कार्यकारणयो अविनाभावग्रहणे स्वीक्रियमाणे। (३) तुलना–"एव सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्, शास्त्रे कार्यादिग्रहण निदर्शनार्थं कृत नावधारणार्थम्। कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा अध्वर्युरोश्रावयन् व्यवहितस्य होतु र्लिङ्गम्, चन्द्रोदय समुद्रवृद्धे कुमुदविकाशस्य च, शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति वचनात् सिद्धम्।"–**प्रश० भा० पृ० ५६२। न्यायमं० पृ० ११७।** "न च तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धाभ्युपगमे रूपदर्शनात् स्पर्शानुमानम्, उदयादस्तमयप्रतिपत्ति, कृत्तिकोदयाच्च रोहिण्यनुमान न स्यात् तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावात्।" –**प्रश० व्यो० पृ० ५७१।** "अपि च रसादन्यद्रूप रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातार, न चानयोरस्ति कार्यकारणभावस्तादात्म्य वा। अपि चाद्यतनस्य सवितुरुदयस्य ह्यस्तनेन सवितुरुदयेन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्धया मध्यनक्षत्रदृष्टया चाष्टमास्तमयोदयस्य न कार्यकारणभावस्तादात्म्य वा, अथ च दृष्टो गम्यगमकभाव।" –**न्यायवा० ता० पृ० १६१-१६३। प्रक० प० पृ० ६७। प्रश० क० पृ० २०९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९९। सन्मति० टी० पृ० ५९३। स्या० र० पृ० ५३६।** (४) कृत्तिकोदयादिहेतौ। (५) **पृ० ४४४ पं० १६।** (६) अविकल्पतया–**आ० टि०।** (७) साध्याभावे। (८) **पृ० ४२७ प० २।** (९) निर्विकल्पकजन्यो विकल्प। (१०) सौगतेन। (११) तुलना–"अपि च–व्यावृत्त्योर्लिङ्गलिङ्गित्व प्रतिबन्धश्च वस्तुनो। विकल्पैर्ग्रहण तस्य कथ सङ्गच्छतामिदम्॥" –**न्यायम० पृ० ११७।** "यो हि तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभाव प्रतिबन्ध इष्यते स किं वस्तुधर्मो विकल्पारोपिताकारधर्मा वा ? तत्र नायमारोपितधर्मो भवितुमर्हति, वस्तु वस्तुना जन्यते वस्तु च वस्तुस्वभाव भवेत् तस्माद्वस्तुधर्मं प्रतिवन्ध। विकल्पैश्च वस्तु न स्पृश्यते तत्प्रतिबन्धश्च निश्चीयत इति चित्रम्। इदञ्च स्वभापितम् वस्तुनो प्रतिवन्धस्तादात्म्यादि गम्यगमकत्वञ्च विकल्पारोपितयोरपोहयो। तदेवमन्यत्र प्रतिवन्ध अन्यत्र तद्ग्रहणोपाय अन्यत्र प्रतीति अन्यत्र प्रवृत्तिप्राप्ती इति सर्व कैतवम्।" –**न्यायम० पृ० ३४।** (१२) प्रतिवन्धस्य अविनाभावरूपस्य। (१३) **पृ० ४४५ पं० ११।**

1–**पत्तेर्ज्ञात–श्र०।** 2–**वृद्धचोर्वा ग–ब०।**

क्तिमात्रम्; यतो विपक्षे बाधकं प्रमाणं क्रमयौगपद्यानुपलम्भलक्षणमनुमानम्। अनुमानञ्च सिद्धव्याप्तिकमेव स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्। व्याप्तिश्च तत्राप्यनुमानान्तरेण प्रतीयते, प्रथमानुमानेन वा? अनुमानान्तरेण चेत्, अनवस्था। प्रथमानुमानेन चेद्; अन्योन्याश्रयः। अतोऽनुमानमिच्छता भवता व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणान्तरं प्रतिपत्तव्यः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तद्ग्रहणानुपपत्तेः इति।

विवृतिव्याख्यानम्–

एतदेवाह–'नहि' इत्यादि। तत् साध्यम् आत्मा यस्य तस्य भावः **तादात्म्यम्**, तस्मात् साध्याद् आत्मलाभः **तदुत्पत्तिः**, पुनरेतयोः इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः। ननु स्वन्तत्वात् तदुत्पत्तिशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति, तन्न, अस्य लक्षणस्य *"लक्षणहेत्वोः क्रियायाः"* [जैनेन्द्रव्या० २।२।१०४] इत्यनेन अनैकान्तिकत्वात्। ते **तादात्म्यतदुत्पत्ती नहि नैव ज्ञातुं शक्येते**। कथमित्याह–'**विना**' इत्यादि। साध्याभावप्रकारेण **अन्यथा** या **अनुपपत्तिः** अघटना साधनस्य तस्याः सम्बन्धी ग्राहकत्वेन **तर्कः** तेन **विना**। तदेव वृक्षत्वशिंशपात्वादौ तादात्म्यादेः सद्भावेऽपि अविनाभावबलेनैव शिंशपात्वादेरेव वृक्षादिकं प्रति गमकत्वम् न वृक्षत्वादेः शिंशपादिकं प्रति इति प्रतिपाद्य, इदानीं तदभावेऽपि तद्बलेनैव गमकत्वं प्रतिपादयन्नाह–'**ताभ्याम्**' इत्यादि। **ताभ्यां** तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां **विनैव एकलक्षणस्य** अविनाभावस्य **सिद्धिः** निष्पत्तिः निर्णीतिर्वा। एतदेव समर्थयमानः प्राह–'**नहि**' इत्यादि। हिर्यस्मात् **न वृक्षादिः** आदिशब्देन रसादिपरिग्रहः। **छायादेः** अत्रापि आदिशब्देन रूपादिस्वीकारः, **स्वभावः** वृक्षादिच्छाययोः देशादिविभेदात्, **कार्यं वा** सहभावात् इत्यभिप्रायः।

नुमानम् [1]अनुमितानुमानात्; इत्यप्यसत्; तथा व्यवहाराभावात्। नहि आस्वाद्यमानाद् रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति[1]; वर्त्तमानरूपादेरप्रतीतिप्रसङ्गात्। तथा च 'इदमाम्रफलम् एवंविधरूपम् एवंविधरसत्वात्' इत्य[2]नुमानम्, पावकरूपदर्शनात् तत्समकालोष्णस्पर्शानुमानम्, तद[3]र्थिनः तत्र[4] प्रवृत्तिश्च न प्राप्नोति। व्यवहारानुसारेण च भव[5]ता प्रमाणचिन्ता प्रतन्यते *"प्रामाण्यं व्यवहारेण"* [प्रमाणवा० २।५] इत्यभिधानात्। सा[6]मग्रीतो रूपानुमाने च कारणा[7]त् कार्यानुमानप्रसङ्गात् लिङ्ग[8]संख्याव्याघातः स्यात्। ततः सिद्धम्-अकार्यादस्वभावाच्च वृक्षादेः छायाद्यनुमानम्। तर्हि व्यभिचारोऽत्र भविष्यति इत्यत्राह- **'नच'** इत्यादि। **नच** नैव वृक्षादेः छायाद्यनुमाने **विसंवादो** व्यभिचारोऽस्ति तत्प्राप्तिप्रतीतेः। अत्रै[9]वार्थे दृष्टान्तान्तरमाह-

[10]चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥ १३ ॥

विवृतिः-न हि [11]जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा।

कारिकाविवृत्योर्व्याख्यानम्-

चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेः स तथोक्तः, तस्मात्, **जलचन्द्र आदिर्यस्य** जलादित्यादेः सोऽपि तथोक्तः तस्य **प्रतिपत्तिः तथा** [अन्यथाऽ] तदु[12]पपत्तिप्रकारेण **अनुमा** अनुमानम्। जलचन्द्रादिना प्रतिपत्तिः चन्द्रादेरिति वा व्याख्यातव्यम्। एतदेव व्याचष्टे **'नहि'** इत्यादिना। **'नहि'** नैव जलचन्द्रादेः

(१) तुलना-"समानक्षणयोर्गम्यगमकभावोपलब्धेः, तथाहि-रूपक्षणात् समानकाल स्पर्शोऽनुमीयते न पूर्वं, तत्र एकसामग्र्यधीनत्वासभव एव। न च रूपस्पर्शयोः परस्परोत्पत्तौ कारणत्वे प्रमाणमस्ति इतरान्वयस्येतरत्रानुपलब्धेः।"-प्रश० व्यो० पृ० ५७१। "लौकिकानाञ्चैतद्रसाद् रूपानुमानम्। न चैते पिशितचक्षुषः क्षणानामन्योन्यभेदमध्यवस्यन्ति। न चानध्यवस्यन्तः प्रवृत्तरूपोपादानसामर्थ्यं रसहेतुमनुमातुमुत्सहन्ते।"-न्यायवा० ता० पृ० १६३। "लोकस्येत्थमप्रतीतेः, रूपमेव रसाल्लोकः प्रतिपद्यते। लौकिकी च प्रतीतिः परीक्षकैरप्यनुसरणीया।"-प्रक० पं० पृ० ६७। बृह० पं० पृ० ९४। (२) न प्राप्नोतीत्यर्थः किन्तु इदमाम्रफलमेवंविधसामग्रीकमिति प्राप्तिः-आ० टि०। (३) रूप-उष्णस्पर्शार्थिनः। (४) रूपादौ न प्रवृत्तिं प्राप्नोति किन्तु सामग्र्याम्-आ० टि० (५) सौगतेन। (६) तुलना-"तथा च रसात् कार्यात्तत्कारणं रूपमनुमातव्यं ततश्चानुमिताद्रूपात् कारणात् तत्कार्यं रससमानकालं रूपमनुमातव्यं तथा च कारणात् कार्यानुमानं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्यदिति नाभ्यामेव प्रतिबन्धसिद्धिः।"-न्यायवा० ता० पृ० १६२। प्रक० पं० पृ० ६७। बृह० प० पृ० ९४। "रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।"-परीक्षामु० ३।६०। सन्मति० टी० पृ० ५९३। प्रमाणनय० ३।६६। प्रमाणमी० पृ० ४३। (७) यदि सामग्री कारणं रूपादयस्तु कार्यं तदा स्वभावलिङ्गं कार्यलिङ्गं कारणलिङ्गमिति त्रयप्रसक्तेः-आ० टि०। (८) "त्रीण्येव च लिङ्गानि। अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति।"-न्यायबि० पृ० ३५। (९) कारणहेतुसमर्थनार्थम्। (१०) "चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेरसौ चन्द्रादिः तस्मात् कारणभूतात्, जले स्वच्छे चन्द्रादेः चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्य प्रतिपत्तिरवबोधोऽनुमा अनुमानमनुमन्तव्यमव्यभिचारात्। किन्तु तत्र कार्यान्तिकारणप्रतिपत्तिवत्।"-लघी० ता० पृ० ३२। तुलना-"चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथा... छायादिरादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन॥"-तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१। (११) जलप्रतिबिम्बितचन्द्रादेः। (१२) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि-आ० टि०।

1 अनुमित्यनुमा-आ०, ब०। 2 प्रतिपत्तिश्च ब०।

चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा, अथ च अर्थे. तत्र अव्यभिचारिणी प्रतिपत्तिः प्रतीयते इति।

जलादौ न आदित्यादेः प्रतिबिम्बं किन्तु स्वदेशस्थ एव आदित्यादि तत्र प्रतिभासते इति प्रतिबिम्बाभाववादिनः कुमारिलभट्टस्य पूर्वपक्षः —

ननु जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं सम्भवति, तत्सम्भवे बिम्बसन्निधानात् प्रागपि तत्र तदुपलम्भप्रसङ्गात्। अथ बिम्बसन्निधान एव तदुत्पद्यते अतो न प्रागपि तत्प्रसङ्गः, ननु तत्सन्निधाने गुणरूपम्, द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत? न तावद् गुणरूपम्; द्रव्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात्। अथ द्रव्यरूपम्; तत्किं निरवयवद्रव्यरूपम्, सावयवद्रव्यरूपं वा? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; तत्र अवयवप्रतिभासनात्। नापि सावयवम्; जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भासम्भवात्।

स्पर्शवन्तश्च परमाणवः स्पर्शवद्द्रव्यस्यारम्भका भवन्ति, तत्र चास्य किं जलादिपरमाणव एव आरम्भकाः, अन्ये वा? न तावदन्ये, स्पर्शवदवयविदेशे तेषां तदारम्भकत्वासम्भवात्। अथ जलादिपरमाणव एव तदारम्भकाः, तन्न, जलमयत्वेन अस्याऽप्रतिभासनात्। जलरूपवैलक्षण्यप्रतीतेश्च, शुक्लं हि रूपं जलस्य, न च मुखादिप्रतिबिम्बे तदस्ति। न च बिम्बरूपमेव तदारम्भकमित्यभिधातव्यम्, निमित्तकारणगतस्य पृथग्देशावस्थितस्य रूपस्य कार्यद्रव्यरूपानारम्भकत्वात्। द्वयोश्च सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः। आश्रयद्रव्यस्य च आदर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्, न चैतदस्ति। अतो न प्रतिबिम्बं किञ्चिद् वस्त्वन्तरं युक्तम्। ननु यदि तन्नास्ति कथं जलादौ सूर्यादिप्रतिबिम्बप्रतिभासः? इत्यप्ययुक्तम्, तत्र तत्प्रतिभासाऽसंभवात्, स्वदेशस्थस्यैव आदित्यादेः तत्र प्रतिभासनात्।

अत्रैके प्रतिबिम्बोदयवादिनः पर्यनुयुञ्जते—यदि स्वप्रदेशस्थ एव सविता उपलभ्यते न प्रतिबिम्बानि, कस्मात्तर्हि नोपरि एव दृश्यते? नहि अन्यत्रस्थः अन्यत्र द्रष्टु

(१) जलसद्भावे। (२) चन्द्रादौ। (३) जले –आ० टि० (४) प्रतिबिम्बोत्पत्ति [illegible]। (५) प्रतिबिम्बम्। (६) बिम्बसन्निधाने। (७) प्रतिबिम्बे –आ० टि०। (८) [illegible] –आ० टि०। (९) यदि [illegible] प्रतिबिम्बम् [illegible] [illegible] प्रतिबिम्ब[illegible]। (१०) [illegible]। (११) [illegible] (१२) जलेदाम् –आ० टि०। (१३) [illegible]। (१४) [illegible] –आ० टि०। [illegible] –आ० टि०। [illegible] (१५) [illegible] (१६) [illegible] (१७) [illegible] (१८) [illegible] (१९) [illegible] (२०) [illegible] (२१) [illegible] (२२) [illegible]

[illegible]

पार्यते सर्वदा त[१]थादर्शनप्रसङ्गात्। न च प्रतिबिम्बमन्तरेण कूपादिषु अधस्तात्त[२]द्वीक्षणम्। प्राङ्मुखश्[३]च दर्पणं पश्यन् प्रत्यङ्मुखश्च कथं स्यात्? यदि च बहिर्निष्क्रान्तमिन्द्रियं[४] तत्रैव बोधयेदर्थं तत एतदेवं[५] भवेत्, शरीरे तु त[६]द्बोधकमिति। उक्तञ्च–

"अ[७]न्ये तु [1]चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैषिणः। स एव चेत् प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते?॥
कूपादिषु कुतोऽधस्तात् [८]प्रतिबिम्बाद्विनेक्षणम्। प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्[९]याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम्?॥
तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्याति य[१०]दीन्द्रियम्। तत एतद्भवेदेवं शरीरे तत्तु बोधकम्॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८३-१८६।] इति[११]।

अ[१२]त्रोच्यते–जले सूर्यादिदर्शिनां द्वेधा चक्षुः सर्वदा प्रवर्त्तते, एकमूर्ध्वम्, अपरञ्च अधस्तात्। तत्र नोर्ध्वांशप्रकाशितं सूर्यम् आत्मा प्रतिपद्यते अधिष्ठानाऽनृजुत्वात्, अवाग्वृत्या तु तं बुध्यते पारम्पर्यार्पितं स[2]न्तम् अधिष्ठानर्जुत्वात्, अवागिव च मन्यते। ऊ[१३]र्ध्ववृत्तितदेकत्वात्, तेन कारणेन अधस्तादेव आदित्यः सान्तरालः प्रतीयते। एवं दर्पणादौ नायनो रश्मिः प्रतिहतो व्यावृत्त्य स्वकीयमेव मुखं प्राङ्मुखरश्मेः समर्पयति, ततश्च प्राग्गतया नायनरश्मिवृत्त्या मुखं बुद्ध्यमानः प्रतिपत्ता प्रत्यक् तद्वृत्तिसमर्पितं 'प्रत्यग्' इत्यवगच्छ[3]ति। त[4]दुक्तम्–

"अ[१४]प्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वे[१५]धा चक्षुः प्रवर्त्तते। एकमूर्ध्वमधस्ताच्च त[१६]त्रोर्ध्वांशप्रकाशितम्॥

(१) जलादावेव सूर्यदर्शन स्यात्। (२) सूर्यादि। (३) पुरुष। (४) अर्थदेशे गत्वा। (५) स्वदेशस्थ एव आदित्यादिस्तत्र प्रतिभासत इति –आ० टि०। (६) इन्द्रिय चक्षु। (७) व्याख्या–"जलादिषु यथैकोऽपि नानात्मा सवितेक्ष्यते–इत्यस्य हेतुव्यभिचारविषयत्वेनोक्तस्यासिद्धि मन्यमाना प्रतिविम्बमर्थान्तरमिच्छन्तश्चोदयन्ति। यदि स एव एवादित्यो दृश्यते न प्रतिविम्ब तत्किमिति उपरिष्टादस्य दर्शन न भवति? एव हि तस्य दर्शन भवेत् यदि देशावस्थितस्वरूप गृह्णीयात् नान्यथा, अन्यथा हि अतिप्रसङ्ग। किञ्च, कूपादिषु च दूराध सविष्टस्यार्कादे कथ ग्रहण भवेत् यदि तत्र प्रतिविम्ब नोत्पन्न स्यात्? न हि तत्र तथार्कादिव्यविस्थिति। अपि च प्राङमुखो दर्पणमवलोकयन् कथमिव प्रत्यङमुखो भवति? न हि तस्य तदा पृष्ठाभिमुख मुखमुपजात दृश्यते। एव मन्यते यदि वर्हिनिगतमिन्द्रियमादित्य वोधयतत एतत्स्यात् उपरिस्थितमेव पश्येन्नाधस्तादिति। यावता धर्माधर्मवशीकृते शरीरे एव तदिन्द्रिय प्राहकमिप्यते नोपरिस्थम्।"–तत्त्वस० प० पृ० ६१४। (८) 'प्रतिविम्वेक्षण भवेत्'-मी० श्लो०। (९) 'स्यान्वेत्प्र' –मी० श्लो०। (१०) 'यदिन्द्रिय' –मी० श्लो०। (११) उद्धृता एते –तत्त्वस० पृ० ६१४। प्रमेयक० पृ० ४०८। (१२) प्रतिविम्वनिषेधिभि –आ० टि०। (१३) ऊर्ध्वाधोरश्मीनामेकत्वात् –आ० टि०। (१४) व्याख्या–"एकमेव चक्षुरुत्कण्ठितलम्वमानसर्पवत् द्वेधा वर्तते अधस्तादूर्ध्वञ्च। तयोर्ध्ववृत्तिप्रकाशित देहानार्जवान्नात्मा वुद्धयत इति। कस्मात्तर्हि वुद्धयत अत आह–पारम्पर्येति। ऊर्ध्ववृत्तिरवाङ्ममर्पयति सा च आत्मन इति। क पुनरुर्ध्ववृत्तेरधोवृत्त्या सम्वन्धो येन समर्पयति अत आह ऊर्ध्वेति। एकस्यैव हि तावशौ तेनास्योर्ध्ववृत्तेस्तया वृत्त्या धर्मिरूपेणैक्यमिति अधोवृत्त्याऽववुध्यमानस्तदानुगुण्याद्वागिव सूर्य मन्यत इति। यत्तु प्राङमुखो दर्पण पश्यन् कथ प्रत्यङमुखो दृश्यत इत्युक्त तत्राह–प्रत्यगिति। तत्रापि प्रत्यग्वृत्तिप्रकाशित मुखम् अधिष्ठानानार्जवान्नात्मा प्रतिपद्यत इति, किन्तु प्रत्यग्वृत्तिः प्राग्वृत्त्यै समर्पयति तया च समर्पित प्राग्वृत्त्या वुध्यमान तदानुगुण्येन प्रत्यगिति वुध्यते। नन्वत्र दर्पणस्थैव

1 वोधयन्त्यत्र श्र०। 2 स तम् श्र०। 3–च्छतीति व०। 4 उक्तञ्च श्र०।

अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते । पारम्पर्यार्पितं त्वन्तमवाग्वृत्त्या तु बुध्यते ॥
ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात् अवागिव च मन्यते । अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥
एवं प्रागन्तया वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् । बुध्यमानो मुखं भ्रान्त्या प्रत्यगित्यवगच्छति ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१९० ।] इति ।

किञ्च, यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरं बिम्बादुत्पन्नं तदा कथं बिम्बे चलति नियमेन तदपि चलेत्, तिष्ठति च तिष्ठेत् ? नहि दण्डे चलति तिष्ठति च ततोऽर्थान्तरभूतो घटः नियमेन चलति तिष्ठति चेति प्रतीतम् । प्रतीयते च बिम्बस्य चलाचलत्वे नियमेन प्रतिबिम्बस्य चलाचलत्वम्, अतो न तत् ततोऽर्थान्तरम् । § यदि च तत्ततोऽर्थान्तरं § स्यात् तदा दर्पणादौ बिम्बापाये कुतो नोपलभ्यते ? विनष्टत्वाच्चेत्, न, निमित्तकारणापाये कार्यस्य अपायाऽप्रतीतेः । न खलु दण्डादेर्निमित्तकारणस्यापाये घटादेः कार्यस्य विनाशः स्वप्नेऽपि प्रतीयते । अस्तु वा तदपाये[12] तद्विनाशः[13]; तथापि प्रतिबिम्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः[14] घटविनाशे कपालोपलम्भवत्, न[15] चैवमस्ति । ततो न

मुखं गृह्यते न जलपात्रेष्विव अधः सान्तरालं तत्कस्य हेतोः ? अत्रापि सान्तरालमेव प्रत्यग्वृत्त्या प्रकाशितं प्राग्वृत्त्यै समर्पितं तथैव ग्रहीतव्यम्, उच्यते-वस्तुस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वाददोषः । तैजसेषु हि दर्पणादिषु तद्गतमेव मुखं गृह्यते जले तु सान्तरालमिति किमत्र पृच्छ्यते इति ।"—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ७७६-७७।
"ये हि जलपात्रे जले सूर्यं पश्यन्ति तेषामप्सूर्यदर्शिनामेकमेव चक्षुरूर्ध्वमधश्च द्विधा भागशः प्रवर्तते। तत्रोर्ध्वभागप्रकाशितमादित्यमात्मा पुरुषो न गृह्णाति । कुतः ? अधिष्ठानानृजुत्वात्—चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठानस्यार्जवेन तदानवस्थितत्वात् । पारम्पर्येण तु सौरेण तेजसा वृत्तेरर्पितमादित्यमवाग्वृत्त्या वारणभूतया बुध्यते । तथाहि—क्लिन्नं सौरं तैजसं तैजसेन वृत्तेरर्पयति वृत्तिश्चक्षुरक्षुणान्तरं [illegible] पारम्पर्यार्पितं सूर्यस्य तेजस्विन इति । आदित्यमूर्ध्ववृत्तिम् उपरिस्थमत्र तमादित्यमवागिव अधःस्थितमिव मन्यते । कः ? आत्मा । न पुनरधस्तादेव गत्वादित्यं । कुतः ? तदेकत्वात् तस्यादित्यस्य अभिमतत्वात् । चक्षुष इत्यपरे । तस्मादनन्तरोदितेनैव चक्षुषो वृत्तिवशेन [illegible] सूर्यो दृश्यते जलादिपात्रभेदाच्च । अन्यथा [illegible] ग्रहणं स्यात् ? प्रथमं [illegible] तावत् [illegible] दाय [illegible] मुखमादर्शादिदेशम्, सा प्राङ्नता वृत्तिरुच्यते । ते च तथादर्शादौ [illegible] स्वमुखमेव यथावस्थितमावर्तन्ति । सा च प्रत्यग्वृत्तिः । तत्र प्राङ्नता वृत्तिर्मुखं प्रत्यग्वृत्त्याऽर्पयति, [illegible] तत आत्मा प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितत्वात् मुखं भ्रान्त्या [illegible] मन्यते । चक्षुर्गते प्रतिबिम्बमेव भ्रान्तिर्जायते इति भावः । —तत्त्वसं० प० पृ० ६१५ । (१५) '[illegible]' —मी० श्लो० । (१६) '[illegible]'—तत्त्वसं० ।

वास्तवं जलादौ प्रतिबिम्बमभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु तेन[1] प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्य मुखादि-बिम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

तन्निरसनपुरस्सर प्रतिबिम्बस्य परमार्थतः पुद्गलात्मकत्व-प्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[2]—'जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्; यतो[1]ऽस्य असंभवः ग्राहकप्रमाणासंभवात्, उत्पादककारणाभावाद्वा स्यात्? तत्राद्यः[2] पक्षोऽनुपपन्नः; निखिल[3]प्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र[4] तत्सद्भावावेदकस्य[5] संभवात्। 'निर्मले हि जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पश्यामि' इति[6] प्रतीतिः प्रतिप्राणि प्रसिद्धा। नहि इयं[7] 'चन्द्रं पश्यामि' इत्येवं रूपोपजायते, नापि जलम्[4]। किं तर्हि? चन्द्रादेः प्रतिबिम्ब[5]मिति। न चेयं प्रतीतिर्भ्रान्ता; सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशेनैव रूपेण उपजायमानत्वात्। यत् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामेकादृशेनैव रूपेण उपजायते न तद् भ्रान्तम् यथा घटादिसंवेदनम्, तथाभूता चेयं प्रतिबिम्बप्रतीतिः, तस्मान्न भ्रान्ता इति। भ्रान्तसंवेदनस्य तथाविध[6]स्वरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। नहि भ्रान्तं शुक्तिकादौ रजतादिसंवेदनं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एका[7]दृशेनैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव पुंसां तदुत्पत्तिप्रतीतेः, अदुष्टेन्द्रिययोगिनां तेषां तदनुपपत्तेः।

किञ्च, यत्र[8] ज्ञाने समुत्पन्ने बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानं वा प्रादुर्भवति तद् भ्रान्तं भवति, यथा शुक्तिकायां रजतादिज्ञानम्। न च आदर्शादौ प्रतिबिम्बप्रतीतौ 'नैतदेवम्' इत्येवंरूपो बाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याविर्भवति। न च बाधकाभावेऽप्यस्य[11] भ्रान्तत्वं वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात्। कारणदोषाऽप्रतीतेश्च न तत्प्रतीतिर्भ्रान्ता। प्रतिबिम्ब-प्रतीतेः खलु कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र[12] दोषाः प्रतीयन्ते। नहि क्षुदादिरात्मनो दोषः निद्रादिर्मनसः काचकामलादिश्चक्षुषः तत्प्रतीत्युत्पत्तौ[13] प्रतीयते; सन्तृप्तस्य निद्राद्यनुपहत[8]चेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तुः प्रतिबिम्बप्रतिपत्तेः[9] प्रतीयमानत्वात्। तदेवं सिद्धमभ्रान्तमिदं प्रत्यक्षं बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य अर्थान्तरत्वप्रसाधकम्।

तथा अनुमानमप्यस्य[14] आश्रय[15]-बिम्बाभ्यामर्थान्तरत्वप्रसाधकमस्त्येव। तथाहि—

(१) जलदर्पणादिना। (२) पृ० ४५१ पं० २। (३) तुलना—"न हि दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टम्"—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८०। "न हि दृष्टाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति"—नयच० वृ० पृ० १८। "न च प्रत्यक्षाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्ति।"—हेतुबि०टी० पृ० ८७A। (४) जलादौ। (५) प्रतिबिम्ब। (६) प्रतीतिः। (७) पश्यामीत्येव रूपोपजायते इति शेषः। (८) एकादृश-अ० टि०। (९) पुरुषाणाम्। (१०) तुलना—"तस्मात् यस्य च दुष्टं कारणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययः नान्य इति।"—शाबरभा० १।१।५। (११) प्रतिबिम्बज्ञानस्य। (१२) आत्ममनश्चक्षुरादिषु। (१३) प्रतिबिम्बप्रतीति। (१४) प्रतिबिम्बस्य। (१५) जलादि।

1 यतो यस्यासंभ-श्र०। 2-द्यपक्षो-श्र०। 3 इति प्रतिप्रा-ब०। 4 न तेन तद् ब०। -विधरूपेणो-ब०। -विधस्वरूपेणो-ब०। 6-दृशेनैकरूपेण श्र०। 7 न हि चक्षुरादि-श्र०, ब०। 8-हतमनसो ब०। 9 प्रतिबन्धप्रति-ब०।

यद्[1] यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यं तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादि-बिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यञ्च चन्द्रादिप्रतिबिम्बमिति । न चैतदसिद्धम्, बिम्बाकारानुकारितया हि बिम्बं प्रति आभिमुख्येन यद् वर्त्तते तत् प्रतिबिम्बम्, यथा मुद्राकारानुकारिणी प्रतिमुद्रा। तत्प्रतीतौ[2] च कथं ततो[3] विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वमस्य[4] असिद्धम्। न चैतद्[5] बिम्बस्यैव ग्रहणमित्यभिधातव्यम्, जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिबिम्बमपश्यतः[6] तत्प्रतीति[7]दर्शनात्[1] । न चात्र विलक्षणा प्रतीतिः प्रतीयमानापि अस्य[8] ततो[9] भेदं न प्रसाधयतीति वाच्यम्, सर्वत्र भेदवार्त्तो[10]च्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र अस्याः प्रतीतिभेद[11]निबन्धनत्वात्। अतः बिम्बात् प्रतिबिम्बमन्यदभ्युपगन्तव्यम्। कथमन्यथा यद्वस्तु कदाचिदपि न प्रतीतं तस्मिन्[12]नपरिदृश्यमाने[2] व्यवहितेऽपि[3] तद्बिम्बावारकाभावे[13] तत्प्रतिबिम्बप्रतीतिः स्यात् ? तद्बिम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसंभवात्[14] । तन्न ग्राहकप्रमाणासंभवात् प्रतिबिम्बासंभवः ।

नाप्युत्पादककारणाभावात्; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य चात्र संभवात्। प्रतिबिम्बोत्पत्तौ[15] हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिकं तु निमित्त-

(१) प्रतिबिम्ब जलाद्याश्रयात् चन्द्रादिबिम्बाच्च भिन्न तद्विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वात् । तुलना–"तथा यद्यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्य तत्ततो भिन्न यथा मुद्रात प्रतिमुद्रा "–स्या० र० पृ० ८६३ । (२)बिम्बाकारानुकारितया प्रतीतौ च । (३)चन्द्रादिबिम्बादाश्रयभूतदपर्णादिश्च । (४) प्रतिबिम्बस्य । (५) जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बदर्शन । (६) पुरुषस्य । (७) प्रतिबिम्ब । (८) प्रतिबिम्बस्य । (९) आश्रयाद् बिम्बाच्च । (१०) भेदवार्ताया । (११) प्रतीतिभेदो निबन्धनमस्या इति । (१२) वस्तुनि बिम्बाख्ये । (१३)बिम्बस्य आवरण यदि स्यात् तदा प्रतिबिम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्बिम्बावारकाभावे । (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयो, अव्यवहितत्वनिबन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य । (१५) **स्याद्वादरत्नाकरे** । (पृ० ८६५) अस्य सोद्धरण खण्डनमित्यम्–"यदपि प्रभाचन्द्र प्राह–प्रतिबिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारण चन्द्रादिक च निमित्तकारण गगनतलावलम्बिन चन्द्र निमित्तीकृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति, तदस्यात्यन्तार्जवविजृम्भितम्, यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पत्रादेश्छायापुद्गला पृथिव्यादावाश्रये छायाद्रव्यरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदनादिबिम्बस्य छायापुद्गला दर्पणादिप्रसन्नद्रव्यसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिबिम्बरूपतया परिणमन्ते तदा किन्नाम क्षूण स्यात् अस्यापि छायाविशेषस्वभावत्वात् । तथा चागम –सामा उदिया छायाऽभासुरगया निसिम्मि कालाभा । सा च्चेह भासुरगया सदेहवन्ना मुणेयव्वा ॥ आदरिसस्सतो देहावयवा हवेति सकता । तेसिं तत्थुवलद्धी पगासजोगा न इयरेसिं ॥ प्रकरणचतुर्दशशतीकारोपि **धर्मसारप्रकरणे** प्राह–न ह्यङ्गनावदनछायानुसक्रमातिरेकेणादर्शके तत्पतिबिम्बसभव इत्यादि ।"–**स्या० र० पृ० ८६५** । तच्च चिन्त्यम्–आ० वादिदेवसूरिमतेन हि मुखादिबिम्बस्य छायापुद्गला मुखाद्विनिर्गच्छन्त दर्पणादौ स्वच्छतादिसमाग्रीवशात् प्रतिबिम्बमारभन्ते 'अस्मन्मते तु स्वच्छ एवादर्शादौ बिम्बसन्निधाने तद्गतछायापुद्गलसक्रमात् प्रतिबिम्बमुत्पद्यते' (स्या० र० पृ० ८६४) इति स्वयमभिधानात् । तत्रेद विचारणीय यत्–मुखादिभ्य छायापुद्गलविनिर्गमन किन्निबन्धनम् ? यदि तेषा स्वभावोय यत्ते सदैव विनिर्यान्ति तदा चक्षुषो रश्मिविनिर्गमन नैयायिकादिभि उक्त कथ प्रतिक्षिप्यते। यदि हि अभास्वरान्मुखात् घटादेर्वा छायापुद्गलविनि मृति युक्तिपथप्रस्थायिन्यभिमन्यते तदा भास्वररूपशालिचक्षुषो रश्मिविनिर्याण तु न्यायानुभवसङ्गत सुतरामेव स्यात् । अत-

1–तिरदर्शनात् ब० । 2 **तस्मिन्नुपरि**–श्र० । 3 **व्यवहितोऽपि** आ० ।

वास्तवं जलादौ प्रतिबिम्बमभ्युपमन्तव्यम्, किन्तु तेन[4] प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्य मुखादिबिम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

तन्निरसनपुरस्सर प्रतिबिम्बस्य परमार्थत पुद्गलात्मकत्वप्रसाधनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[२]–'जलादौ न प्रतिबिम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतो[1]ऽस्य असंभवः ग्राहकप्रमाणासंभवात्, उत्पादककारणाभावाद्वा स्यात्? तत्राद्य[2]: पक्षोऽनुपपन्नः; निखिल[३]प्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र[४] तत्सद्भावा[५]वेदकस्य संभवात् । 'निर्मले हि जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बं पश्यामि' इति[3] प्रतीतिः प्रतिप्राणि प्रसिद्धा । नहि इयं[६] 'चन्द्रं पश्यामि' इत्येवं रूपोपजायते, नापि जलम्[७]। किं तर्हि? चन्द्रादेः प्रतिबिम्बमिति। न चेयं प्रतीतिर्भ्रान्ता; सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशेनैव रूपेण उपजायमानत्वात् । यत् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामेकादृशेनैव रूपेण उपजायते न तद् भ्रान्तम् यथा घटादिसंवेदनम्, तथाभूता चेयं प्रतिबिम्बप्रतीतिः, तस्मान्न भ्रान्ता इति । भ्रान्तसंवेदनस्य तथाविध[5]स्वरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नहि भ्रान्तं शुक्तिकादौ रजतादिसंवेदनं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एका[6]दृशेनैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव पुंसां तदुत्पत्तिप्रतीतेः, अदुष्टेन्द्रिययोगिनां तेषां तदनुपपत्तेः ।

किञ्च, यत्र[१०] ज्ञाने समुत्पन्ने बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानं वा प्रादुर्भवति तद् भ्रान्तं भवति, यथा शुक्तिकायां रजतादिज्ञानम् । न च आदर्शादौ प्रतिबिम्बप्रतीतौ 'नैतदेवम्' इत्येवंरूपो बाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याविर्भवति । न च बाधकाभावेऽप्यर्थ[११] भ्रान्तत्वं वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात्। कारणदोषाऽप्रतीतेश्च न तत्प्रतीतिर्भ्रान्ता। प्रतिबिम्बप्रतीतेः खलु कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र[१२] दोषाः प्रतीयन्ते। नहि[7] क्षुदादिरात्मनो दोषः निद्रादिर्मनसः काचकामलादिश्चक्षुषः तत्प्रतीत्युत्पत्तौ[१३] प्रतीयते; सन्तृप्तस्य निद्राद्यनुपह[8]तचेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तुः प्रतिबिम्बप्रतिपत्तेः[9] प्रतीयमानत्वात् । तदेवं सिद्धमभ्रान्तमिदं प्रत्यक्षं बिम्बात् प्रतिबिम्बस्य अर्थान्तरत्वप्रसाधकम्।

तथा अनुमानमप्यर्थ[१४] आश्रय[१५]-बिम्बाभ्यामर्थान्तरत्वप्रसाधकमस्त्येव । तथाहि–

(१) जलदर्पणादिना । (२) पृ० ४५१ पं० २ । (३) तुलना–"न हि दृष्टाज्ज्यायो गरिष्ठमिष्टम्"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८० । "न हि दृष्टाद् गरिष्ठ प्रमाणमस्ति"–नयच० वृ० पृ० १८। "न च प्रत्यक्षाद् गरिष्ठ प्रमाणमस्ति ।"–हेतुबि०टी० पृ० ८७A । (४) जलादौ। (५) प्रतिबिम्ब । (६) प्रतीति । (७) पश्यामीत्येव रूपोपजायते इति शेष । (८)एकादृश-आ० टि० । (९) पुरुषाणाम्। (१०)तुलना–"तस्मात् यस्य च दुष्ट कारणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्यय स एवासमीचीन प्रत्यय नान्य इति ।"–शाबरभा० १। १।५। (११) प्रतिबिम्बज्ञानस्य। (१२) आत्ममनश्चक्षुरादिषु। (१३) प्रतिबिम्बप्रतीति। (१४) प्रतिबिम्बस्य। (१५) जलादि।

1 यतो यस्यासंभ–श्र० । 2–द्यपक्षो–श्र० । 3 इति प्रतिप्रा–व० । 4 न तेन तद् व०। 5 –विधरूपेणो–व० । –विधरूपेणो–व० । 6–दृशेनैकरूपेण श्र० । 7 न हि चक्षुरादि–श्र०, व०। 8–हतमनसो व० । 9 प्रतिबन्धप्रति–व० ।

यद्[1] यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्यं तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादि-बिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यञ्च चन्द्रादिप्रतिबिम्बमिति । न चैतदसिद्धम्, बिम्बाकारानुकारितया हि बिम्बं प्रति आभिमुख्येन यद् वर्त्तते तत् प्रतिबिम्बम्, यथा मुद्राकारानुकारिणी प्रतिमुद्रा। तत्प्रतीतौ[2] च कथं ततो[3] विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वमस्य[4] असिद्धम्। न चैतद्[5] बिम्बस्यैव ग्रहणमित्यभिधातव्यम्, जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिबिम्बमपश्यतः[6] तत्प्रतीति[7]र्दर्शनात्[1] । न चात्र विलक्षणा प्रतीतिः प्रतीयमानापि अस्य[8] ततो[9] भेदं न प्रसाधयतीति वाच्यम्, सर्वत्र भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र अस्याः[10] प्रतीतिभेद[11]निबन्धनत्वात् । अतः बिम्बात् प्रतिबिम्बमन्यदभ्युपगन्तव्यम्। कथमन्यथा यद्वस्तु कदाचिदपि न प्रतीतं तस्मिन्[12][2]परिदृश्यमाने व्यवहिते[3]ऽपि तद्बिम्बावारकाभावे[13] तत्प्रतिबिम्बप्रतीतिः स्यात् ? तद्बिम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसंभवात्[14] । तन्न ग्राहकप्रमाणासंभवात् प्रतिबिम्बासंभवः ।

नाप्युत्पादककारणाभावात्; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य चात्र संभवात्। प्रतिबिम्बो[15]त्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिक तु निमित्त-

(१) प्रतिबिम्ब जलाद्याश्रयात् चन्द्रादिबिम्बाच्च भिन्न तद्विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वात् । तुलना– "तथा यद्यतो विलक्षणप्रतीतिग्राह्य तत्ततो भिन्न यथा मुद्रात प्रतिमुद्रा "–स्या० र० पृ० ८६३ । (२) बिम्बाकारानुकारितया प्रतीतौ च । (३) चन्द्रादिबिम्बादाश्रयभूतदर्पणादिश्च । (४) प्रतिबिम्बस्य । (५) जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बदर्शनं । (६) पुरुषस्य । (७) प्रतिबिम्ब । (८) प्रतिबिम्बस्य । (९) आश्रयाद् बिम्बाच्च । (१०) भेदवार्ताया । (११) प्रतीतिभेदो निबन्धनमस्या इति। (१२) वस्तुनि बिम्बाख्ये। (१३) बिम्बस्य आवरण यदि स्यात् तदा प्रतिबिम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्बिम्बावारकाभावे। (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयो, अव्यवहितत्वनिबन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य। (१५) **स्याद्वादरत्नाकरे** । (पृ० ८६५) अस्य सोद्धरण खण्डनमित्थम्–"यदपि प्रभाचन्द्र प्राह–प्रतिबिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारण चन्द्रादिक च निमित्तकारण गगनतलावलम्बिन चन्द्र निमित्तीकृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति, तदस्यात्यन्तार्जवविजृम्भितम्, यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पत्रादेश्छायापुद्गला पृथिव्यादावाश्रये छायाद्रव्यरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदनादिबिम्बस्य छायापुद्गला दर्पणादिप्रसन्नद्रव्यसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिबिम्बरूपतया परिणमन्ते तदा किन्नाम क्षूण स्यात् अस्यापि छायाविशेषस्वभावत्वात् । तथा चागम –सामा उदिया छायाऽभासुरगया निसिम्मि कालाभा । सा च्चेह भासुरगया सदेहवन्ना मुणेयव्वा ॥ आदरिसस्सतो देहावयवा हवेति सकता । तेसिं तत्थुवलद्धी पगासजोगा न इयरेसिं ॥ प्रकरणचतुर्दशशतीकारोपि **धर्मसारप्रकरणे** प्राह–न ह्यङ्गनावदनछायानुसक्रमातिरेकेणादर्शके तत्पतिबिम्बसभव इत्यादि ।"–**स्या० र० पृ० ८६५** । तच्च चिन्त्यम्–आ० वादिदेवसूरिमतेन हि मुखादिबिम्बस्य छायापुद्गला मुखाद्विनिर्गच्छन्त दर्पणादौ स्वच्छतादिसमाग्रीवशात् प्रतिबिम्वमारभन्ते 'अस्मन्मते तु स्वच्छ एवादर्शादौ बिम्वसन्निधाने तद्गतछायापुद्गलसक्रमात् प्रतिबिम्बमुत्पद्यते' (स्या० र० पृ० ८६४) इति स्वयमभिधानात् । तत्रेद विचारणीय यत्–मुखादिभ्य छायापुद्गलविनिर्गमन किन्निबन्धनम् ? यदि तेषा स्वभावोय यत्ते सदैव विनिर्यान्ति तदा चक्षुषो रश्मिविनिर्गमन नैयायिकादिभि उक्त कथ प्रतिक्षिप्यते। यदि हि अभास्वरान्मुखात् घटादेर्वा छायापुद्गलविनि सृति युक्तिपथप्रस्थायिन्यभिमन्यते तदा भास्वररूपशालिचक्षुषो रश्मिविनिर्याण तु न्यायानुभवसङ्गत सुतरामेव स्यात् । अत-

1–**तिरदर्शनात्** व० । 2 **तस्मिन्नुपरि**–श्र० । 3 **व्यवहितोऽपि** आ० ।

कारणम्, गगनतलावलम्बिनं चन्द्रं निमित्तीकृत्य जलादेस्तथा[1]परिणामात्।

यदप्युक्तम्[2]–'तत्सन्निधाने गुणरूपम् द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; द्रव्यरूपस्यैवास्य[3] तत्सन्निधाने[4] तत्रोत्पादा[5]भ्युपगमात्।

यदपि–'निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्यरूपं वा तत् स्यात्' इत्याद्युक्तम्[6], तदप्युक्तिमात्रम्; अस्मदादीन्द्रियग्राह्यद्रव्यस्य निरवयवत्वाऽसिद्धेः[7]।

यत्पुनरुक्तम्[8]–'नापि सावयवं जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भाऽसंभवात्' इति, तदप्यसाम्प्रतम्; यतो जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्तदा स्यात् यदा जलादेः तत्प्रतिविम्बमर्थान्तरभूतं द्रव्यं स्यात्, यदा तु जलादिकमेव तथा[9] परिणमते तदास्य ततो[10]ऽर्थान्तरत्वासंभवात् कथं पृथक् तत्स्पर्शो[11]पलम्भस्याशङ्काऽपि स्यात्?

एतेन 'जलादिपरमाणव एवास्य आरम्भका अन्ये वा' इत्यादि[12] प्रत्युक्तम्; जलपरमाणूनामेव उक्त[13]प्रकारेण तदारम्भकत्वप्रतिज्ञानात्। प्रतिबिम्बे जलरूपाद् विलक्षण[14]रूपप्रतीतेः कथं ते[15] तदारम्भकाः? इत्यप्यनुपपन्नम्; पुद्गलानां विचित्ररूपादिपरिणामसामग्रीसन्निधाने विचित्ररूपादिपरिणत्युपपत्तेः। दृश्यते हि मुखादिबिम्बेऽपि तत्सन्निधाने[16] विचित्रा रूपपरिणतिः, कोपाद् रक्ततया लज्जातः कृष्णतया हर्षात् सुकान्तिमत्तया मुखादेः परिणामप्रतीतेः। अतो मुखचन्द्रादिविम्बसन्निधाने जलादेर्विचित्रो रूपादिपरिणामो न विरोधमध्यास्ते।

एतेन इदम्[17]अपि प्रतिव्यूढम्–'द्वयोः सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः, आश्रयद्रव्यस्य चादर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्' इति, द्वयोः सावयवद्रव्ययोः अत्रा[18]ऽसंभवात्, एकस्यैव जलादिद्रव्यस्य स्वसामग्रीविशेषवशात् तथा[19]परिणामात्। न च समाना[20]काशदेशत्व सावयवयोः विरुद्धम्; जलभस्मनोः वातातपयोर्वा सावयवयोरपि

श्चक्षुषो रश्मिविनिर्गमन प्रतिक्षिपद्भि मुखादिविम्बात् छायापुद्गलविनिःसृति स्वीक्रियमाणा स्वयमा कृत्योत्थापनमेव प्रतिभाति। स्या० रत्नाकरस्य ६९८ पृष्ठे तु एभिरेव प्रमेयकमलमार्तण्डमनुसर्द्भिः स्पष्टमुक्तम् यत्–"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिविम्बाकारविकारधारिणः सम्पद्यन्ते" इति, अत्रैव च चक्षुषो रश्मिनिर्गमनस्य प्रतिषेधात् ज्ञायते यत्तत्प्रकरणे तु वादिदेवसूरयः प्रभाचन्द्रमर्थतः शब्दतश्च अनुसरन्ति, अत्र तु तत्खण्डनाभिलाषेण पूर्वापरविरोधमपि न पश्यन्तीति विश्रमतः।

(१) प्रतिविम्बाकारतया। (२) पृ० ४५१ पं० ४। (३) प्रतिविम्बस्य। (४) बिम्ब। (५) जलादौ। (६) पृ० ४५१ पं० ६। (७) हस्तपादाद्यवयवैः सावयवमेव तत्प्रतिविम्बमभ्युपगम्य। (८) पृ० ४५१ पं० ७। (९) प्रतिविम्बरूपेण। (१०) जलादेः। (११) प्रतिबिम्ब। (१२) पृ० ४५१ पं० ९। (१३) बिम्बसन्निधानेन जलादीनां प्रतिविम्बाकारतया परिणमनप्रकारेण। (१४) श्यामरूप प्रतिविम्बे जलादौ शुक्लं रूपम्। (१५) जलादयः। (१६) विचित्रकोपादिद्रव्य[illegible] सन्निधाने। (१७) पृ० ४५१ पं० १४। (१८) प्रतिविम्बोत्पत्तिस्थले। (१९) प्रतिविम्बाकारतया। (२०) तुलना–"तदपि समानदेशप्रमाणिमीरातपाभ्यां व्यभिचारि"–स्या० र० पृ० ८६१।

---

1 इत्यनुप–श्र०। 2 विचित्ररूप–श्र०। 3 परिमाणात् आ०।

तत्प्रतीतेः। [1]परि[१]माणगौरवोत्कर्षनियमोपि सावयवयोर्नास्ति; [२]जलकनकादिसंयुक्ताऽनलादौ [2]तद[३]प्रतीतेः ।

यच्चान्यदुक्तम्[४]–'अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्त्तते' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्, [५]रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः । ततस्तद[3]प्रसिद्धिः चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपिता[६] ।

ननु प्रतिबिम्बोदयवादिनां मते बिम्बानुकारिणा प्रतिबिम्बेन भवितव्यम् तत्कथं सव्यदक्षिणविपर्ययेण प्रतिबिम्बस्य प्रतीतिः, इत्यप्यचोद्यम्, स्वसामग्रीतः तस्य सव्यदक्षिणस्वभावतयैव उत्पत्तेः । बिम्बाभिमुखेन हि प्रतिबिम्बेन भवितव्यम्, आभिमुख्यञ्च सव्यदक्षिणविपर्यासव्यतिरेकेण अस्य नोपपद्यते इति त[७]थैव अस्योत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा '[८]प्रतिबिम्बम्' इति व्यपदेशोऽस्य अनुपपन्नः स्यात् ।

किञ्च, य[९]न्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य[१०] सव्यदक्षिणवि[4]पर्यासो गुण एव, यत एव

(१) तुलना–"करम्बितकनकपारदाभ्यामनैकान्तिकत्वात् ।" –स्या० र० पृ० ८६१ । (२) उष्णजले हि जलाग्न्योः द्वयोः सावयवयोः समानदेशता जाता न च परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः, तथा तप्तसुवर्णे सुवर्णाग्न्योः सावयवयोः सम्बन्धेऽपि न तयोरुत्कर्षः सन्दृश्यते इति भावः । (३) परिमाणगौरवयोरप्रतीतेः – आ० टि० । (४) पृ० ४५२ प० १५ । (५) तुलना–"स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणासिद्धेः चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितमिति चातीवासंगतं प्रमाणाभावात् ।"–प्रमेयक० पृ० ४२५ । चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितमिति चातीवासङ्गतम्, प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तैजासि जलेनाभिसम्बन्ध्य पुनः सवितारं प्रति प्रवृत्तानि प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयन्ते । यथा च नायनरश्मीनां विषयं प्रति प्रवृत्तिर्नास्ति तथा चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।"–स्या० र० पृ० ६९८ । (६) पृ० ७५–८२ । (७) सव्यदक्षिणविपर्ययेणैव । (८) तुलना–"तदपि प्रतिबिम्बशब्दनिरुक्त्यैव कृतोत्तरम्, परं मिथ्याभिनिवेशान्न चेतयते भवान् । प्रत्यर्थिबिम्बं प्रतिबिम्बमुच्यते । प्रत्यर्थिता चास्य सकलतदीयालकतिलकभ्रूभङ्गभ्रुकुट्यादिविशेषस्वीकरणेनाभिमुखतया पुरः स्थायित्वम् । तच्च सव्यदक्षिणपार्श्वविपर्यासव्यतिरेकेणास्य नोपपद्यते इति तथैवोत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा तु प्रतिबिम्बमिति व्यपदेश एवास्यानुपपन्नः स्यात्।"–स्या० र० पृ० ८६२ । (९) तुलना–"किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिणपार्श्वयोर्विपर्यासो गुण एव । यत एव बिम्बविपरीतधर्मयोगोऽत एवातोऽस्यान्यत्वमिति ।"–स्या० र० पृ० ६८२। "आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणतोपलभ्यते इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव । अत्राह–विपरीतग्रहणं कुतः प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखा छाया दृश्यते इति ? प्रसन्नद्रव्यपरिणामविशेषाद् भवति । अत्र चोद्यते नादर्शतलादिच्छायासद्भावः । किं तर्हि ? नयननिर्गतेन रश्मिना घनद्रव्यात् प्रतिहतनिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणमिति, तदयुक्तम्, विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात् कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात् ग्रहणशक्त्यभावाच्च । विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गस्तावत् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव ग्रहणं प्राङ्मुखस्य प्राङ्मुखमेव ग्रहणं स्यात् विपर्यासहेत्वभावात् । कुड्यादिषु वाऽतिप्रसङ्गः स्यात्, नयनरश्मेः प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावात्।" –राजवा० पृ० २३३ । न्यायवि० वि० पृ० ५६७ B । "कथं पुनर्दर्पणतलादिषु प्रतिबिम्बं मुखादीनां सम्मुखमेव छायाकारेण परिणमते न पराङ्मुखम् ? कथं वा कठिनमादर्शमण्डलं प्रतिभिद्य मुखतो विनिर्गता पुद्गला प्रतिबिम्बमाजिहत इति ? यत्तावदुच्यते सम्मुखमेव प्रतिबिम्बमुदेति नान्यतो मुखमिति, तत्र परिणामः स तादृग् पुद्गलानाम्, नहि तद्विषयः पर्यनुयोगः कर्त्तुं शक्यः"–तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ३६४ । (१०) मम–आ० टि० । जैनस्य ।

1 परिणाम –ब० । 2 तदप्रतिपत्ते. ब० । 3 –दसिद्धिश्च चक्षु –ब० । 4 –विपर्ययो गुण ब० ।

बिम्बधर्मविपरीतधर्मयोगोऽत एव अस्य[1] अतोऽन्यत्वम्[2]। यदि च[3] प्रतिबिम्बमन्यन्न स्यात्, आदर्शादिना प्रतिहतैर्नायनरश्मिभिर्व्यावृत्य देशविपर्यासेन मुखादेरेव आदर्शादौ प्रकाशनात्, तदा कुड्यादिनाऽपि प्रतिहतास्ते व्यावृत्य किमिति कुड्यादौ मुखन्न प्रकाशयन्ति विशेषाभावात् ? नचात्र[4] स्वच्छता उपयोगिनी, रश्मिप्रतीघातमात्रस्यैव तत्रोपयोगात्, तच्च[5] उभयत्राप्य[6]विशिष्टम्, प्रत्युत कुड्यादिना घनद्रव्येण अतिशयवान् प्रतीघातो विधीयते, अतः तत्र अतिशयवता तत्प्रतिभासेन[7] भाव्यम्। कारणातिशयाद्धि कार्यातिशयो दृष्टः, यथा पित्तातिशयात् शङ्खादिषु पीतत्वावभासातिशयः। अस्मन्मते[8] तु निर्मले स्वच्छ एव आदर्शादौ बिम्बसन्निधाने प्रतिबिम्बमुत्पद्यते न पुनः कुड्यादौ तद्विपरीते[9], अतस्तत्र[10] तत्प्रतिभासाभावः[11]।

किञ्च, आदर्शादिना प्रतिहता रश्मयः व्यावृत्य यदि बिम्बमेव प्रकाशयन्ति; तर्हि महतो हस्त्यादेः स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात्। नचैवम्। अतः प्रतिबिम्बमेव तत्र[13] तथा[14]भूतमुत्पन्नं प्रतिभासते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। स्वपरिमाणानुसारितया हि दर्पणादिना प्रतिबिम्बमारभ्यते, अतो महतो लघुत्वप्रतिपत्तिरविरुद्धा। यदि[15] च कृपाणादौ काचादौ[16] चाश्रये प्रतिहता[17]स्ते व्यावृत्त्य बिम्बमेव प्रकाशयन्ति; तदा आयत-श्यामसुखप्रतीतिर्न स्यात्। अस्मन्मते तु आश्रयस्य[18] आयतत्वात् श्यामत्वाच्च तदारब्धस्य प्रतिबिम्बस्यापि आयतत्व श्यामत्वञ्चोपपन्नम्। जलादेस्तु अतिस्वच्छत्वात् बिम्बाकारानुकारेणैव तत्र प्रतिबिम्बोत्पत्तिः।

यदप्युक्तम्[19]–'यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तरमुत्पन्नम्' इत्यादि; तदप्यचर्चिताभिधानम्; अर्थान्तरस्या[20]स्योत्पत्तावपि नियमेन निमित्त[21]कारणक्रियानुकारितया तत्क्रियायां[22] नियमेन क्रियावत्त्वोपपत्तेः प्रदीपप्रकाशवत्, छत्रछायावद्वा। यथैव हि प्रदीपे छत्रे च चलति प्रकाशश्छाया च नियमेन चलति स्थिरे तु स्थिरा भवति, एवं बिम्बे चलति नियमेन

(१) प्रतिबिम्बस्य। (२) बिम्बात्। (३) तुलना–"यदि चादर्शादिप्रतिहता रश्मय मा प्रकाशयन्ति तदा शिलातलादिप्रतिहता अपि ते तत्प्रकाशयेयु विशेषाभावात्"–स्या० र० पृ० ८६४। (४) व्यावृत्य बिम्बप्रकाशने। (५) प्रतिघातमात्रम्। (६) दर्पणादौ कुड्यादौ च। (७) बिम्ब प्रतिभासेन। (८) जैनमते। (९) अस्वच्छेऽपारदर्शिनि। (१०) कुड्यादौ। (११) बिम्ब। (१२) तुलना–"तदा महतो हस्त्यादे स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गाल्लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात्। –स्या० र० प० ८६४। (१३) दर्पणादौ। (१४) लघ्वाकारोपेतम्। (१५) तुलना–"अपि च यदि काचकृपाणादौ प्रतिहतास्ते व्यावृत्य बिम्बमेव प्रकाशयन्ति तदा तत्रायतश्याममुखप्रतीतिर्न स्यात्।"–स्या० र० पृ० ८६४। (१६) श्यामकाचादौ। (१७) रश्मय। (१८) कृपाणस्य काचादेश्च। (१९) पृ० ४५३ पं० ५। (२०) तुलना–अर्थान्तरस्योत्पत्तावपि नियमेन परिणामकारणक्रियानुकारितया तस्मिंश्चलति चलनस्य तिष्ठति स्थानस्य च तत्रोपपत्ते।"–स्या० र० प० ८६४। (२१) मुखादिबिम्ब। (२२) मुखादौ क्रियाया सत्याम्।

1 –दर्शनादौ ब०। 2 –ष्ट पटकुड्या –ब०। 3 –ना द्रव्येण ब०। 4 हस्तादे आ०। 5 लघुप्रति –श्र०।

प्रतिबिम्ब चलति तिष्ठति तु तिष्ठति। न खलु घटे नियमेन निमि[1]त्तकारणक्रिया-नुविधानं न दृष्टम् इत्येतावता सर्वत्र[2] [3]तन्निषेद्धुमुचितम्, प्रदीपप्रकाशादावपि [4]तन्निषेध-प्रसङ्गात्। घटे च [5]तद्वद् भासुररूपादिकमपि नोपलब्धम् अतः [6]प्रदीपप्रकाशादावपि तन्निषिद्ध्यतामविशेषात्। प्रतीतिविरोधः अन्यत्राप्यवि[3]शिष्ट.।

यच्चान्यदु[7]क्तम्–'निमित्तकारणापाये कार्यस्यापायाप्रतीते.' इत्यादि, तदप्यनल्प-तमोविलसितम्, [8]प्रदीपछत्रादेर्निमित्तकारणस्याऽपाये प्रकाशछायायोरपायप्रतीतेः।

एतेन 'प्रतिबि[9]म्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्ग' इत्यादि प्रत्युक्तम्; [10]प्रदीपादेर्विनाशेऽपि [11]तद[5]प्रतीतेः। न खलु प्रदीपविद्युदादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक् तदवयवा. क्वचित् कदाचित् कस्यचित् प्रतीतिपथप्रस्थायिनो भवन्तीति।

साम्प्रतम् '[12]अतीतैककालाना गतिः नाऽनागताना व्यभिचारात्'' [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१२] इत्येतन्निराकुर्वन्नपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तर हेतुमुपदर्शयति–

भविष्यत् प्रतिपद्येत [13]शकटं कृत्तिकोदयात्।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति[14] ॥ १४ ॥

---

(१) दण्डादि–आ० टि०। (२) प्रतिबिम्बेऽपि। (३) निमित्तकारणक्रियानुविधानम्। (४) निमित्तकारणक्रियानुविधान। (५) निमित्तकारणभूतदण्डादिवच्छुक्लरूपादिकमपि। (६) निमित्तकारणभूतप्रदीपवत् भासुररूपादिक तत्प्रकाशे निषिद्धयताम्। (७) पृ० ४५३ प० १०। (८) तुलना–"न खलु मृदाद्यपाये कलशादावपायो नोपलब्ध इति।"–स्या० र० पृ० ८६३। (९) पृ० ४५३ प० ११। (१०) तुलना–"सौदामिनीप्रदीपादिद्रव्याणा विनाशेऽपि पृथक् तदवयवानामनु-पलम्भात्।"–स्या० र० पृ० ८६३। (११) अवयवोपलम्भ–आ०टि०। (१२) 'अतीतानामेककालानाम्' –प्रमाणवा० स्ववृ०। व्याख्या–"तत्रापि रसादे रूपाद्यनुमाने अतीतानामेककालानाञ्च गति रसोपादा-नसमानकालभाविनोऽतीता लिङ्गभूतरससहभाविन एककाला तेषाञ्चति नानागतानाम् वर्तमानेन लिङ्गेनानुमान व्यभिचारात्, अनागत हि कारणान्तरप्रतिबद्ध तत्र प्रतिबन्धवैकल्यसभवान्न भवेदपि। यच्चाद्योदयात् श्व सूर्योदयाद्यनुमानन्न तदनुमान नियामकलिङ्गाभावात्, अद्य गर्दभदर्शनात् श्व सूर्योदयानुमानवत्।"–प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० १।१२। उद्धृतमिदम्–सिद्धिवि० टी० पृ० ३११A। प्रमेयक० पृ० ३८१। स्या० र० पृ० ५९०। (१३) रोहिणीनक्षत्रम्। (१४) "शकट रोहिणी धर्मी मुहूर्त्तान्ते भविष्यदुदेष्यदिति साध्यधर्म, कुत? कृत्तिकोदयादिति साधनम्। न खलु कृत्तिकोदय शकटोदयस्य कार्यं स्वभावो वा, केवलमविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरमिति प्रतिपद्येत अनुमन्येत सर्वोऽपि जन इति। तथा श्व प्रात आदित्य सूर्य उदेता उदेष्यति अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्येत। तथा श्वो ग्रहण राहुस्पर्शो भवष्यति एवविधफलकाङ्क्षादिति वा प्रतिपद्येत सर्वत्राऽव्यभिचारान्"–लघी० ता० पृ० ३३। तुलना–"कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिक्लृप्तिवत्।"–मी० श्लो० पृ० ३५१। प्रश० व्यो० पृ० ५७१। प्रमाणप० पृ० ७१। परीक्षामु० ३।७१। सन्मति० टी० पृ० ५९१। प्रमाणनय० ३।८०। प्रमाणमी० पृ० ४१। जैनतर्कभा० पृ० १६। "प्रतिबन्धपरिसख्यायाम् उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम्?"–सिद्धिवि० पृ० ३१७B।

1–क्रियानुमान ब०, –क्रियाविधान आ०। 2–प्रदीपादावपि ब०। 3–विशिष्ट. आ०। 4–बिम्बप्रकाशे ब०। 5 तत्प्रतीते श्र०। 6 प्रतीतै–आ०।

विवृतिः–तदेतद् भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसंख्यां प्रमाणसंख्याञ्च प्रतिरुणद्धि ।

कारिकार्थ — **भविष्यद्** भावि, **प्रतिपद्येत**[1] जनः । किम् ? **शकटम्** । कुतः ? **कृत्तिकोदयात्** । तथा **श्वः** प्रातः **आदित्य उदेता** इति प्रतिपद्येत अद्य आदित्योदयात् इति गम्यते । **'ग्रहणं वा भविष्यति'** इति प्रतिपद्येत, कुतश्चित् फलकाङ्कादेः[1] ।

करिकायाः तात्पर्यार्थमुपदर्शयन्नाह–**'तद्'** इत्यादि । तस्माद् ऐकलक्षणान्विता-

विवृतिव्याख्यानम्– द्धेतोः **एतद् भविष्यद्विषयं** भाविशकटोदयादिगोचरम् अविसंवादकं **ज्ञानं** सिद्धम् । तत् किं करोति ? इत्याह–**प्रतिबन्धसंख्यां प्रतिरुणद्धि** तादात्म्यतदुत्पत्त्योरत्रा[3]ऽसंभवात् । अथ[4] कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकार्यत्वादयमदोषः; तन्न; अतीतकृत्तिकोदयादेः[5] शकटोदयात् प्रतीत्यभावप्रसङ्गात् । अन्योन्यकार्यत्वे अन्योन्याश्रयप्रसक्तिः[2][6] । अन्यच्च तत् किं करोति ? इत्याह–**प्रमाणसंख्याञ्च प्रतिरुणद्धि** परैः[7] परिकल्पितस्य प्रतिबन्धस्य[3][8] पक्षधर्मत्वादेश्चा[9]ऽभावेऽपि कृत्तिकोदयाद्यनुमानस्य भावात् । तन्न कार्यस्वभावानुपलब्धिलिङ्गप्रभव त्रिविधमेव अनुमानम् इत्यनुमानप्रमाणसङ्ख्या नियमः सौगतानां व्यवतिष्ठते प्राँगुक्तलिङ्गप्रभवानुमानानां[10] ततोऽर्थान्तरत्वप्रसिद्धेः[11] ।

एतेन नैयायिकोपकल्पितः पञ्चैवैवानुमानमित्यनुमानसङ्ख्यानियमः[4] प्रत्याख्यातः; पूर्वोक्तानुमानानां पञ्चस्वनुमानेषु अनन्तर्भावात् ।

ननु *"अस्येदं कारणं कार्यं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्"* [वैशे०सू० ९।२।२]

कारणादय पञ्च हेतव एव गमका इति वैशेषिकस्य पूर्वपक्ष – इति सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम् अविनाभावस्य अत्रैव परिसमाप्तेः, तत्कथं नैयायिकानामनुमानसंख्यानियमो न व्यव[5]तिष्ठेत ? अत्र कारणात्[12] कार्यानुमानम्; यथा ज्वलदिन्धनदर्शनात्

(१) फलके पट्टके खड्याद्यगणनाया (खटिकादिलिखिताङ्कगणनाया) –आ० टि० । (२) अविनाभावैक । (३) कृत्तिकोदय-शकटोदययो । तुलना–"न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिवा कालव्यवधाने तदनुपलब्धे ।"–परीक्षामु० ३।६१ । प्रमाणनय० ३।६७ । (४) भाविकारणवादी प्रज्ञाकरगुप्त प्राह । प्रज्ञाकरगुप्तस्य भाविकारणतासूचक मतमित्थम्–"भावेन च भावो भाविनाऽपि लक्ष्यत एव मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहार । यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवदेवम्भूतमरिष्टमिति तस्मादनागतस्यापि कारणत्वमव्यभिचारादिति युक्तमेतत् ।"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १७७ । (५) भवत्येवमपि प्रयोग–जात कृत्तिकोदय शकटोदयात्–आ० टि० । (६) कृत्तिकोदयानुमानं नि मति तत शकटोदयानुमानम्, तस्माच्च कृत्तिकोदयानुमानमिति । (७) सौगत । (८) तादात्म्यादिसम्बन्धस्य । (९) हेतो रूपत्रयस्य । (१०) कृत्तिकोदयादिहेतुजन्यानुमानानाम् । (११) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धनिबन्धनानुमानात् । (१२) "कार्यं कारणपूर्वकत्वेनोपलम्भादुपलभ्यमान ...

1–पद्येत आ० । 2–श्रयत्वप्रस–ब० । 3 प्रतिबिम्बस्य ब० । 4 पञ्चवैवा–श्र० । 5–तिष्ठेत् आ० ।

भविष्यति भस्म इति। कार्यात् कारणानुमानम्; यथा नदीपूरोपलम्भात् वृष्टेः। संयोगिदर्शनात् संयोगिनोऽनुमानम्, यथा धूमदर्शनाद् वह्नेः। समवायिदर्शनात् समवायिनोऽनुमानम्, यथा शब्दाद् आकाशस्य। [1]एकार्थसमवायिदर्शनात् एकार्थसमवायिनोऽनुमानम्, यथा रूपाद् रसस्य। विरोधिदर्शनाद् विरोध्यन्तरानुमानम्; यथा विस्फूर्जितनकुलदर्शनात् सन्निहितसर्पज्ञानमिति।

तत्प्रतिविधानपुरस्सर कृत्तिकोदयादीनां पूर्वचरादिहेतूनामपि पृथक् रूपेण गमकत्वप्रदर्शनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम्' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्; [2]तदतिरिक्तानां कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदङ्गत्वप्रतिपादनात्। अविनाभाववशाद्धि हेतोरनुमानाङ्गत्वं न कारणादिरूपतामात्रेण [3]अस्याऽव्यापकत्वादतिप्रसङ्गाच्च। अविनाभावस्य तु सकलहेतुकलापव्यापित्वात् तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्वशादेव हेतोर्गमकत्वं प्रतिपत्तव्यम्। नहि [4]तद्व्यतिरेकेण[2] क्वचिदपि हेतोर्गमकत्वं प्रतीयते, सर्वत्र गमकत्वस्य अविनाभावे सत्येव उपपत्तेः। कार्यकारणभावस्य च षट्पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिषिद्धत्वात्[5] [6]परमते कार्यकारणलिङ्गयोरसिद्धिः। संयोगसमवाययोरपि [7]तत्रैव निषेधात् संयोगिसमवायिलिङ्गयोरपि असिद्धिः। विरोधिनोऽप्यविनाभावादेव विरोध्यन्तरानुमापकत्वम्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात्।

गमकम्, यथाहि–विशिष्टनदीपूरोपलम्भादुपरिष्टाद् वृष्टो देव इति। तथा च बहलस्वरूपफेनफेनिलपर्णकाष्ठादिवहनविशिष्टस्य नदीपूरस्य वृष्टिकार्यत्वेन पूर्वमुपलम्भात् पुनस्तदुपलम्भे सति युक्तमनुमानम्–अय नदीपूरो वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धनदीपूरवदिति। पूरस्तु उभयतटव्यापकोदकसंयोग। स पारम्पर्येण वृष्टिकार्य इति। कारणमिति कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेरुपलभ्यमानं तल्लिङ्ग यथा च विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मणः। तथा धूमोऽग्नेः संयोगी समवायी च उष्णस्पर्शो वारिस्थतेजो गमयतीति। विरोधीच यथाहिर्विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलादेर्लिङ्गमिति।"–प्रश० व्यो० पृ० ५७२। प्रश० किर० पृ० ३०२।

(१) पृ० ४६० प० १९। (२) तुलना–"समुद्रवृद्ध्यादौ यथोदितसम्बन्धाभावेऽप्यनुमानदर्शनात्। संयोगसमवायैकार्थसमवायास्तु नानुमानोत्पत्तौ कारणम्। नहि कमण्डलुना छात्रानुमानम्, नापि रूपादेः पृथिव्याद्यनुमानम्, नापि रूपाद्रसानुमानमिति। यच्च विरुद्धस्यानुमानस्योदाहरणं भूतं वर्षणकर्म अभूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्यानुमापकं तथाऽभूतं वर्षणकर्म भूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्यानुमापकमिति, तदनुपपन्नम्, भावाभावयोर्ह्यत्र गम्यगमकता, न च तयोर्विरोधोऽस्ति तस्मात् कार्यकारणभावादय एव सम्बन्धा यस्य येन नियता अव्यभिचारिणः स हेतुरिति"–प्रक० पं० पृ० ६८। न्यायवा० ता० पृ० १६४। स्या० र० पृ० ५३२। लघी० ता० पृ० ३४। (३) कारणादिरूपतामात्रस्य कृत्तिकोदयादिहेतुषु अव्याप्तिः, धूमादिसाध्यं प्रति व्यभिचारित्वाद्धेत्वाभासभूतेषु अग्न्यादिषु सद्भावाच्चातिप्रसङ्गः। (४) अविनाभावं विना। (५) पृ० २२०। (६) वैशेषिकमते। (७) षट्पदार्थपरीक्षायाम् पृ० २९७।

---

1 'एकार्थसमवायिदर्शनात्' नास्ति ब०। 2 तदव्यतिरि–ब०।

सांख्यपरिकल्पितेभ्यो मात्रामात्रिकादिसप्तहेतुभ्योऽपि कृत्तिकोदयादि पूर्वचरादिहेतूना पृथक्तया गमकत्वप्रसाधनम्–

यदपि सांख्यैरभिहितम्–मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि-वध्य-घाताद्यैः[1] सप्तधाऽनुमितिः । तत्र मात्रामात्रिकानुमानम्; यथा चक्षुषो विज्ञानानुमानम् । कार्यात् कारणानुमानम्, यथा विद्युद्दर्शनात्[2] कारणविज्ञानम् । [1]प्रकृतिविरोधिदर्शनात् तद्विरोध्यन्तरानुमानम्; यथा न वर्षिष्यति बलाहकः प्रत्यनीकपवनयोगित्वात् । सहचराऽनुमानम्; यथा चक्रवाकयोरन्यतरदर्शनात् द्वितीयज्ञानम् । स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनुमानम्, यथा छत्रविशेषदर्शनात् राज्ञोऽनुमानम् । वध्यघातानुमानम्; यथा सहर्षनकुलदर्शनात् 'घातितोऽनेन सर्पः' इति ज्ञानम् । आदिग्रहणात् संयोग्यनुमानम्; यथा समुदायवर्तिनि परिव्राजके 'कः परिव्राजकः' इति संशये त्रिदण्डदर्शनात् 'परिव्राजकोऽयम्' इति ज्ञानमिति । तदप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्[3]; कृत्तिकोदयादिहेतूनां नैयायिकोपकल्पितहेतुभ्य इव अतोऽप्यर्थान्तरभावाऽविशेषात्[4] [2] ।

अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका, नान्या संशयहेतुत्वात्' इति नियमं निराकुर्वन्नाह–

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः[6] ।
तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १९ ॥

विवृतिः–अदृश्यानुपलब्धेः[5] संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्ध्यति अपि तु स्वचित्तभावश्च, तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः

(१) आदिशब्दात् सयोग्यनुमान सप्तमम्–आ० टि० । (२) विद्युत कादाचित्कत्वेन कार्यत्वात् केनापि कारणेन भवितव्यमिति–आ० टि० । (३) तुलना–"एतेन सप्तविध सम्बन्ध इति प्रत्युक्तम्"–न्यायवा० पृ० ५७ । "एतेनैव–मात्रानिमित्तसयोगिविरोधिसहचारिभि । स्वस्वामिवध्यघाताद्यै साख्याना सप्तधानुमा ।"–न्यायवा० ता० पृ० १६५ । नयचक्रवृ० पृ० ४२४ A. । लघी० ता० पृ० ३४ । (४) साख्यकल्पितहेतोरपि । (५) "प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धे, सति वस्तुनि तस्या असभवात्, अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु आत्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् । (पृ० ४२) विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा सशयहेतु प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धेरिति ।"–न्यायबि० पृ० ५९ । वादन्याय पृ० १८ । "अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धे सशयहेतुतयाऽगमकत्वादिति भाव ।"–वादन्यायटी० पृ० १९ । हेतुबि० टी० पृ० १६२ A । (६) "विदुर्जानन्ति, के ? लौकिका । अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य, तेन लौकिका गोपालादयोऽपि किं पुन परीक्षका इत्यर्थ । कम् ? अभावम् असत्ताम्, कस्य ? अदृश्यपरचित्तादे परेषामातुराणा चित्त चैतन्यमादिर्यस्यासौ परचित्तादि , अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च स तथोक्तस्तस्य । आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिप्रभृतिर्गृह्यते यस्य सूक्ष्मस्वभाव । कुत ? तदित्यादि, तस्य परचित्तादे कार्यभूतोऽविनाभावी आकार उष्णस्पर्शादिलक्षण तस्य विकारोऽन्यथाभाव आदिर्यस्य वचनविशेषादेः आरोग्यादे तस्यानुपपत्तित असभवात् ।"–लघी० ता० पृ० ३४ । (७) "अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तम्, परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्ते संस्कर्तॄणा पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२ । लघी० ता० पृ० ३५ ।

1 प्रतिकृतिवि–श्र० । 2–प्यर्थान्तरविशेषाभावात् श्र० ।

परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ।

अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च, आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिपरिग्रहः, तस्याऽ**भावं लौकिका विदुः ।** कुत इत्यत्राह–'**तदाकार**' इत्यादि । तेन अदृश्यपरचित्तादिना सहभावी शरीरगत उष्णस्पर्शादिलक्षण आकारः **तदाकारः** तस्य **विकारः** अन्यथाभाव **आदिर्यस्य** वचनविशेषस्य तस्य **अन्यथानुपपत्तितः ।**

कारिकार्थ —

ननु सर्वत्र अभावपरिच्छेदे अभा[1]वप्रमाणस्यैव व्यापारः, परचित्ताभावश्च अभावः तस्माद् अभावस्यैव परिच्छेद्यः । तच्च अभावप्रमाणम् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्, तद्भिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् भि[2]न्नविषयत्वात् भिन्नफलसाधकत्वाच्च, यद् यतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वादिविशेषणविशिष्टं तत् ततो भिन्नम् यथा प्रत्यक्षादनुमानादि, तथाभूतश्चेदम्, तस्मात् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नमिति । न चास्य तद्भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम्, तथाहि–इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपायाः प्र[3]त्यक्षादिसामग्रीतः तावदभावप्रमाण नोत्पत्तुमर्हति, अभावेन सह इन्द्रियाणां सन्निकर्षाभावात् । न हि तत्र तेषां संयोगलक्षणः सन्निकर्षः संभवति[3], अभावस्य अद्रव्यत्वात् । नापि समवायलक्षणः, द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषेभ्योऽन्यत्वात्[4] । तयोरभावे च तत्प्रभेदः संयुक्तसमवायादिः दूरादपास्तः । संयुक्तविशेषणभावोप्यसंभाव्यः; घटाभावस्य भूप्रदेशविशेषणत्वाभावात् । विशेषणं हि सयुक्तं समवेतं वा भवति यथा दण्डो गुणादिश्च, न चाभावः क्वचित् संयुक्तः समवेतो वा इत्युक्तम् । उक्तञ्च–

अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापार न भावरूपाणां प्रत्यक्षादीनामिति अभावस्य प्रथक् प्रामाण्यवादिनो मीमांसकस्य पूर्वपक्ष –

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८]

---

(१) "अभावोऽपि प्रमाणाभाव नास्तीत्यर्थस्यासन्निकृष्टस्य"–शाबरभा० १।१।५। (२) "अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते। प्रमाणामभावो हि प्रमेयाणामभाववत् ॥"–मी० श्लो० अभाव० श्लो० ५४। (३) द्रव्यद्रव्ययोश्च सयोगात्। (४) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामेव च समवायित्वम् । (५) सयोगसमवाययो । (६) चक्षु सयुक्त भूतल तद्विशेषणश्चाभाव इति । "मा भूत् सयोगत, सयुक्तविशेषणत्वाद गह्यतामिति चेत्, न, असति सम्बन्वे विशेषणत्वायोगात् । अस्त्येव सम्बन्ध इति चेत्, कोऽसौ ? न तावत्सयोग, अद्रव्यत्वात् । न समवाय, तदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा सयुक्तसमवायादेव ग्रहणात् तद्विशेषणत्वमवक्तव्य स्यात् । तन्न तावद् भवतामस्ति सन्निकर्ष अस्माक तु अस्ति सयुक्तसमवाय । तथापि तु नैन्द्रियकत्वमित्यत्रैव वक्ष्याम ।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ०४७९ (७) "न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पद्यते मति" –मी० श्लो० । (८) 'सयोगो'–मी० श्लो० । सन्मति० टी० पृ० ५८० । प्रमाणमी० पृ० ९ । (९) उद्धृतोऽयम्–

1–सिद्धिपरी–ज० वि० । 2 'भिन्नविषयत्वात्' नास्ति ब० । 3 प्रत्यक्षस्तत्साम–ब० । 4–विशेषणीभावो श्र० । 5–भाव्यो यथा घटा–ब० ।

यदि नेन्द्रियादिसामग्रीतस्तदुत्पद्यते, कुतस्तर्हि तदुत्पद्येत इति चेत्? उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेध्यार्थानुपलब्धि[1]-भूतलाद्याश्रयोपलब्धि-प्रतिषेध्यघटादिस्मरणलक्षण-सामग्रीविशेषात्।

"गृहीत्वा [1]वस्तुसद्भावं स्मृत्वा[2] च [2]प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया[3] ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]
"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सा[4]त्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यव[5]स्तुनि ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

इति तल्लक्षणसामग्रीत[6]स्तदुत्पत्तिश्च [7]तदन्यतमस्याप्यपाये तदनुपपत्तेः सुप्रसिद्धा। यदि हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थानुपलब्धिर्न स्यात् तदा भूतलाद्याश्रयोपलब्धावपि अभाव-प्रतीतिर्न स्यात्। यदि च भूतलाद्याश्रयप्रतीतिर्न स्यात् तदा [8]भूतलाद्यवच्छेदेन घटाद्यभाव-प्रतीतिर्न स्यात्। नहि [9]अज्ञातस्य विशेषणत्वं युक्तमतिप्रसङ्गात्। न च सामान्येन घटाद्यभावप्रतीतिरुपजायते, किन्तु भूतले। तथा, यदि प्रतियोगिस्मरणं न स्यात् तर्हि 'नास्ति' इत्येवंरूपा प्रतीतिः स्यात् नतु 'घटो नास्ति' इति। अतः सिद्धं प्रत्यक्षसामग्रीतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमभावप्रमाणस्य।

तथा अनुमानसामग्रीतोऽपि, तस्य हि सामग्री लिङ्गादिलक्षणा, [10]न च अभावेना-

सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ B। प्रमेक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५८०। जैनतर्कवा० पृ० ७८। न्यायाव० टी० पृ० २२। स्या० र० पृ० २८०। प्रमाणमी० पृ० ९।

(१) भूतलाद्याश्रयलक्षणम्। (२) यस्याभाव क्रियते स प्रतियोगी यथा घटाभावे घट। (३) उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५९२। न्यायम० पृ० ५०। बृहदा० वा० पृ० ८८५। सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ B। प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० २३, २७६। न्यायाव० टी० पृ० २२। न्यायवि० वि० पृ० ४८८ A। स्या० र० पृ० २८०। प्रमेयर० पृ० ६९। रत्नाकराव० २।१। विश्वतत्त्वप्र० पृ० १३। प्रमाणमी० पृ० ९। जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९२। प्रभाकरवि० पृ० ५८। प्रमेयरत्नको० पृ० ५८। (४) 'सात्मन परिणाम'–मी० श्लो०। "तामेव द्विधा विभजते मेति। योऽयमात्मनो घटादिविषय प्रत्यक्षादिज्ञानस्वरूप परिणाम तदभावमात्रमेवानुत्पत्तिरभाव इति बोध्यते। तच्च घटाद्यभावविषय नास्ति, बुद्धिजनकतया इन्द्रियादिवत् प्रमाण नास्ति इति।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७५। "सा प्रत्यक्षादेरनुत्पत्ति निषेध्याभिमतघटादिपदार्थज्ञानरूपेणापरिणत साम्या वस्थमात्मद्रव्यमुच्यते, घटादिविविक्तभूतलज्ञान वा"–तत्त्वस० प० पृ० ४७१। आत्मन स्वन्यस्या परिणाम इति प्रसज्य इति प्रतिषेध –आ० टि०। (५) पर्युदास –आ० टि०। भूतलादिवस्तुना श्रयभूते। उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो पृ० ५९२। 'इष्यते'–तत्त्वस० का० १६४९। प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५८०। स्या० र० पृ० २७८। षड्द० बृह० पृ० १२० A। रत्नाकराव० २।१। बृहत्सर्व० पृ० १५२। (६) आभावोत्पत्तिश्च। (७) प्रतिषेध्यानुपलब्धि-आश्रयोपलब्धि-प्रतियोगिस्मरणेष्वन्यतमस्य। (८) इह भूतले घटाभाव इति प्रतिनियतदेशतया। (९) भूतलस्य (१०) "न चाप्यत्रानुमानत्व लिंगाभावात् प्रतीयते। भावांशो ननु लिंग स्यात्तदानीं नास्ति गृह्यणात् ॥"–मी० श्लो० पृ० ४८४।

1–लब्धिप्रतिषेध्यभूतला–श्र०। 2–त्वा तत्प्रति–आ०, ब०।

ऽविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति ।[1] अनुपलब्धिरस्तीति चेत्, नन्वसौ गृहीतव्याप्तिका, अगृहीतव्याप्तिका वा अभावमनुमापयेत् ? न तावदगृहीतव्याप्तिका, अतिप्रसङ्गात् । नापि गृहीतव्याप्तिका, यतो व्याप्तिग्रहणं धूमाग्निवद् उभय[2]धर्मग्रहणपूर्वकम् । व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च कुतः अभावाख्यधर्मग्रहणम्—अत एव अनुमानात्, तदन्तराद्वा ? यदि अत एव; अन्योन्याश्रयः, तथा[1]हि—अतोऽनुमानादभावसिद्धौ अनुपलब्धेरभावेन अविनाभावित्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च[2]ाऽतोऽनुमानादभावसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात् तत्सिद्धौ च[3]ाऽनवस्था ।

किञ्च, अनुपलब्ध्याख्य[4] लिङ्गमपि उपलब्ध्यभावस्वभावम्, अतः तत्स्वरूपप्रतिपत्तावपि उक्तदोषानुषङ्गः । अनुपलब्धेरग्रहणे च अभावाऽनुपलब्ध्योः अविनाभावप्रतिपत्तिरतिदुर्घटा । अतो नाभावप्रमाणस्य अनुमानसामग्रीप्रभवता ।

नापि अर्थापत्त्युपमानागमसामग्रीसमुत्थता, प्राक् प्रतिपादिताया अभावप्रमाणसामग्र्याः अर्थापत्त्यादिसामग्रीतोऽन्यथानुपपद्यमानार्थ-उपमानोपमेयगतसादृश्यग्रहण-शब्दादिलक्षणायाः सर्वथा भिन्नत्वात् । तन्न अभावप्रमाणस्य अध्यक्षादिभ्यो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम ।

नापि भिन्नविषयत्वम्[3], तथाहि—'इह भूतले घटो नास्ति' इति प्रत्ययः न तावद् भावविषयः, त[4]द्वैलक्षण्येन प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । भावविषयत्वे चास्य घटो विषयः, भूतलम्, तत्ससर्गो वा ? प्रथमपक्षे सति घटे घटसत्ताप्रत्ययवत् अभावप्रत्ययोऽपि स्याद् आ[5]लम्बनस्य विद्यमानत्वात् । द्वितीपपक्षे तु[6] सघटेऽपि भूतले अभावप्रत्ययप्रसङ्गः वि[5]षयभूतस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । नापि तत्संसर्गः, घटसयुक्तेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ घटविविक्तं भूतलम् अ[9]स्य विषयः, ननु त[8]द्वैविक्त्यं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, †तद्व्यतिरिक्तं वा ? यदि भूतलस्वरूपमात्रम्;† तर्हि विद्यमानेऽपि घटे त[7]त्प्रत्ययप्रसङ्गः । अथ 'तद्व्यतिरिक्तम्; तर्हि नाममात्र भिद्यते नार्थः, वि[6]विक्तताशब्देन अभावस्यैव अभिधानात् । अतः सिद्धो भावादर्थान्तरम् अभावप्रमाणस्यैव परिच्छेद्योऽभावः, प्रत्यक्षादीनां भावविपयतया अभावगोचरचारित्वाभावात् ।

---

(१) "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिग भविष्यति । न चानवगत लिङ्ग गृह्यते चेदसावपि । अभावत्वादभावेन गृह्येतान्येन हेतुना ॥ स चान्येन ग्रहीतव्यो गृहीते हि लिङ्गता । तद्गृहीतिर्हि लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता ॥ लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यत । क्वाप्यस्य स्यात्प्रमाणत्व लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम् ॥" –मी० श्लो० पृ० ४८६–८८ । शास्त्रदी० पृ० ३३५ । (२) साध्यसाधनरूपोभयधर्म–आ० टि० । (३) असिद्धम्–आ० टि० । (४) भावप्रत्ययविलक्षणतया । (५) विषयभूतस्य घटस्य । (६) "न भूतलम्, सत्यपि घटे प्रसङ्गात्" –शास्त्रदी० पृ० ३२५ । (७) घटो नास्तीतिप्रत्ययस्य । (८) "कोऽय घटविवेक ? यदि भूतलरूपमेव, घटवत्यपि प्रसङ्ग । घटसयोगाभावश्चेत्, अङ्गीकृतस्तर्हि अभाव ।"–शास्त्रदी० पृ० ३२७ । (९) नास्तीतिप्रत्यय ।

1–हि अनुमा–आ० । 2 वाऽतो आ० । 3 वाऽन–आ० । 4–ख्यलि–आ०, श्र० । 5 विषयभूतलस्य ब० । विषयभूतस्य भूतस्य श्र० । †एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० । 6 विविक्तशब्देन आ० ।

यदि [1]चाभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात्, कथमिन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टः परिच्छिद्येत? यदा हि केनचिद् अपवरकः स्वरूपेण गृहीतः जिज्ञासाऽभावाद् 'देवदत्तोऽत्र नास्ति' इति न निश्चितम्, पश्चाद् दूरदेशमसौ गतः, यदा केनचित्पृष्टः 'किं तत्र देवदत्त आसीन्न वा' इति ? प्रति[2]वचनञ्चासौ तदैव तद्देशमनुस्मृत्य देवदत्ताभावं प्रतिपद्य प्रयच्छति 'नासीत्' इति। नहि त[3]त्र इन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति इति कथं तत्र प्रत्यक्षसंभवः ? ततो न प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽभावः।

नाप्यनुमानादिपरि[4]च्छेद्यः, तदविनाभाविनो लिङ्गादेरसंभवात्। अनुपलब्ध्यादेश्च तल्लिङ्गादेरनन्तरमेव कृतोत्तरत्वात्। अतः पारिशेष्याद् [5]अभावप्रमाणगोचर एव अभाव इति नासिद्धं भिन्नविषयत्वम्। उक्तञ्च–

"प्र[6]माणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

नापि भिन्नफलसाधकत्व[7]म्, अभावावगतिलक्षणफलस्य अभावप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः। अतः प्रत्यक्षादिभ्यो विलक्षणस्य [8]प्रतिषेध्याधारग्रहणादिसा[9]मग्रीप्रभवस्य नञर्थविषयस्य नञर्थसंवित्तिफलस्य अभावप्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

(१) "स्वरूपमात्रं दृष्ट्वाऽपि पश्चात्किञ्चित्स्मरन्नपि। तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते॥ यदा हि कश्चित् प्रातःकाले कञ्चिद्देशमध्यासीनस्तत्र व्याघ्रादिकमदृष्ट्वा तदस्मरणान्न तदभावमप्यगृहीत्वा देशमात्रं दृष्ट्वा देशान्तरगतो मध्यन्दिने पृच्छ्यते 'कश्चित्तस्मिन्देशे प्रातःकाले व्याघ्रो गजः सिंहः पार्थिवो वा समागतः?' इति। स तदा तं देशमवगतत्वात्स्मरन्नपि तत्र देशेऽन्यगतान् व्याघ्रादीनामभावं प्रागगृहीतं तदैव गृह्णाति। न च मध्यन्दिने समये प्रातःकालिकस्याभावस्यानिन्द्रियसन्निकृष्टस्य संभवति प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, तस्येन्द्रियसन्निकृष्टवर्तमानविषयत्वात्।"–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४८३। शास्त्रदी० पृ० ३३९। (२) उत्तरम्। (३) देवदत्ताभावे। (४) "नाप्यनुमानं अज्ञातेन तेन कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धग्रहणासंभवात्।" –शास्त्रदी० पृ० ३४०। (५) "मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम्। भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता। तथाऽभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता॥ अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते। प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद् भावात्मकात् पृथक्॥" –मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५, ४६, ५५। (६) व्याख्या–"आचार्य (उम्वेक) त्वेवं व्याख्यातवान् यत्र घटाख्ये वस्तुनि प्रत्यक्षादि सद्भावग्राहकं नोपजायते तत्र नास्तिता भूप्रदेशाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया"–स्या० र० पृ० २७९। "तत्र सदसद्रूपेणोभयात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते यस्मिन् वस्तुरूपे वस्त्वंशेऽसद्रूपाख्ये प्रमाणपञ्चकमर्थापत्तिपर्यन्तं न जायते किमर्थम्? वस्तुनः सत्तांशावबोधार्थम्। तत्र अभावांशे प्रमेये अभावस्य प्रमाणता।" –तत्त्वसं० पं० पृ० ४७०। उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५९२। हेतुबि० टी० पृ० १९० A। तत्त्वसं० का० १६४८। षड्द० श्लो० ७६। प्रमेयक० पृ० १८९। सन्मति० टी० पृ० ५८०। नन्दि० मलय० पृ० २५। स्या० र० पृ० २७९। 'वस्त्वसत्तावबोधार्थं'–षड्द० श्लो० ५०, बृह० पृ० १२ A.। प्रमेयर० पृ० १३९। विश्वतत्त्वप्र० पृ० १३। चित्सु० पृ० २६८। बृहत्सर्व० पृ० १२१ नन्दि० मलय० पृ० २५। (७) असिद्धमित्यत्रापि योज्यम्–आ० टि०। (८) प्रतिषेध्यो घटः तस्याधारो भूतलादि (९) प्रतियोगिस्मरणम् प्रतियोग्यनुपलब्धिश्च ग्राह्या।

1 –च हि तद्दे –श्र०। 2 –देव सिद्धेः श्र०।

न च अवस्तुविषयत्वादस्य[1] अप्रामाण्यम्, अभावस्य प्रमाणेन परिच्छिद्यमानतया अवस्तुत्वानुपपत्तेः। यत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते न तदवस्तु यथा भावः, प्रमाणेन परिच्छिद्यते च अभाव इति। अवस्तुत्वे चास्य[2] भेदो दुर्घटः, यदवस्तु न तस्य भेदः यथा खपुष्पादेः, अस्ति च प्रागभावादिभेदोऽभावस्य इति। तदवस्तुत्वे च अर्थानां [3]साङ्कर्यं स्यात्, दध्यादेः क्षीराद्यवस्थायां प्रागभावादेरवस्तुतया[1]ऽसाङ्कर्याऽहेतुत्वात्, तथा च प्रतिनियतव्यवहारवार्त्तोच्छेदः स्यादिति। तदुक्तम्[2]–

"[4]न च स्याद्व्यवहारोऽयं [5]कारणादिविभागतः। प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ॥
[6]यद्वाऽ[7]नुवृत्तिर्व्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्। तस्माद् गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥
[9]न चावस्तुन एते स्युः भेदाः [10]तेनास्य वस्तुता। कार्यादीनामभावः को [11]भावो यः कारणादितः(ना)॥
[12]वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च [13]तत्प्रामाण्य समाश्रिता। [14]क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्। गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥

---

(१) अभावस्य। (२) अभावस्य। (३) परस्परात्मत्वम्। (४) व्याख्या–"यत् खलु दधिरूप प्रागभूत्वा भवति तदुपादेय कार्यम्, यच्च प्रागवस्थित क्षीररूप पश्चान्न भवति तदुपादानकारणम्, सोऽय कार्यकारणविभाग। तथा गौरश्वो न भवति, अश्वो न भवति गौ, विषाणशून्य शश इत्यादि व्यवहारोऽसत्यभावस्य प्रागभावादिरूपभेदे नोपपद्यत इति।"–**मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७४।** (५) कार्यस्य प्रागभाव कारणम्–**आ० टि०।** (६) व्याख्या–"अस्ति ह्यभावस्य प्रागभावादिरूपेण व्यावृत्तिरभावरूपेण चानुवृत्तिरिति। तत्रैव हेत्वन्तरमाह प्रमेयेति"–**मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७५।** "अभावो वस्तु इति पक्ष, अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वात् प्रमेयत्वाच्चेति हेतुद्वय गवादिवदिति दृष्टान्त।"–**तत्त्वस० प० पृ० ४७३।** (७) अभाव इति–**आ० टि०।** (८) प्रागभावादि–**आ० टि०।** (९) व्याख्या–"न ह्यवस्तुनो भेदो युक्त वस्त्वधिष्ठानत्वात्तस्य तस्मादभावो वस्तु। कीदृशं पुनरस्य वस्तुत्वमित्याह–कार्यादीनामिति। क्षीरादे कारणस्य यो भाव स एव दध्यादे कार्यस्याभाव, कार्यस्य दध्यादेर्यो भाव स एव क्षीरादे कारणस्याभाव इत्येतदभाववस्तुत्वम्।"–**तत्त्वस० प० पृ०४७३।** (१०) भेदवत्त्वेन। (११) 'को योऽभाव कारणादिन'–**मी० श्लो०।** 'स यो भाव कारणादिना'–**तत्त्वसं०।** 'को भावो य कारणादि न'–**सन्मति० टी०।** 'को भावो य कारणादिन'–**स्या० र०।** 'को भावो य कारणादिना'–**षड्द० बृह०।** (१२) व्याख्या–"प्रत्यक्षादिभि सद्रूपेण प्रमीयमाणमपि घटादिकमसद्रूपेण अभावस्य प्रमेयम्, असकरोऽसद्रूपमभाव इति यावत्।"–**मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४७३।** (१३) 'तत्प्रामाण्यसमाश्रया'–**मी० श्लो०।** (१४) व्याख्या–"क्षीरमृदादौ कारणे दधिघटादिलक्षण कार्यं नास्तीत्येव यत्प्रतीयते लोके स प्रागभाव उच्यते। यदि तु प्रागभावो न भवेत् क्षीरादौ दध्यादि कार्य भवेदेव। एव दध्नि क्षीराख्यस्य यन्नास्तित्वमय प्रध्वसाभाव, अन्यथा दध्नि क्षीर भवेदेव। गवादौ अश्वादेरभावोऽन्योन्याभाव उच्यते। यस्मात्तस्य गवादे पररूपमश्वादिस्वभावो नास्ति तस्मात्तयोरन्योन्याभाव उच्यते। अन्यथा गवादौ भवेदश्वादि यद्यन्योन्याभावो न भवेत्। शशशिरसोऽवयवा निम्ना (अनुन्नता) वृद्धिकाठिन्याभ्या रहिता विषाणादिरूपेण अत्यन्तमसन्त अत्यन्ताभाव उच्यते। यदि त्वत्यन्ताभावो न भवेत् शशे शृङ्ग भवेदेव।"–**तत्त्वसं० पं० पृ० ४७२।** उद्धृतोऽयम्–**न्यायमं० पृ० ६५। हेतुबि० टी० पृ० ८१ B।**

1–वस्तुततयासाकर्यहेतुत्वात् व०। 2 **उक्तञ्च** श्र०।

शिरसोऽवयवा[१] निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता: । शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥
क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः । शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण [२]तौ सह । व्योम्नि सस्पर्श[३](र्शि)ता ते[४] च न चेदस्य[५] प्रमाणता ॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७, ९, ८, २-६ ।] इति[६] ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[७]–'अभावप्रमाणं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्' इत्यादि;

तत्प्रतिविधानपुरस्सरम् अभावस्य प्रत्यक्षाद्यन्यतमग्राह्यत्वसमर्थनम्—

तदसमीक्षिताभिधानम्; त[८]द्विषयस्य प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमानतया [९]तस्य [१०]ततो भेदानुपपत्तेः । द्विविधो हि अभावः–विप्र[3]कृष्टार्थसम्बन्धी, अविप्रकृष्टार्थसम्बन्धी चेति । तत्र यो देशाद्यविप्रकृष्टार्थसं[4]बन्ध्यभावः स प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यते, इन्द्रिय[११]व्यापारादनन्तरम् 'अघटं भूतलम्' इत्यादिप्रत्ययप्रतीतेः । अप्रत्यक्षत्वञ्च अभावस्य इन्द्रियेणाऽसं[5]बद्धत्वात्, अरूपित्वात्, असद्रूपत्वाद्वा ? न तावदसम्बद्धत्वात्, रूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, अप्राप्यकारिणा हि

(१) उन्नता अथ च वृद्धिमन्त कठिना अवयवा विषाणत्वेन व्यपदिश्यन्ते, यदा च शशशिरसोऽवयवा निम्ना अनुन्नता अथ च वृद्धिकाठिन्यविरहिता तदा त एव शृङ्गाभावरूपेण व्यपदेशार्हा । (२) रसगन्धौ । (३) सस्पर्शिणो भाव सस्पर्शिता स्पर्श इत्यर्थ । 'सस्पर्शकास्ते च'–**तत्त्वसं०, स्या० र०** । 'सस्पर्शता ते च' –**सन्मति० टी०** । (४) रूपरसगन्धा –**आ० टि०** । (५) अभावस्य । (६) एतेऽष्टावपि श्लोका निम्नग्रन्थेषु उद्धृताः–**तत्त्वस०, तत्त्वस० पं० पृ०** ४७१–४७३ । **प्रमेयक० पृ० १९०** । **सन्मति० टी० पृ० ५८०–८१** । **षड्द० बृह० पृ० १२० B.** । 'न च स्याद्व्य' इति श्लोक विना सप्त श्लोका –**स्या० र० पृ० २८१–८३** । (७) **पृ० ४६३ प० ८** । "अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्न कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्न कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।"–**प्रश० भा० पृ० ५७७** । (८) तुलना–"प्रत्यक्षादिनैवाभावस्य प्रतीते, तथा चाक्षव्यापारादिह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमपरोक्षमुत्पद्यमान दृष्टम्"–**प्रश० व्यो० पृ० ५९२** । **प्रश० कन्द० पृ० २२६** । "न ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाऽप्रतिषेध ।"–**न्यायसू० २।२।२** । "अभावोऽप्यनुमानमेव"–**न्यायवा० पृ० २७६** । "सत्यमभाव प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवसीयमानस्वरूपत्वान्न प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छित्तये मृगयते । अदूरमेदिनीदेशवर्तिनस्तस्य चक्षुषा । परिच्छेद परोक्षस्य क्वचिन्मानान्तरैरपि ॥"–**न्यायमं० पृ० ५१** । "अन्यस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्योपलम्भ्या घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धि । एतदुक्तम्भवति–घटग्राहकत्वस्य भूतलग्राहकत्वस्य चैकज्ञानसंसर्गित्वात् यदा भूतलग्राहकमेव तज्ज्ञान भवति तदा घटग्राहकत्वाभाव निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्यक्षसिद्धैव घटानुपलब्धि ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६** । "यदि वस्तु प्रमाभाव मेयाभावस्तथैव च । प्रत्यक्षेऽन्तर्गतोऽभाव तथा सति कथन्न ते ॥"–**तत्त्वस० पृ० ४७५** । "भावांशवदितरस्यापि प्रत्यक्ष एव –**सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ A** । "एवञ्चाभावप्रमाणवैयर्थ्यम् असदशस्यापि प्रत्यक्षादिसमधिगम्यत्वसिद्धे ।" –**तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२** । "अभावप्रमाण तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवति" –**स्या० र० पृ० ३१०** । **न्यायाव० टी० टि० पृ० २१** । (९) अभावस्य–**आ० टि०** । (१०) प्रत्यक्षादे –**आ० टि०** । (११) "न चाभावस्यासत्त्व प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्व्यवसीयमानत्वात्, तथाहि–इह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानमिन्द्रियभावव्यतिरेकानुविधानादिन्द्रियजम् ।" –**प्रश० व्यो० पृ० ४००** ।

1–तामेव न ब० । 2–दस्त्यप्र–ब० । 3 विप्रकृष्टोऽर्थसम्बन्धी चेति ब० । 4–सम्बन्ध्यभाव आ० । 5–सम्बन्धत्वात् आ० ।

चक्षुषा यथा रूपस्य असम्बद्धस्य ग्रहणं तथा अभावस्यापि। ननु चासम्बद्धस्याप्यभावस्य चक्षुषा ग्रहणे देशान्तरवर्त्तिनोऽपि[1] ग्रहणप्रसङ्ग. अविशेषात्[2]; इत्यपि रूपेण कृतोत्तरम्। नहि तस्य असम्बद्धस्य ग्रहणेऽपि सकलदेशकालवर्त्तिनो ग्रहण दृष्टम् । अथ रूपे चक्षुषः सयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावादसम्बद्धत्वमसिद्धम्; तन्न, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वस्य प्रागेव[3] प्रतिपादनात् । तत्सम्बन्धात्[4] तस्य[5] तेन[6] ग्रहणे च रसादेरपि ग्रहणप्रसक्तिः तदविशेषात्[7] । अयोग्यत्वात्तद्[8]ग्रहणे देशान्तरादिस्थस्य अभावस्याप्यत[9] एवाग्रहणमस्तु अविशेषात् ।

किञ्च, आश्रय[10]ग्रहणसापेक्षम् अभावग्रहणम्, आश्रयश्च[11] सन्निहित एव गृह्यते, तत्कथं देशान्तरादिस्थस्य अभावस्य ग्रहणसम्भावनाऽपि ? तन्नेन्द्रियेणासम्बद्धत्वादस्य[12] अप्रत्यक्षता युक्ता ।

नाप्यरूपित्वात्, तस्य[13] प्रत्यक्षतां प्रत्यनङ्गत्वात्, नहि रूपित्व[14] प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम्, परमाणूनां रूपित्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वात् । गुण-कर्म-सामान्येन अनेकान्ताच्च; न खलु रूपादिगुणस्य गमनादिकर्मण· गोत्वादिसामान्यस्य च रूपित्वमस्ति, अथ च प्रत्यक्षत्वं तत्र विद्यते ।

असद्रूपत्वमपि न प्रत्यक्षतां प्रतिहन्ति; असद्रूपस्य हि सद्रूपतया प्रत्यक्षत्वमनुपपन्नं न पुनरसद्रूपतया, स्वस्वभावेन अर्थानां प्रत्यक्षत्वाऽविरोधात् । नहि घटस्य पटात्मना प्रत्यक्षत्वविरोधे स्वात्मनापि तद्विरोधो[14] युक्तः, सर्वत्र प्रत्यक्षव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । ततस्तमिच्छता[15] भाववद् अभावस्यापि स्वस्वभावेन प्रत्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम् । ननु तथापि अभावस्य कथ प्रत्यक्षता विरोधादिति[16] चेत् ? भावस्य कथम् ? प्रत्यक्षग्राह्यत्वाच्चेत्; इतरत्र[17] समानम् । तथाहि—उन्मीलिते चक्षुषि भूतलं घटाभावश्च प्रतिभासते, न निमीलिते । अतः समाने तद्भावभावित्वे[18] कथं भूतलज्ञानमेव प्रत्यक्ष न घटाभावज्ञानमिति नियमविभागो युक्तः ? प्रयोग·—यच्चक्षुर्भावाऽभावानुविधायि तत् प्रत्यक्षम् यथा भूतलादिज्ञानम्, तदनुविधायि च घटाद्यभावज्ञानमिति । अप्रत्यक्षत्वे चास्य[19] आलोकापेक्षापि अतिदुर्घटा, आलोको हि चक्षुष एव उपकारकत्वेन प्रसिद्धः । तदुपकृत[20]चक्षु·प्रभवत्वानभ्युपगमे च घटाद्यभावज्ञानस्य, अन्धस्यापि तदुत्पत्तिः स्यात् ।

---

(१) अभावस्य । (२) असम्बद्धत्वस्य समानत्वात् । (३) पृ० ७७। (४) सयुक्तसमवायसम्बन्धात् । (५) रूपस्य–आ० टि० । (६) इन्द्रियेण–आ० टि० । (७) सयुक्तसमवायाविशेषात् 'चक्षु सयुक्तामामूादिक तत्र च रसस्य समवायात् । (८) रसस्याग्रहणे । (९) अयोग्यत्वादेव । (१०) तुलना–"नचासम्बद्धत्वाविशेषाद्देशान्तरादिषु सर्वाभावग्रहणमाशङ्कनीयम्, आश्रयग्रहणसापेक्षत्वादभावप्रतीते, आश्रयस्य च सन्निहितस्यैव प्रत्यक्षत्वात् ।"–न्यायम० पृ० ५२ । (११) आश्रयो भूतलादि । (१२) अभावस्य। (१३) रूपित्वस्य। (१४) प्रत्यक्षत्वविरोध । (१५) प्रत्यक्षव्यवहारम् । (१६) प्रत्यक्षञ्चेत् कथमभाव, अभावञ्चेत् कथ प्रत्यक्ष इति विरोध । (१७) अभावेऽपि। (१८) चक्षु–आ० टि०। (१९) घटाद्यभावज्ञानस्य ।(२०) आलोकसहकृत ।

1 तस्य तत्र प्र–श्र० । 2 रूपत्व श्र० । 3 घटभाव–व० । 4 प्रतिसिद्ध. व० ।

ननु घटाद्यभावज्ञाने लोचनान्[1]वयव्यतिरेकानुविधानम् [१]अन्यथासिद्धम् रूपज्ञानानन्तरभाविस्पर्शसंवेदनवत्, यथैव हि दूरदेशस्थितज्वलज्ज्वलनज्वालारूपोपलम्भानन्तरभाविनि तद्गतोष्णस्पर्शसंवेदने लोचनान्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धं तथा[2] भूतलोपलम्भानन्तरभाविनि घटाद्यभावज्ञानेऽपि, इत्यप्यसाम्प्रतम्; 'इह भूतले घटो नास्ति' इति ज्ञा[3]नस्य भेदाऽसिद्धेः। सिद्धे हि ज्ञा[4]नभेदे त[२]दन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य अन्यथासिद्धत्वं वक्तुं युक्तम् रूपस्पर्शज्ञानवत्। न चात्र[३] तद्भेदोऽस्ति, 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिज्ञानवत् 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिज्ञानस्यापि एकस्य [४]उभयांशावलम्बिनः अनुपरतनयनव्यापारे [5]प्रतिपत्तरि प्रतीतेः। अस्तु वा त[५]द्भेदः, तथापि इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन [६]उभयस्योपलम्भाऽविशेषे कथमेक[७]स्य प्रत्यक्षत्वमन्य[८]स्याऽप्रत्यक्षत्वं वक्तुं युक्तं स्वेच्छाकारित्वप्रसङ्गात्?

[९]प्रतियोगिस्मरणानन्तरभावित्वात् घटाद्यभावप्रतीतेरप्रत्यक्षत्वे [१०]सविकल्पकप्रत्यक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः। [११]तद्धि निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तरं शब्दार्थसम्बन्धस्मरणे सति 'घटोयम्' इत्याद्याकारमुपजायते। [१२]तथाविधस्याप्यस्य इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायितया प्रत्यक्षत्वे घटाद्यभावप्र[6]त्ययस्यापि त[१३]दस्तु [१४]अविशेषात्। न चैवं रूपोपलम्भानन्तरभाविस्पर्शसंवेदनेऽपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गः इत्यभिधातव्यम्, स्पर्शग्रहणयोग्यताशून्यत्वाच्चक्षुषः स्पर्शनस्यैव [१५]तद्ग्रहणयोग्यतासद्भावात्, [१६]अन्यथा उप[१७]हतत्वगिन्द्रियस्यापि

(१) अनुमया –आ० टि०। "अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिन एव कार्यसभवे तद्भिन्नमन्यथा सिद्धम्"–मुक्ता० का० १९–२०। तुलना–"न च दूरव्यवस्थितहुतवहरूपदर्शनपूर्वकस्पर्शानुमानवदिदमन्यथासिद्ध तद्भावभावित्वम्; तत्र हि बहुश स्पर्शदर्शनकौशलशून्यत्वमवधारित चक्षुष, स्पर्शपरिच्छेदि च कारणान्तर त्वगिन्द्रियमवगतम्। अविनाभाविता च पुरा तथाविधयो रूपस्पर्शयोरुपलब्धेत्यनुमेय एवासौ स्पर्श इति युक्त तत्रान्यथासिद्धत्व चक्षुर्व्यापारस्य, प्रकृते तु नेदृश प्रकार समस्ति।"–न्यायम० पृ० ५१। "यत्तु भूप्रदेशग्रहणजन्मन्येव अक्षाणामुपयोगित्वादक्षापेक्षित्वमन्यथासिद्धमभावज्ञानस्येत्युक्तम्; तदनुपपन्नम्, न खलु ज्ञानद्वय क्रमेणोत्पद्यमानमिदमनुभूयते प्रथममिन्द्रियज भूप्रदेशज्ञान तत प्रतियोगिस्मरणे सति मानसमिन्द्रियानपेक्ष नास्तिताज्ञान च। एकस्यैव कुम्भादिविविक्तभूप्रदेशग्राहिणो ज्ञानस्याभावग्राहित्वेनाप्यनुभूयमानत्वात्, तस्य चेन्द्रियजत्वेन त्वयापि प्रतिपन्नत्वान्नान्यथासिद्धमक्षापेक्षित्वमभावज्ञानस्य।" –स्या० र० पृ० ३१०। (२) इन्द्रिय। (३) इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र। तुलना–"तथा चेह घटो नास्तीति ज्ञानमेकमेवेदमिह कुण्डे दधीति ज्ञानवद् उभयालम्बनमनुपरतनयनव्यापारस्य भवति, तत्र भूप्रदेशमात्र एव नयनज ज्ञानमितरत्र प्रमाणान्तरजमिति कुतस्त्योऽय विभाग।"–न्यायम० पृ० ५१। (४) भूतलघटाभावौ उभयम्। (५) ज्ञानभेद। (६) भूतलघटाभावौ उभयम्। (७) भूतलस्य। (८) घटाभावस्य। (९) घटस्मरण। (१०) वैशेषिकाद्यभिमताय–आ० टि०। (११) सविकल्पकम्–आ० टि०। (१२) स्मरणानन्तरभाविनोऽपि सविकल्पकस्य। (१३) प्रत्यक्षत्वम्। (१४) इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानस्य समानत्वात्। (१५) स्पर्शग्रहण। (१६) चक्षुषा स्पर्शग्रहणे सति–आ० टि०। (१७) वधिरत्वरोगवत्त्वगिन्द्रियस्यापि–आ० टि०। पक्षाघातादिना शून्यस्पर्शनेन्द्रियस्य पुम।

1–न्वयत्वातिरेका–ब०। 2 तदा श्र०। 3 ज्ञानस्यास्य भे–श्र०। 4 ज्ञानस्य भे–श्र०। 5 प्रतिपत्ति प्र–आ०, श्र०। 6–प्रत्यक्षस्यापि श्र०।

स्पर्शसंवित्तिः स्यात्। तस्मादानुमानिकमेव इदं[1] विज्ञानं 'यद्[2] रूपवत् तत् स्पर्शवत्, यदि वा, यदेवं[3]विधरूपवत् तदेवंविधस्पर्शवत्' इति सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाऽविनाभावहेतुसामर्थ्येन उत्पत्तेः, यदित्थमुत्पद्यते तदनुमानमेव यथा 'यद् धूमवत् तदग्निमत्, यद्वा यदेवंविधधूमवत् तदेवंविधाग्निमत्' इत्याद्य[4]वगताविनाभावहेतुप्रभवं विज्ञानम्, प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यते च रूपोपलम्भानन्तरभाविस्पर्शविज्ञानमिति। ततः स्थितमेतत्–देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यत इति।

यस्तु[5] देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभावः सोऽनुमानादेः, तत्र देशविप्रकृष्टस्य कमलाकरकमलादेः सम्बन्धी विकासाद्यभावः दिनकरोदयाद्यभावादवसीयते। कालविप्रकृष्टस्य च शकटादे[6]ः मुहूर्त्तान्ते[1] उदयाभावः अश्विन्युदयात् प्रतीयते। स्वभावविप्रकृष्टस्य[2] च चैतन्यस्य शवशरीरे सत्त्वाभावः व्यापारव्याहाराकारविशेषाभावादनुमीयते। न खलु एवंविधाभावः एवंविधलिङ्गादन्यतः कुतश्चित् प्रतिपत्तुं शक्यः।

एतेन यदुक्तम्[7]–'यद्यभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात् कथमपवरकादौ इन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टो देवदत्ताद्यभावः परिच्छिद्येत[3]' इत्यादि, तदपि प्रतिव्यूढम्; 'नासीदपवरके देवदत्तः' इत्यादिप्रतीतेः स्मृतित्वात् 'आसीत् तत्र घटः' इत्यादिप्रतीतिवत्। अपवरकग्राहिणा[4] हि प्रत्यक्षेण तत्राऽसन्निहिता[9]र्थानां[5]मभावा युगपत्प्रतिपन्नाः तत्र[10] सन्निहितार्थसद्भाववत्। तदुत्तरकालञ्च संस्कारप्रबोधवशात् तद्भावा[11]भावविषया प्रतीतिः उदयमासादयन्ती स्मृतित्वन्न जहातीति। न[12] चैतद् वक्तव्यम्–'सकृदनुभूतेषु सकलपदार्थाभावेषु

(१) रूपदर्शनान्तरभावि स्पर्शज्ञानम् अनुमानात्मकम् सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यमानत्वात्। (२) इयं सामान्येन व्याप्तिः। (३) एषा विशेषतो व्याप्तिः। (४) सामान्यतो विशेषतश्च। (५) तुलना–"कश्चित्पुनरसन्निकृष्टदेशवृत्तिरनुमेयोऽपि भवत्यभावः यथा सन्तमसे सलिलधाराविसरसिक्तसस्यमूलमभिवर्षति देवे घनपवनसंयोगाभावोऽनुमीयते, यथा वाऽर्थापत्तावुदाहृत गृहभावेन चैत्रस्य बहिरभावकल्पनमिति। आगमादप्यभावस्य क्वचिद् भवति निश्चयः। चौरादिनास्तिताज्ञानमध्वगानामिवाप्ततः॥"–न्यायम० पृ० ५४। (६) रोहिण्यादिनक्षत्रस्य। (७) पृ० ४६६ पं० १। (८) तुलना–"अस्य स्मरणत्वात्। यद्यपि पूर्वं हस्ती नास्तीत्यादि सविकल्पकं ज्ञानं नोत्पन्नं तथापि हस्त्याद्यभावविशिष्टे देवकुले निर्विकल्पकं ज्ञानमुत्पन्नम्। अन्यथा हि यदाह देवकुलमद्राक्षं न तदा तं समीपवर्तिनं हस्तिनमिति प्रश्नानन्तरं स्मरणं न स्यात्। तत्तु दृष्टम्। यस्य वस्तुनः पूर्वं नाभावः परिच्छिन्नस्तत्र परप्रश्नानन्तरं संशेते 'न निरीक्षितं मया किं तत्र देवदत्तोऽस्त्युत हस्ती' इति। न चेदानीमभावं निश्चिनोति अतः पूर्वमेव हस्त्याद्यभावस्य प्रतीतेर्युक्तमेतत् स्मरणं 'न मया तत्र हस्ती दृष्टः' इत्यादि।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९३। न्यायम० पृ० ५३। प्रश० कन्द० पृ० २२७। (९) देवदत्तादीनाम्। (१०) अपवरके। (११) येषामर्थानां सद्भावः तेषां सद्भावतया येषाञ्च देवदत्तादीनामभावस्तेषामभावरूपेण। (१२) तुलना–"ननु मेचकबुद्ध्या सकलाभावग्रहणे सहैव सकलाभावस्मृतिस्प-

1 मुहूर्त्तान्ते श्र०। 2–स्य चै–श्र०। 3 परिच्छिद्यते श्र०, परिच्छेद्यते आ०। 4–हिणा प्र– आ०, श्र०। 5–नामभावो युगपत्प्रतिपत्तेः तत्र ब०।

सहसैव स्मृतिः स्यात्' इति; अनुभूतत्वमात्रस्य स्मृत्यकारणत्वात्, अनुभूतेष्वपि हि भावाभावस्वभावेषु निखिलार्थेषु यस्य यस्य संस्कारोद्बोधनिमित्ता प्रश्नादिसामग्री सम्पद्यते तस्य तस्य रूपस्य स्मृतिः प्रादुर्भवति 'इदं तत्रासीत्, इदं नासीत्' इति।

यदपि–'अभावप्रमाणोत्पत्तौ भूतलाद्याश्रयग्रहण[1]रूपा सामग्री' इत्याद्युक्तम्[1]; तदप्यसारम्, आश्रयग्रहणस्य प्रत्यक्षेऽप्यविशिष्टत्वात् । न खलु 'भूतले घटोऽस्ति' इति प्रत्यक्षं भूतलग्रहणादृते घटते। न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणमिति नियमोऽस्ति, अन्धकारे प्रदीपाभावप्रतिपत्तेराश्रयाऽग्रहणेप्यु[2]त्पत्तेः । न चान्धकार एव आश्रयः इत्यभिधातव्यम् ; प्रकाशाभावमात्रतया भ[2]वता त[3]स्य इष्टेः, स[4] एव च प्रदीपाभाव इति नाश्रयस्य त[5]द्व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्तत्र[6] ग्रहणम् । तथा 'गन्धो नास्ति' इत्यपि प्रतीतिः आश्रयग्रहणनिरपेक्षैवोत्पद्यते, निमीलिताक्षस्या[3]पि हि घ्राणेन्द्रियव्यापारादनन्तरं गन्धाभावप्रतीतिः उत्पद्यते। न च तत्र घ्राणेन्द्रियेण आश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहणं सम्भवति; दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेव द्रव्यस्य ग्रहणसम्भवात्। तथा 'नास्ति शब्दः' इति श्रोत्रव्यापारादेव आश्रयग्रहणनिरपेक्षाद्भवति अभावप्रतीतिः। न हि श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दस्य आ[7]श्रयो ग्रहीतुं शक्यः, तस्य अत्यन्तपरोक्षस्य अनुमानेनैवावसायात्। तन्नाश्रयग्रहणमभावप्रमाणसामग्र्यामनुप्रविशति ।

अनुप्रविशतु वा, त[8]थापि आ[9]श्रयस्य ग्रहण किं [10]निषेध्याभावसहितस्य, केवलस्य वा ? [11]प्रतियोगिनोऽपि स्मरणम्–किम् अभावाक्रान्तस्य, तद्विपरीतस्य वा ? तत्र अभावविशेषितयोः [12]आश्रयप्रतियोगिनोः ग्रहणस्मरणपथप्राप्तयोः [13]तत्कारणत्वाभ्युपगमे 'अभावज्ञानादेव अभावज्ञानम्' इत्युक्तं[4] स्यात्। न च [14]स्वात्माश्रयस्य कस्यचित् सिद्धियुक्ता [15]अतिप्रसङ्गात् । चक्रकप्रसङ्गश्च–अभावप्रमाणोत्पत्तौ हि प्रतियोग्यभावप्रतिपत्तिः, तत्प्रतिप[5]त्तौ च [16]तद्विशेषितयोः आश्रयप्रतियोगिनोः प्रतिपत्तिः, तस्याश्च सत्याम् अभाव

जायेत, मैवम्, यत्रैव प्रश्नादि स्मरणकारणमस्य भवति तदेव स्मरति न सर्वम् अविद्यमानस्मरणनिमित्तम्। अन्यत्र तु युगपदुपलब्धेष्वपि वर्णेषु युगपदन्त्यवर्णानुभवसमनन्तर स्मरणम्। अन्यत्र तु युगपदुपलब्धेऽपि क्रमेण स्मरण भविष्यतीति न मेचकबुद्धावय दोष ।"–न्यायम० पृ० ५३।

(१) पृ० ४६४ प० २ (२) वैशेषिकेण (३) अन्धकारस्य । "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भावस्तम ।"–वैशे० सू० ५।२।१९। (४) प्रकाशाभाव एव । (५) प्रदीपाभावभिन्नस्य। (६) प्रदीपाभावप्रतिपत्तौ। (७) आकाशम् । (८) तुलना–"तत्र निषेध्याधारो वस्त्वन्तर प्रतियोगिसंसृष्ट वा प्रतीयते, असंसृष्ट वा ? प्रतियोगिनोऽपि स्मरण वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य असंसृष्टस्य वा ?"–प्रमेयक० पृ० २०३। सन्मति० टी० पृ० २४। जैनतर्कवा० वृ० पृ० ९३। स्या० र० पृ० ३११। (९) भूतलस्य (१०) घटाभावसहितस्य। (११) घटस्य। (१२) भूतलघटयो (१३) अभावप्रतीतिहेतुत्वे। (१४) स्वस्य स्वापेक्षया प्रतीतौ स्वात्माश्रयत्वम् । (१५) अग्नेरेव अग्निसिद्धिप्रसङ्गात्। तथा च सर्व सर्वं स्वस्मात् सिद्ध्येत् (१६) अभावविशिष्टयो ।

1–ग्रहणत्वारूपा श्र० । 2–प्युपपत्ते श्र० । 3–पि घ्रा–आ०, श्र० । 4–क्त भवति न ब० ।
5–त्तौ तद्वि–आ०, ब० ।

प्रमाणोत्पत्तिरिति । अभावनिरपेक्षतया च आश्रये प्रतियोगिनि च गृह्यमाणे यद्यभाव-प्रतीति स्यात् तदा सघटेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रतीतिः स्याद् विशेषाभावात् । ततो यथोक्तसामग्र्या विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः चक्षुरादिसामग्रीत एव अभावप्रमाणस्य उत्पत्तिः स्वपरात्मना सदसद्रूपघटाद्यर्थविषयता चाभ्युपगन्तव्या । ननु परात्मना घटादेर-सत्त्वं प्रतीयमानं न स्वात्मतया प्रतिपन्नं स्यात्, यच्च स्वात्मतया न प्रतीयते कथं तत्तस्य रूपम् अतिप्रसङ्गात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; यतः परात्मनाऽपि प्रतीयमानमसत्त्वं घटादेरेव प्रतीयते नतु परस्य, 'घटो हि पटो न भवति' इत्येव नञर्थः प्रतीयते, नतु 'पटः पटो न भवति' इत्येवम् । अतः परात्मना प्रतीयमानोऽपि नञर्थः घटादेरेव प्रतीयते इति तस्यैव[1] तद्रूपेण[2] असत्त्वमिति व्यपदिश्यते ।

यच्चान्यदुक्तम्[3]–'घटविविक्तत्व किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, यतः तद्विविक्तत्वं तद्धर्मतया[4] ततः[5] कथञ्चिद् व्यतिरिक्त पृच्छ्यते, पदार्था-न्तरतया वा[6] ? तत्र तद्धर्मतयैव तत् कथञ्चिद्भिन्नमुपपन्न न पुनः पदार्थान्तरतया । स्वहेतुतो[7] हि भावाः परस्पराऽसङ्कीर्णस्वभावविशिष्टाः समुत्पन्नाः, तद्विपरीता वा ? प्रथम-विकल्पे सिद्धमेषां स्वकारणकलापादेव अन्याऽसंसृष्टस्वभावत्वम्[8], अतो वैयर्थ्यम-र्थान्तरभूताभावपरिकल्पनायाः । यत् स्वरूपतो विविक्तस्वभाव न तत्र अर्थान्तर-भूताऽभावपरिकल्पना फलवती यथा[10] प्रागभावादौ, स्वरूपतो विविक्तस्वभावाश्च[9] भावाः स्वहेतुतः समुत्पन्ना इति । द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः; स्वरूपतोऽविविक्तानामर्थानां व्यतिरिक्ताभावेन वैविक्त्यस्य[11] कर्तुमशक्यत्वात् । यत् स्वभावतोऽविविक्तस्वरूपम् न तत्र अर्थान्तरभूताभावेन विवेकः कर्तुं शक्यः यथा एकव्यक्तौ, स्वभावतोऽविविक्त-स्वरूपाश्च परमते पदार्था इति ।

(१) घटस्यैव । (२) पटरूपेण (३) पृ० ४६५ प० २० । (४) घटधर्मतया । (५) घटान् । (६) द्विविधा हि विविक्तता–धर्मधर्मिरूपेण कथञ्चिद्विविक्तता यथा ज्ञानात्मनो , पदार्थान्तररूपेण सर्वथा यथा घटपटयो । (७) तुलना–"सर्व हि भावा स्वस्वरूपस्थितयो नात्मान परेण मिश्रयन्ति तस्यापरत्वप्रसङ्गात् "–प्रमाणवा० स्ववृ० १।४२ । "नाप्येषा परम्पराभिन्नानामभावेन भेद शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभाव मभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेद क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्ते । नापि भेदव्यवहार क्रियते, यतो भावानामात्मात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेद , स च प्रत्यक्षप्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतु ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । "यत स्वकारणकलापात् स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावा समुत्पन्ना नात्मान परेण मिश्रयन्ति तस्याऽपरत्वप्रसङ्गात् "–प्रमेयक० पृ० २०८ । सन्मति० टी० पृ० ५८८ । स्या० र० पृ० ५८१ । (८) अन्योन्यममिलितस्वरूपा भिन्ना इत्यर्थ । (९) भिन्नस्वभावत्वम् । (१०) प्रागभावे नास्ति प्रध्वसादिरित्यत्र । (११) भिन्नताया ।

1 इति स्या–ब० । 2–मानं स्वा–श्र० । 3 न तु पटो न ब० । 4–त्त्वमित्येव व्य–ब० । 5–स्तभावाश्च श्र० । 6 विविक्तस्य ब० । 7–तो विवि–ब० ।

किञ्च, अभावं[1] विना भावानां विवेकोऽसंभवे[2] कथमभावानामन्योन्यं[3] भावान्तराच्च[4] विवेकः स्यात् ? तत्रापि[5] तद्धेतोरभावान्तरस्याऽभ्युपगमे[6] अनवस्थाप्रसङ्गः । अथ अभावान्तरमन्तरेणापि अस्य[7] विलक्षणस्वभावत्वादेव अन्यतो[8] विवेकः; तर्हि वैयर्थ्यम् अर्था-[9]न्तराभावपरिकल्पनायाः, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अन्यतो[10] व्यावृत्तिप्रसिद्धेः । तथाहि–घटादेः अन्यतो व्यावृत्तिः विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव[11], अन्यतो व्यावृत्तित्वात्, या अन्यतो व्यावृत्तिः सा विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृत्तिश्च घटादेरिति[12] ।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभावः तावन्न भिद्यते सर्वत्रैव अस्य[13] एकत्वेनाऽभ्युपगमात् । ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽभावनिबन्धना[14] । तत्र[15] हि इतरेतराभावः, अभावान्तरं वा निबन्धनं स्यात् ? इतरेतराभावश्चेत्; किं स एव, अन्यो वा ? न तावत् स एव; अतो[16] घटादेर्व्यावर्त्तमानत्वात् । यत्[17] यतो व्यावर्त्तते न तस्मादेव तस्य व्यावृत्तिः यथा पटाद् व्यावर्त्तमानस्य घटस्य न पटादेव[18] व्यावृत्तिः, व्यावर्त्तते च इतरेतराभावाद् घट इति । इतरेतराभावान्तराभ्युपगमे च अस्य[19] एकत्वक्षतिः अनवस्था[20] च स्यात् । अथ अभावान्तरमस्य[21][22] ततो[23] व्यावृत्तेर्निबन्धनम्; तन्न, इतरेतरव्यावृत्तेः अभावान्तरनिबन्धनत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽनर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदमतः[24] प्राङ् नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादिप्रतीतेरुपपत्तेः । अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोषः ?

(१) तुलना–"किञ्च भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनोऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ स्वरूपेण भेदः, तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितेन ।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ ।** "यदि चेतरेतराभाववशात् घटः पटादिभ्यो व्यावर्त्तेत तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादेः किं स्वतो व्यावर्त्तेत, अन्यतो वा ?"–**प्रमेयक० पृ० २०८ । स्या० र० पृ० ५८१ ।** (२) भेदाभावः । (३) प्रागभावः प्रध्वंसाद् भिन्नः । (४) प्रागभावः घटादेर्भिन्न इति । (५) अभावेष्वपि । (६) भेदहेतो (?) इतरेतराभावस्य । (७) अभावस्य । (८) भावाद् घटादेः अभावान्तराच्च प्रागभावादेः । (९) भिन्नाभावः । (१०) पटादेः । (११) घटो भूतलं न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतराभावादेव (विलक्षणस्वभावादेव) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिर्न पुनरभावादिति भावः–आ० टि० । (१२) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव नाभावनिबन्धनैव–आ० टि० । (१३) इतरेतराभावस्य । (१४) द्वितीयाभावः । (१५) अभावनिबन्धनत्वे–आ० टि० । (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतराभावात् । (१७) घट-इतरेतराभावयोः व्यावृत्तिर्न तदितरेतराभावनिबन्धना तस्मादेव तस्य व्यावर्त्तमानत्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव–आ० टि० । (१९) इतरेतराभावस्य । "गव्यश्वाभावोऽश्वे च गोरभावः इतरेतराभावः, स च सर्वत्रैको नित्य एव पिण्डविनाशेऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात् । यथा सामान्यमदृष्टवशादुपजायमानेनैव पिण्डेन सह सम्बद्ध्यते नित्यत्वञ्च स्वभावसिद्धम्, तथेतरेतराभावोऽपि ।"–**प्रश० कन्द० पृ० २३० ।** (२०) द्वितीयेतरेतराभावस्य व्यावृत्त्यर्थम् तृतीय इतरेतराभावः कल्पनीयः तद्व्यावृत्त्यर्थञ्च चतुर्थ इति । (२१) इतरेतराभावाद् भिन्नः कश्चित् प्रागभावादिरभावः अभावान्तरम् । (२२) घटस्य । (२३) इतरेतरतः–आ० टि० । (२४) प्रागभावः ।

1 **व्यावृत्तमान**–आ० ।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घटः[1] स्यात्। यस्य यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेदः यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति।

यदपि–अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्[2], तदपि[3] वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुनः सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यास्य[4] वस्तुत्वानुपपत्तेः। यत्[5] सर्वथा तुच्छस्वभावं न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति। अस्तु वा अस्य वस्तुत्वम्, तथापि तत्[6] केन गृह्यताम्–किमभावाख्येन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्वं भाव, अभावो वा ? यदि भावः, कथमभावग्राह्यः तस्य[7] तद्विष[8]यत्वाऽनभ्युपगमात् ? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधाच्च। यत्[9] तुच्छस्वभावं न तद् भावस्वभाववस्तुत्वाश्रय. यथा शशविषाणम्, तुच्छस्वभावश्च परैः परिकल्पितोऽभाव इति। अथ अभावः, तन्न, वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे नीलादावपि तस्य[10] अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्त्तोच्छेदः स्यात्। अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तत्[11], तन्न, प्रमाणान्तराणामभावग्राहकत्वानभ्युपगमे तद्गत[12]वस्तुत्वग्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात्। तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते।

नापि फलम्, अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षादितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात्। किञ्च, सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं युक्ता। न च अस्य[13] तत्सिद्धम्। ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूपं प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपह्नोतुं शक्यम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, यतः केयं तदनुत्पत्तिः[14]–किं निषेध्य[15]विषयज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणाम, अन्य[16]वस्तुविज्ञानं वा ? तत्र अपरिणामस्य अभावस्वभावत्वात् कथं तथाविध[18]ज्ञानजनने सामर्थ्यं स्यात् ? कथं वा प्रामाण्यम्[17] ? प्रमेयपरिच्छेदकस्य हि प्रामाण्य प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथं कस्यचित्परिच्छेदकमतिप्रसङ्गात्[19] ? यत्[20] स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदक यथा

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तस्मादव्यावर्तमानत्वात्। (२) पृ० ४६७ प० १। (३) वस्तुत्वम्। (४) अभावस्य। (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात्। (६) वस्तुत्वम्। (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य। (८) अभावविषयत्व। (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्वभावत्वात। (१०) वस्तुत्वस्य। (११) वस्तुत्वम्। (१२) अभावगत। (१३) अभावस्य। (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्ति। (१५) निषेध्यो घटादि। (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु। (१७) तुलना–"नीरूपस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणता। न युज्यते प्रमेयस्य सा हि संवित्तिलक्षणा॥ यत्प्रमेयाधिगतिरूप न भवति न तत्प्रमाण यथा घटादि, प्रमेयाधिगतिशून्यश्चाभाव इति व्यापकानुपलब्धि।"–तत्त्वस० प० पृ० ४७८। "यत प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात् कथ प्रमेयाभाव परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात्।"–प्रमेयक० पृ० २०५। सन्मति० टी० पृ० ५७८। स्या० र० पृ० ३१०। (१८) 'अत्र घटो नास्ति' इत्याकारकज्ञानोत्पादने। (१९) खरविषाणादेरपि परिच्छेदकत्वप्रसक्ति। (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभाव न प्रमेयपरिच्छेदक स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात्।

1 पट ब०। 2–श्च परि–ब०। 3 अभावस्वरू–श्र०। 4–ते तन्न श्र०। 5 सिद्धस्वरूपे ब०। 6 युक्तम् ब०। 7–विषयज्ञानतया ब०। 8 अभावस्य भावत्वात् आ०। 9–विषस्य ज्ञान–श्र०।

किञ्च, अभावं[1] विना भावानां विवेको[2]ऽसंभवे कथमभावानामन्योन्यं[3] भावान्तराच्च[4] विवेकः स्यात्? तत्रापि[5] तद्धेतो[6]रभावान्तरस्याऽभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः। अथ अभावान्तरमन्तरेणापि अस्य[7] विलक्षणस्वभावत्वादेव अन्यतो[8] विवेकः; तर्हि वैयर्थ्यम् अर्था-[9]न्तराभावपरिकल्पनायाः, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अन्यतो[10] व्यावृत्तिप्रसिद्धेः। तथाहि–घटादेः अन्यतो व्यावृत्तिः विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव[11], अन्यतो व्यावृत्तित्वात्, या अन्यतो व्यावृत्तिः सा विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृत्तिश्च घटादे[12]रिति।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभावः तावन्न भिद्यते सर्वत्रैव अस्य[13] एकत्वेनाऽभ्युपगमात्। ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽभाव[14]निबन्धना। तत्र[15] हि इतरेतराभावः, अभावान्तरं वा निबन्धनं स्यात्? इतरेतराभावश्चेत्, कि स एव, अन्यो वा? न तावत् स एव, अतो[16] घटादेर्व्यावर्त्तमानत्वात्। यत्[17] यतो व्यावर्त्तते न तस्मादेव तस्य व्यावृत्तिः यथा पटाद् व्यावर्त्तमानस्य घटस्य न पटादेव[18] व्यावृत्तिः, व्यावर्त्तते च इतरेतराभावाद् घट इति। इतरेतराभावान्तराभ्युपगमे च अस्य[19] एकत्वक्षतिः अनवस्था[20] च स्यात्। अथ अभावान्तर[21]मस्य[22] ततो[23] व्यावृत्तेर्निबन्धनम्, तन्न, इतरेतरव्यावृत्तेः अभावान्तरनिबन्धनत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽनर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदम[24]तः प्राङ् नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादिप्रतीतेरुपपत्तेः। अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोषः?

---

(१) तुलना–"किञ्च भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनोऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ स्वरूपेण भेद, तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितेन।"–**प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६।** "यदि चेतरेतराभाववशात् घट पटादिभ्यो व्यावर्त्तेत तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादे किं स्वतो व्यावर्त्तेत, अन्यतो वा?"–**प्रमेयक० पृ० २०८। स्या० र० पृ० ५८१।** (२) भेदाभावे। (३) प्रागभाव प्रध्वसाद् भिन्न। (४) प्रागभाव घटादेर्भिन्न इति। (५) अभावेष्वपि। (६) भेदहेतो इतरेतराभावस्य। (७) अभावस्य। (८) भावाद् घटादे अभावान्तराच्च प्रागभावादे। (९) भिन्नाभाव। (१०) पटादे। (११) घटो भूतल न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतराभावादेव (विलक्षणस्वभावादेव) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिर्न पुनरभावादिति भाव–**आ० टि०।** २) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव नाभावनिबन्धनैव–**आ० टि०।** (१३) इतरेतराभावस्य।) द्वितीयाभाव। (१५) अभावनिबन्धनत्वे–**आ० टि०।** (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतरा-। (१७) घट-इतरेतराभावयो व्यावृत्तिर्न तदितरेतराभावनिबन्धना तस्मादेव तस्य व्यावर्तन्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव–**आ० टि०।** (१९) इतरेतराभावस्य। "गव्यश्वाभावोऽश्वे च इतरेतराभाव, स च सर्वत्रैको नित्य एव पिण्डविनाशेऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात्। मान्यमदृष्टवशादुपजायमानेनैव पिण्डेन सह सम्बद्धयते नित्यत्वञ्च स्वभावसिद्धम्, तथेतरेतरा-

तर्हि इतरेतराभावोऽपि [1]घटः स्यात्। [१]यस्य यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेदः यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति।

यदपि–अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्[२], तद[३]पि वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुनः सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यास्य[४] वस्तुत्वानुपपत्तेः। [५]यत् सर्वथा तुच्छस्वभावं न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति। अस्तु वा अस्य वस्तुत्वम्, तथापि [६]तत् केन गृह्यताम्–किमभावाख्येन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्वं भावः, अभावो वा? यदि भावः, कथमभावग्राह्यः [७]तस्य [८]तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात्? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधाच्च। [९]यत् तुच्छस्वभावं न तद् भावस्वभाववस्तुत्वाश्रयः यथा शशविषाणम्, तुच्छस्वभावश्[2]च परैः परिकल्पितोऽभाव इति। अथ अभावः, तन्न, वस्तुत्वस्य [3]अभावरूपत्वे नीलादावपि [१०]तस्य अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्त्तोच्छेदः स्यात्। अथ प्रमाणान्तरेण गृह्य[4]ते [११]तत्, तन्न, प्रमाणान्तराणामभावग्राहकत्वानभ्युपगमे [१२]तद्गतवस्तुत्वग्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात्। तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते।

नापि फलम्, अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षादितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात्। किञ्च, [5]सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं [6]युक्ता। न च [१३]अस्य तत्सिद्धम्। ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूप प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपह्नोतु शक्यम्? इत्यप्यनुपपन्नम्, यतः केयं [१४]तदनुत्पत्तिः–किं निषे[१५]ध्य[7]विषयज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणाम, [१६]अन्यवस्तुविज्ञान वा? तत्र [१७]अपरिणामस्य [8]अभावस्वभावत्वात् कथं [१८]तथावि[9]धज्ञानजनने सामर्थ्यं स्यात्? कथं वा प्रामाण्यम्? प्रमेयपरिच्छेदकस्य हि प्रामाण्य प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथं कस्यचित्परिच्छेदकमति[१९]प्रसङ्गात्? [२०]यत् स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदक यथा

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तस्मादव्यावर्तमानत्वात्। (२) पृ० ४६७ प० १। (३) वस्तुत्वम्। (४) अभावस्य। (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात्। (६) वस्तुत्वम्। (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य। (८) अभावविषयत्व। (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्वभावत्वात। (१०) वस्तुत्वस्य। (११) वस्तुत्वम्। (१२) अभावगत। (१३) अभावस्य। (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्ति। (१५) निषेध्यो घटादि। (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु। (१७) तुलना–"नीरूपस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणता। न युज्यते प्रमेयस्य सा हि संवित्तिलक्षणा॥ यत्प्रमेयाधिगतिरूप न भवति न तत्प्रमाण यथा घटादि, प्रमेयाधिगतिशून्यश्चाभाव इति व्यापकानुपलब्धि।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४७८। "यत प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात् कथ प्रमेयाभाव परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात्।'–प्रमेयक० पृ० २०५। सन्मति० टी० पृ० ५७८। स्या० र० पृ० ३१०। (१८) 'अत्र घटो नास्ति' इत्याकारकज्ञानोत्पादने। (१९) खरविषाणादेरपि परिच्छेदकत्वप्रसक्ति। (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभाव न प्रमेयपरिच्छेदक स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात्।

1 पट' ब०। 2–श्च परि–ब०। 3 अभावस्वरू–श्र०। 4–ते तन्न श्र०। 5 सिद्धस्वरूपे ब०। 6 युक्तम् ब०। 7–विषयज्ञानतया ब०। 8 अभावस्य भावत्वात् आ०। 9–विधस्य ज्ञान–श्र०।

किञ्च, अभावं[1] विना भावानां विवेको[2]ऽसंभवे कथमभावाना[3]मन्योन्यं भावा[4]न्तराच्च विवेकः स्यात्? तत्रा[5]पि तद्धे[6]तोरभावान्तरस्याऽभ्युपगमे अनवस्थाप्रसङ्गः। अथ अभावान्तरमन्तरेणापि अस्य[7] विलक्षणस्वभावत्वादेव अन्यतो[8] विवेकः; तर्हि वैयर्थ्यम् अर्था[9]न्तराभावपरिकल्पनायाः, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अन्यतो[10] व्यावृत्तिप्रसिद्धेः। तथाहि–घटादेः अन्यतो व्यावृत्तिः विलक्षणस्वभावनिर्बन्धनैव[11], अन्यतो व्यावृत्तित्वात्, या अन्यतो व्यावृत्तिः सा विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृत्तिश्च घटादेरिति[12]।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभावः तावन्न भिद्यते सर्वत्रैव अस्य[13] एकत्वेनाऽभ्युपगमात्। ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽभा[14]वनिबन्धना। तत्र[15] हि इतरेतराभावः, अभावान्तरं वा निबन्धनं स्यात्? इतरेतराभावश्चेत्; किं स एव, अन्यो वा? न तावत् स एव; अतो[16] घटादेर्व्यावर्त्तमानत्वात्। यत्[17] यतो व्यावर्त्तते न तस्मादेव तस्य व्यावृत्तिः यथा पटाद् व्यावर्त्तमानस्य घटस्य न पटा[18]देव व्यावृत्तिः, व्यावर्त्तते च इतरेतराभावाद् घट इति। इतरेतराभावान्तराभ्युपगमे च अस्य[19] एकत्वक्षतिः अनवस्था[20] च स्यात्। अथ अभावान्तर[21]मस्य[22] ततो[23] व्यावृत्तेर्निबन्धनम्, तन्न, इतरेतरव्यावृत्तेः अभावान्तरनिबन्धनत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽनर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदमतः[24] प्राङ् नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादिप्रतीतेरुपपत्तेः। अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोषः?

(१) तुलना–"किञ्च भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनोऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ स्वरूपेण भेदः, तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितेन।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६। "यदि चेतरेतराभाववशात् घटः पटादिभ्यो व्यावर्त्तेत तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादेः किं स्वतो व्यावर्त्तेत, अन्यतो वा?"–प्रमेयक० पृ० २०८। स्या० र० पृ० ५८१। (२) भेदाभावे। (३) प्रागभावः प्रध्वंसाद् भिन्नः। (४) प्रागभावः घटादेर्भिन्न इति। (५) अभावेष्वपि। (६) भेदहेतोः इतरेतराभावस्य। (७) अभावस्य। (८) भावाद् घटादेः अभावान्तराच्च प्रागभावादेः। (९) भिन्नाभावः। (१०) पटादेः। (११) घटो भूतलं न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति इतरेतराभावादेव (विलक्षणस्वभावादेव) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिर्न पुनरभावादिति भावः–आ० टि०। (१२) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिबन्धनैव नाभावनिबन्धनैव–आ० टि०। (१३) इतरेतराभावस्य। (१४) द्वितीयाभावः। (१५) अभावनिबन्धनत्वे–आ० टि०। (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतराभावात्। (१७) घट-इतरेतराभावयोः व्यावृत्तिर्न तदितरेतराभावनिबन्धना तस्मादेव तस्य व्यावर्तमानत्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव–आ० टि०। (१९) इतरेतराभावस्य। "गव्यश्वाभावोऽश्वे च गोरभावः इतरेतराभावः, स च सर्वत्रैको नित्य एव पिण्डविनाशेऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात्। यथा सामान्यमदृष्टवशादुपजायमानेनैव पिण्डेन सह सम्बद्ध्यते नित्यत्वञ्च स्वभावसिद्धम्, तथेतरेतराभावोऽपि।"–प्रश० कन्द० पृ० २३०। (२०) द्वितीयेतरेतराभावस्य व्यावृत्त्यर्थम् तृतीयः इतरेतराभावः कल्पनीयः तद्व्यावृत्त्यर्थञ्च चतुर्थ इति। (२१) इतरेतराभावाद् भिन्नः कश्चित् प्रागभावादिरूपः अभावः अभावान्तरम्। (२२) घटस्य। (२३) इतरेतरतः–आ० टि०। (२४) ।भा०

1 व्यावृत्तमान–आ०।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घटः स्यात् । यस्य[1] यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेदः यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति ।

यदपि–अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्[2], तदपि[3] वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुनः सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यास्य[4] वस्तुत्वानुपपत्तेः । यत्[5] सर्वथा तुच्छस्वभावं न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति । अस्तु वा अस्य वस्तुत्वम्, तथापि तत्[6] केन गृह्यताम्–किमभावाख्येन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्वं भाव, अभावो वा ? यदि भावः, कथमभावग्राह्यः तस्य[7] तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात्[8] ? तुच्छस्वभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधाच्च । यत्[9] तुच्छस्वभावं न तद् भावस्वभाववस्तुत्वाश्रय. यथा शशविषाणम्, तुच्छस्वभावश्च परैः परिकल्पितोऽभाव इति । अथ अभावः, तन्न, वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे नीलादावपि तस्य[10] अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्त्तोच्छेदः स्यात् । अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तत्[11], तन्न, प्रमाणान्तराणामभावग्राहकत्वानभ्युपगमे तद्गत[12]वस्तुत्वग्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात् । तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्यवतिष्ठते ।

नापि फलम्; अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षादितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात् । किञ्च, सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं युक्ता । न च अस्य[13] तत्सिद्धम् । ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूप प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपह्नोतु शक्यम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, यतः केयं तदनुत्पत्तिः[14]–किं निषेध्य[15]विषयज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणाम, अन्यवस्तु[16]विज्ञान वा ? तत्र अपरिणामस्य अभावस्वभावत्वात्[17] कथं तथाविध[18]ज्ञानजनने सामर्थ्यं स्यात् ? कथ वा प्रामाण्यम् ? प्रमेयपरिच्छेदकस्य हि प्रामाण्य प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथ कस्यचित्परिच्छेदकमतिप्रसङ्गात्[19] ? यत्[20] स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदक यथा

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तस्मादव्यावर्तमानत्वात् । (२) पृ० ४६७ प० १ । (३) वस्तुत्वम् । (४) अभावस्य । (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात् । (६) वस्तुत्वम् । (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य । (८) अभावविषयत्व । (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्वभावत्वात । (१०) वस्तुत्वस्य । (११) वस्तुत्वम् । (१२) अभावगत । (१३) अभावस्य । (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्ति । (१५) निषेध्यो घटादि । (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु । (१७) तुलना–"नीरूपस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणता । न युज्यते प्रमेयस्य सा हि संवित्तिलक्षणा ॥ यत्प्रमेयाधिगतिरूप न भवति न तत्प्रमाण यथा घटादि, प्रमेयाधिगतिशून्यश्चाभाव इति व्यापकानुपलब्धि ।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४७८ । "यत प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात् क्थ प्रमेयाभाव परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात् ।'–प्रमेयक० पृ० २०५ । सन्मति० टी० पृ० ५७८ । स्या० र० पृ० ३१० । (१८) 'अत्र घटो नास्ति' इत्याकारकज्ञानोत्पादने । (१९) खरविषाणादेरपि परिच्छेदकत्वप्रसक्ति । (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभाव न प्रमेयपरिच्छेदक स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात् ।

1 पट व० । 2–श्च परि–ब० । 3 अभावस्वरू–श्र० । 4–ते तन्न श्र० । 5 सिद्धस्वरूपे ब० । 6 पुनतम् ब० । 7–विषयज्ञानतया ब० । 8 अभावस्य भावत्वात् आ० । 9–विषयस्य ज्ञान–श्र० ।

जनयति[1] तद् भावस्वभावमेव यथा घटादि, स्वाकारमर्पयन् ज्ञान जनयति च अभाव इति । यत् खलु कुतश्चिदुत्पन्न केनचिद्रूपेण प्रतिभासमान काञ्चिदर्थक्रियां करोति तद् भावस्वरूपमुच्यते ।

किञ्च, अभावाकारस्य[1] ज्ञानेऽनुप्रवेशे तस्यापि[2] असत्त्वप्रसङ्गात् कुतः किं प्रतीयताम् ? न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येवं प्रत्यक्षं तत्सद्भावे प्रमाणमित्यभिधातव्यम्, शब्द[3]संसर्गेणो[2]पजायमानस्यास्य[4] विकल्परूपतया प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । विकल्पानाञ्च अर्थे प्रामाण्यानुपपत्तिः अर्थाऽसंस्पर्शित्वात्तेषाम्[5] । तन्न प्रत्यक्षतोऽभावसिद्धिः । नाप्यनुमानतः; तद्धि[6] साध्यप्रतिबद्धलिङ्गबलादुदयमासादयति । प्रतिबन्धश्च[7] साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयते[3] ? न तावत् प्रत्यक्षतः, अभावस्य उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षाऽगोचरत्वे ततो[8]ऽस्य[9] केनचित् लिङ्गेन सह प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । अनुमानतः तत्प्रतीतौ अनवस्था, तत्रापि[10] अनुमानान्तरात् तत्प्रतीति[11]प्रसङ्गात् । तन्न कुतश्चित् प्रतिबन्धसिद्धिः । नचासिद्ध[4]प्रतिबन्धं लिङ्ग साध्यसाधनाय प्रभवति अतिप्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[12]–'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तोऽभावः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात् स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भेदसिद्धिः । यस्य[13] यतः प्रतीत्यादिभेद तस्य ततो भेदः यथा घटात् पटस्य, प्रतीत्यादिभेदश्च भावादभावस्य इति । न चायमसिद्धः, तथाहि–भावा[14]ऽभावयोस्तावत् प्रतीतिभेदः सुप्रसिद्ध एव 'इदमत्रास्ति, इद नास्ति' इति । नहि प्रतीयमानापीत्थं भेदेन अभावप्रतीतिरपह्नोतु युक्ता, भावप्रतीतेरप्यपह्नवप्रसङ्गात् । ननु निर्विकल्पकसामर्थ्येन 'इदमिहास्ति, नास्ति' इति विकल्पद्वयमुत्पद्यते, न च तद्वशा[15]दर्थव्यवस्था, विकल्पानामर्थे प्रामाण्या[5]ऽभावात्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्; सविकल्पकसिद्धौ निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यप्रतिषेधतः सविकल्पकस्यैव अन्त[16]र्बहिर्वा वस्तुव्यव-

तन्निराकरणपूर्वकम् अभावस्य भावान्तररूपस्य वस्तुसत समर्थनम्—

(१) अभावो भावस्वरूप एव स्वाकारार्पकत्वे सति ज्ञानजनकत्वात् । (२) ज्ञानस्यापि । (३) "एकोपलम्भानुभवादिद नोपलभे इति । वुद्धेरुपलभे वेति कल्पिकाया समुद्भव ॥"–प्रमाणवा० ४।२७० । (४) प्रत्यक्षस्य –आ० टि० । (५) विकल्पानाम्–आ० टि० । (६) अनुमान हि । (७) अविनाभाव । (८) प्रत्यक्षात्–आ० टि० । (९) अभावस्य –आ० टि० । (१०) द्वितीयानुमानेऽपि । (११) अविनाभावप्रतीति । (१२) पृ० ४७६ प० १० । (१३) अभावो भावस्वरूपातिरिक्त प्रतीतिस्वरूपसामग्र्यर्थक्रियाभेदात् । (१४) तुलना–"इद तावत्सकलप्राणिसाक्षिक संवेदनद्वयमुपजायमान दृष्टम् इह घटोऽस्ति इह नास्तीति ।"–न्यायम० पृ० ५८ । (१५) विकल्पवशात्–आ० टि० । (१६) अन्तश्चेतनात्मकस्य वहिश्चाचेतनस्वरूपस्य वस्तुन ।

1–स्याज्ञाने ब० । 2–सर्सगेणोप–ब० । 3–तीयेत् आ० । 4–प्रतिबन्धलिङ्ग ब० । 5 प्रामाण्यादित्यपि श्र० ।

स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्[1]। तत्[2]सामर्थ्येनोत्पन्नोऽभावविकल्पाद् [1]अभावाऽसिद्धौ भावसिद्धिरपि [3]अतोऽतिदुर्लभा। अथ प्रत्यक्षादेव भावसिद्धिः, अभावसिद्धौ तत्[4] किं काकैर्भक्षितम्? प्रथमं हि इन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं प्रत्यक्षम् [5]अनेके[3]भावाभावोपाधिखचितमुपाधिमन्तं प्रतिपद्यते, ततः शब्दार्थयोः प्रतिपन्न[6]प्रतिबन्धः प्रतिपत्ता अर्थदर्शनोत्तरकालं यस्य यस्य विवक्षा भवति तत्तद्वाचकं शब्दं स्मृत्वा 'इदमिहास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं [4]दर्शयति। यदि च तेऽभावविशेषाः प्रत्यक्षतो न प्रतिपन्नाः तदा [7]प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात्। नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्। अत. प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽन्यथानुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति।

न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टायाः प्रतीतेः विशेषणमन्तरेणोपपत्तिर्युक्ता। [8]या विशिष्टा प्रतीतिः नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीतिः, विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति। अथ भाव अभावप्रतीतेर्निबन्धनम् अतः [9]स एवास्[10]यां विशेषणं भविष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदिष्टं सिद्ध्येत्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः किं निषिध्यमानो [5]घटादिर्भावः [11]अस्या निबन्धनमभ्युपगम्यते, [12]तदाश्रयो भूतलादिर्वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्बाधतया प्रतीयमानयोर्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्तेः। [13]यन्निर्बाधतया प्रतीयमानयोः प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च निर्बाधतया प्रतीयमानयोः भावाऽभावप्रतीत्योरिति। न च तत्प्रतीत्योर्निर्बाधता वैलक्षण्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्; तद्बाधकस्य कस्य[6]चिदप्यभावात्, पर[14]स्पराऽसङ्कीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च। नहि कश्चिदबालि[7]शो भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अन्या हि भावप्रतीतिः अन्या चाभावप्रतीतिरिति। [8]यदि च भाव एव अभावः स्यात्; तर्हि [15]तत्सत्ताक्षणे [16]तद्देशे चाऽभावप्रतीतिः स्यात्। न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियतां भावसत्तामेव

(१) पृ० ४७। (२) निर्विकल्पक –आ० टि०। तुलना–"तत्र विकल्पमात्रसवेदनमनालम्बनमात्माशालम्बन वेत्यादि यदभिलप्यते तन्नास्तिताज्ञान इव अस्तित्वज्ञानेऽपि समानमतो द्वयोरपि प्रामाण्य भवतु द्वयोरपि वा मा भूत्।"–न्यायमं० पृ० ५८। (३) भावविकल्पात्। (४) निर्विकल्पकप्रत्यक्षम्–आ० टि०। (५) अनेके भावा अभावाश्च उपाधय विशेषणानि तै खचित शबलित चित्रितम् उपाधिमन्त विशेष्यभूतमर्थम्। (६) गृहीतसङ्केत। (७) यस्याऽभाव स प्रतियोगी। (८) इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीति विशेषणग्रहणपूर्विका विशिष्टप्रतीतित्वात्। (९) भाव एव। (१०) अभावप्रतीते –आ० टि०। (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीते। (१२) घटाभावाश्रयो। (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्बाधप्रतीतिवैलक्षण्यात्। तुलना–"नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरस्त्युदय, नापि व्यवहारभेदस्य सभव।"–प्रश० कन्द० पृ० २२९। (१४) अन्योन्य भिन्नस्वभावतया। (१५) भावसत्ताक्षणे (१६) भावदेशे।

1–स्याच्चाभाव–श्र०। 2–अभावसि–ब०। 3 अनेकमभावा–ब०। 4 प्रदर्श–श्र०। 5 घटादिभाव ब०। 6–चिदभा–ब०। 7–शोऽभावमेव भावतया आ०, श्र०। 8 यदि भाव ब०।

अभावतया कश्चित् प्रतिपत्तुमर्हति ।

अथ निषिध्यमान[1]घटाद्याश्रयतयाऽभिप्रेतः भूतलादिभावः तदभावप्रतीतेर्निबन्धनम्; [1]तत्रापि किं भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतेर्निबन्धनम्, विशिष्टं वा ? प्रथमविकल्पे सघटेऽपि भूतले घटाभावव्यवहारः स्यात् [2]तदविशेषात् । द्वितीयपक्षेऽपि [2]किङ्कृतमस्य[3] वैशिष्ट्यम्–स्वरूपकृतम्[3], घटसंसर्गरहितत्वकृतं[4] वा ? न तावत् स्वरूपकृतम्; सघटेऽपि भूतले अभावप्रतीतिप्रसङ्गात् स्वरूपसत्त्वस्य [4]तत्राप्यविशिष्टत्वात् । घटसंसर्गरहितत्वनिबन्धनत्वे तु नाम्नि विवादः घटाभावस्य घटसंसर्गरहितत्वशब्देन अभिधानात् ।

नचैतद्वक्तव्यम्[5]–अभिमानमात्रमेवात्र 'नास्ति' इति व्यवहारः, सद्व्यवहारानुदय एव तत्संभवादिति; यतः प्रतीयमानस्य बाधारहितस्यास्याभि[6]मानिकत्वे 'अस्ति' इत्यादिव्यवहारस्याप्याभिमानिकत्वप्रसङ्गः । यदि च[7] सद्व्यवहारानुदय एव नास्तीतिव्यवहारस्य

(१) तुलना–"त इदं प्रष्टव्याः नास्तीति संविदः किमालम्बनम् ? यदि न किञ्चित्, दत्तः स्वहस्तो निरालम्बनं विज्ञानमिच्छतां महायानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्, कण्टकादिमत्यपि भूतले कण्टको नास्तीति संवित्तिः तत्पूर्वकश्च निःशङ्कं गमनागमनलक्षणो व्यापारो दुर्निवारः । केवलभूतलविषयं नास्तीति संवेदनम्, कण्टकसद्भावे च कैवल्यं निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरभाव इति चेत्, ननु किं कैवल्यं भूतलस्य स्वरूपमेव, किमुत धर्मान्तरम् ? तत्स्वरूपं तावत् कण्टकादिसंवेदनेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरविरामो दोषः । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरसिद्धिः ।"–**प्रश० कन्द० पृ० २२९ । प्रश० किर० पृ० ३२९ ।** (२) भूतलमात्रस्य तत्रापि सद्भावात् । (३) भूतलस्य । (४) सघटेऽपि भूतले । (५) प्राभाकरैः । "अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्तित्वं नाऽपरम् न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयम्, यस्मात्तदर्थासंसृष्टानुभवयुक्ततैवात्मनः तस्यार्थस्याप्रमीयमाणता, सा चावस्था आत्मनः स्वसंविदितैव । अतः प्रमेयं नावशिष्यते ।"–**बृह० प० पृ० ११९–२० ।** 'तस्माद् भावग्राहकप्रमाणाननुवृत्तिरेवाऽभावावगमं प्रसूते (पृ० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादन्यः प्रमेयाभावः, प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेर्भिद्यते, भावान्तरप्रमितिश्च स्वयंप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयमभावाख्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि ता विना नास्ति कुत्रचित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्तेः कारणत्वपरिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाश्नुते ॥"–**प्रकरणप० पृ० १२९ । नयवि० पृ० १६२ । तन्त्ररह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ ।** (६) काल्पनिकत्वे । (७) तुलना–"ज्ञानाभावे ज्ञानभ्रमः व्यवहाराभावे व्यवहारभ्रमः आलोकादर्शने अन्धकारभ्रमवत्, न, सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । अप्रमिते च भ्रमाऽयोगात् सुषुप्त्यादिवत् ।–अथापि वैयात्यादुच्यते न च तत्त्वतो नास्तीति बुद्धिव्यवहारौ स्तः, किन्तु चैत्रदर्शनाभावे चैत्रो नास्तीति ज्ञानं भ्रमः चैत्रोचितव्यवहाराभावे च तदभावे व्यवहारभ्रमः । अत्रैव निदर्शनमाह–आलोकादर्शनेऽन्धकारभ्रमवत् तदेतन्निराकरोति–न, सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञानव्यवहारयोरभावे तद्विभ्रमः सुषुप्त्याद्यवस्थास्वपि तथाप्रसङ्गः । नहि तदा ज्ञानं नापि व्यवहारः, समस्तविज्ञानोपसंहृतिलक्षणत्वात्सुषुप्त्याद्यवस्थायाः । हेत्वन्तरमाह–अप्रमिते च भ्रान्त्ययोगात् सुषुप्त्यादिवत् । प्रमितस्य हि भावस्य प्रमित एव भावे समारोपभ्रान्तिर्न पुनरसतो ज्ञानाकारस्य नाप्यग्रहः इत्युपपादितं विभ्रमविवेके अत्रापि सूचयिष्यति । न च ज्ञानव्यवहाराभावौ

1–घटाद्याश्रय तयाऽभि–आ० । 2 किङ्कृतमस्य ब० । 3–कृतम् ब० । 4–कृतम् ब० ।

स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्[1]। तत्[2]सामर्थ्येनोत्पन्नो[1]ऽभावविकल्पाद् [2]अभावाऽसिद्धौ भावसिद्धिरपि [3]अतोऽतिदुर्लभा। अथ प्रत्यक्षादेव भावसिद्धिः; अभावसिद्धौ [4]तत् किं काकैर्भक्षितम्? प्रथमं हि इन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं प्रत्यक्षम् [3]अनेके[5]भावाभावोपाधिखचितमुपाधिमन्तं प्रतिपद्यते, ततः शब्दार्थयोः प्रतिपन्न[6]प्रतिबन्धः प्रतिपत्ता अर्थदर्शनोत्तरकालं यस्य यस्य विवक्षा भवति तत्तद्वाचकं शब्दं स्मृत्वा 'इदमिहास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं [4]दर्शयति। यदि च तेऽभावविशेषाः प्रत्यक्षतो न प्रतिपन्नाः तदा [7]प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात्। नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात्। अत. प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽन्यथानुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति।

न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टायाः प्रतीतेः विशेषणमन्तरेणोपपत्तिर्युक्ता। [8]या विशिष्टा प्रतीतिः नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीतिः, विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति। अथ भाव अभावप्रतीतेर्निबन्धनम् अतः [9]स एवास्यां[10] विशेषण भविष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदिष्टं सिद्ध्येत्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः किं निषिध्यमानो [5]घटादिर्भावः [11]अस्या निबन्धनमभ्युपगम्यते, [12]तदाश्रयो भूतलादिर्वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्बाधतया प्रतीयमानयोर्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्तेः। [13]यन्निर्बाधतया प्रतीयमानयोः प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च निर्बाधतया प्रतीयमानयोः भावाऽभावप्रतीत्योरिति। न च तत्प्रतीत्योर्निर्बाधता वैलक्षण्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्; तद्बाधकस्य कस्य[6]चिदप्यभावात्, पर[14]स्पराऽसङ्कीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च। नहि कश्चिदबालिशो[7] भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अन्या हि भावप्रतीतिः अन्या चाभावप्रतीतिरिति। [8]यदि च भाव एव अभावः स्यात्; तर्हि [15]तत्सत्ताक्षणे [16]तद्देशे चाऽभावप्रतीतिः स्यात्। न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियतां भावसत्तामेव

(१) पृ० ४७। (२) निर्विकल्पक –आ० टि०। तुलना–"तत्र विकल्पमात्रसवेदनमनालम्बनमात्माशालम्बन वेत्यादि यदभिलप्यते तन्नास्तिताज्ञान इव अस्तित्वज्ञानेऽपि समानमतो द्वयोरपि प्रामाण्य भवतु द्वयोरपि वा मा भूत्।"–न्यायम० पृ० ५८। (३) भावविकल्पात्। (४) निर्विकल्पकप्रत्यक्षम्–आ० टि०। (५) अनेके भावा अभावाश्च उपाधय विशेषणानि तै खचित शबलित चित्रितम् उपाधिमन्त विशेष्यभूतमर्थम्। (६) गृहीतसङ्केत। (७) यस्याऽभाव स प्रतियोगी। (८) इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीति विशेषणग्रहणपूर्विका विशिष्टप्रतीतित्वात्। (९) भाव एव। (१०) अभावप्रतीते –आ० टि०। (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीते। (१२) घटाभावाश्रयो। (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्बाधप्रतीतिवैलक्षण्यात्। तुलना–"नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरस्त्युदय, नापि व्यवहारभेदस्य सभव।"–प्रश० कन्द० पृ० २२९। (१४) अन्योन्य भिन्नस्वभावतया। (१५) भावसत्ताक्षणे (१६) भावदेशे।

1–स्वाच्चाभाव–श्र०। 2–अभावसि–ब०। 3 अनेकमभावा–ब०। 4 प्रदर्श–श्र०। 5 घटादिभाव ब०। 6–चिदभा–ब०। 7–शोऽभावमेव भावतया आ०, श्र०। 8 यदि भाव ब०।

अभावतया कश्चित् प्रतिपत्तुमर्हति ।

अथ निषिध्यमान[1]घटाद्याश्रयतयाऽभिप्रेतः भूतलादिभावः तदभावप्रतीतेर्निबन्धनम्; [१]तत्रापि किं भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतेर्निबन्धनम्, विशिष्टं वा ?-प्रथमविकल्पे सघटेऽपि भूतले घटाभावव्यवहारः स्यात् [२]तदविशेषात् ।- द्वितीयपक्षेऽपि किङ्कृ[2]तमस्य[३] वैशिष्ट्यम्–स्वरूपकृत[3]म्, घटसंसर्गरहितत्वकृ[4]तं वा ? न तावत् स्वरूपकृतम्; सघटेऽपि भूतले अभावप्रतीतिप्रसङ्गात् स्वरूपसत्त्वस्य [४]तत्राप्यविशिष्टत्वात् । घटससर्गरहितत्वनिबन्धनत्वे तु नास्ति विवादः घटाभावस्य घटससर्गरहितत्वशब्देन अभिधानात् ।

नचैतद्वक्तव्य[५]म्–अभिमानमात्रमेवायं 'नास्ति' इति व्यवहारः, सद्व्यवहारानुदय एव तत्संभवादिति; यतः प्रतीयमानस्य बाधारहितस्यास्याभिमा[६]निकत्वे 'अस्ति' इत्यादिव्यवहारस्याप्याभिमानिकत्वप्रसङ्गः। यदि च[७] सद्व्यवहारानुदय एव नास्तीतिव्यवहारस्य

(१) तुलना–"त इद प्रष्टव्या नास्तीति सविद किमालम्बनम् ? यदि न किञ्चित्, दत्त स्वहस्तो निरालम्बन विज्ञानमिच्छता महायानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्, कण्टकादिमत्यपि भूतले कण्टको नास्तीति सवित्ति- तत्पूर्वकश्च नि शक गमनागमनलक्षणो व्यापारो दुर्निवार । केवलभूतलविषय नास्तीति सवेदनम्, कण्टकसद्भावे च कैवल्य निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरभाव इति चेत्, ननु किं कैवल्यं भूतलस्य स्वरूपमेव, किमुत धर्मान्तरम् ? तत्स्वरूप तावत् कण्टकादिसवेदनेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरविरामो दोष । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरसिद्धि ।"–**प्रश० कन्द० पृ० २२९ । प्रश० किर० पृ० ३२९ ।** (२) भूतलमात्रस्य तत्रापि सद्भावात् । (३) भूतलस्य । (४) सघटेऽपि भूतले । (५) प्राभाकरै । "अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्तित्व नाऽपरम् न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयम्, यस्मात्तदर्थासंसृष्टानुभवयुक्ततैवात्मन तस्यार्थस्याप्रमीयमाणता, सा चावस्था आत्मन स्वसंविदितैव । अत प्रमेय नावशिष्यते ।"–**बृह० प० पृ० ११९–२०** । "तस्माद् भावग्राहकप्रमाणाननुवृत्तिरेवाऽभावावगम प्रसूते (पृ० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादन्य प्रमेयाभाव, प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेर्भिद्यते, भावान्तरप्रमितिश्च स्वयप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयमभावाख्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि ता विना नास्ति कुत्रचित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्ते कारणत्वपरिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाश्नुते ॥"–**प्रकरणप० पृ० १२९ । नयवि० पृ० १६२ । तन्त्ररह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ ।** (६) काल्पनिकत्वे । (७) तुलना–"ज्ञानाभावे ज्ञानभ्रम व्यवहाराभावे व्यवहारभ्रम आलोकादर्शने अन्धकारभ्रमवत्, न, सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । अप्रमिते च भ्रमाऽयोगात् सुषुप्त्यादिवत् ।–अथापि वैयात्यादुच्यते न च तत्त्वतो नास्तीति बुद्धिव्यवहारौ स्त, किन्तु चैत्रदर्शनाभावे चैत्रो नास्तीति ज्ञान भ्रम चैत्रोचितव्यवहाराभावे च तदभावे व्यवहारभ्रम । अत्रैव निदर्शनमाह–आलोकादर्शनेऽन्धकारभ्रमवत् तदेतन्निराकरोति–न, सुषुप्त्याद्यवस्थासु प्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञानव्यवहारयोरभावे तद्विभ्रम सुषुप्त्याद्यवस्थास्वपि तथाप्रसङ्ग । नहि तदा ज्ञान नापि व्यवहार, समस्तविज्ञानोपसंहृतिलक्षणत्वात्सुषुप्त्याद्यवस्थाया । हेत्वन्तरमाह–अप्रमिते च भ्रान्त्ययोगात् सुषुप्त्यादिवत् । प्रमितस्य हि भावस्य प्रमित एव भावे समारोपभ्रान्तिर्न पुनरसतो नानाकारस्य नाप्यग्रह इत्युपपादित विभ्रमविवेके, अत्रापि सूचयिष्यति । न च ज्ञानव्यवहाराभावो

1–घटाद्याश्रय· तथाऽभि–आ० । 2 किंहृतमस्य व० । 3–हृतम् व० । 4–हृतम् व० ।

अङ्गम्, तदा सुषुप्तावस्थायामपि नास्तीतिव्यवहारः स्यात् सद्व्यवहारानुदयस्य[1] तत्राप्यविशेषात्। ततो[2] निर्बाधयोर्भावाऽभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्यसिद्धेः सिद्धो भावाऽभावयोर्वास्तवो भेदः।

स्वरूप[1]भेदाच्च, अभावस्य हि भावप्रतिषेधकत्वं स्वरूपं नेतरस्य[2]। स्वरूपभेदेऽपि अनयो[3]र्भेदे भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गः, परस्परतो भेदस्य सर्वत्र घटपटादौ स्वरूपभेदादन्यतोऽप्रसिद्धेः।

सामग्रीभेदा[4]च्च अनयोर्भेदः, सुप्रसिद्धश्च[3] तद्भेदः[5]। तथाहि–घटादिभावमुत्पादयितुकामः तदुत्पादनानुकूलामेव मृत्पिण्डादिसामग्रीमुपादत्ते, विनाशयितुकामस्तु त[4]द्विलक्षणां मुद्गरादिसामग्रीमिति।

ननु मु[6]द्गरादिसामग्री परस्पराऽसंसृष्टकपालोत्पाद एव व्याप्रियते नाऽभावे, न च तदुत्पादवत् तद[7]भावोऽर्थत एव भविष्यतीत्यभिधातव्यम्, यतः सर्वोऽपि कार्यभेदः कारणभेदेन व्याप्तः। न च अभाव-कपाललक्षणकार्यभेदे कारणभेदोऽस्ति, मुद्गरलक्षणस्यैकस्यैव कारणस्य प्रतीतेः। न च त[8]स्यैकस्यैव अन्योन्यविरुद्धकार्यद्व[9]यजनकत्वं युक्तं विरोधात्; इत्यप्यसमीचीनम्, प्रतीतिविरोधानुपङ्गात्। तथाहि–मु[10]द्गरादिव्यापारानन्तरं लौकिकेतरयोः 'अनेन विनाशितो घटः' इति प्र[11]तीतिः, न पुनः 'कपालानि

उपलब्धपूर्वौ। तदुपलम्भे वा कृतमत्र भूमोपन्यासेन। तस्मादप्रमिते भ्रान्त्यनुपपत्तेरयुक्तमेतदित्यर्थः।" –विधिवि०, न्यायकणि० पृ० ७३–७४।

(१) तुलना–"स्वरूपभेदस्योपपत्ते, यथाहि कारणादुत्पद्यमाना रूपादय परस्पर स्वरूपभेदाद् भिद्यन्ते तथाऽभावोऽपि भावादिति। अस्ति च द्रव्यादिषड्लक्षणाऽलक्षितत्व भावपरतन्त्रेण गृह्यमाणत्वमभावस्य रूपमिति।"–प्रश० व्यो० पृ० ४००। (२) भावस्य। (३) भावाभावयो। (४) सामग्रीभेद। (५) उत्पादसामग्रीभिन्नाम्। (६) "तस्मात् स्वरसतो निवर्तते काष्ठादि, अग्न्यादिभ्यस्तु अङ्गारादिजन्म इत्येव भद्रकम्।"–हेतुबि० टी० पृ० ८३ A। "तदयमत्र समुदायार्थ – मुद्गरव्यापारानन्तर द्वय प्रतीयते, घटनिवृत्ति कपालञ्च। तथैते विनाशरूपतया प्रतीयेते। तत्र घटनिवृत्तेर्नीरूपत्वेनाकार्यत्वादिति वक्ष्यति। तत्कार्यत्वेन तु तत्प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव, कार्यत्वे वास्या न घटनिवृत्तिरूपत्व स्यात् घटसम्बन्धित्वेन कृतकत्वात्, विनाशरूपतया च न प्रतीति स्यात् घटस्य सत्त्वात्। निर्हेतुके तु विनाशे स्वरसतो निवर्तमान एव घटो मुद्गरादिसहकारी कपालजनकत्वेन सदृशक्षणानारम्भकत्वात् मुद्गरव्यापारानन्तर घटनिवृत्ते कपालस्य च सद्भावात् तयोर्विनाशरूपतया विनाशस्य च सहेतुकत्वेन मन्दमतीनामवसायो युज्यत एव। प्रयोगस्तु ये यद्भाव प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियता तद्यथाऽसम्भवत्प्रतिबन्धा कारणसामग्री कार्योत्पादने, अन्यानपेक्षश्च कृतको भावो विनाश इति स्वभावहेतु।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।१९६–९७। प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२६९–७०। तत्त्वस० पृ० १३२। (७) घटविनाशोऽपि। (८) मुद्गरादिव्यापारादेव। (९) मुद्गरादिव्यापारस्य। (१०) घटविनाश-कपालोत्पादलक्षण। (११) तुलना–"तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत्। मुद्गरादिव्यापारानन्तर कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीते विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानि इति व्यवहारद्वयसद्भावात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २००।

1–दयस्य च त–ब०। 2 तत्रानिर्बा–श्र०। 3–भेदाद्वाऽभा–ब०। 4 एतयोर–ब०। 5–भेदाद्वाऽन–ब०। 6–श्च तथा तद्भेद ब०। 7 प्रतीते. ब०।

उत्पादितानि' इति । नापि घटविनाशकस्य 'कपालान्युत्पादयामि' इत्यनुसन्धानं स्वप्नेऽप्यनुभूयते । न खलु विषादिना शत्रुवधे वह्न्यादिना च पटदाहे प्रवृत्त[1]स्य[१] शत्रुपटविनाशादृते 'अन्यत् किञ्चित्तत्र उत्पादयामि' इति हन्तुः पटविनाशकस्य[2] वा अनुसन्धानमस्ति । नापि पार्श्वस्थानाम्[२] 'अन्यत् किञ्चिदनेनो[३]त्पादितम्' इति प्रतीतिः, किन्तु 'तद्विनाश एव अनेन कृतः' इत्यखिलजनानां प्रतीतिः । तद्विनाशे एव चासौ परितुष्यति । नहि अवयवनिष्पत्त्या तस्य किञ्चित् प्रयोजनम् । ननु भावानां स्वभावतो विनाशस्वभावनियततया विनाशस्य अहेतुकत्वान्न मुद्गरादेः तद्धेतुत्वम्, इत्यप्यपेशलम्, तेषां त[४]त्स्वभावनियतत्वस्य अक्षणिकत्वसिद्धौ निराकृतत्वात्[५] ।

यदप्युक्त[६]म्–'कार्यभेदः कारणभेदेन व्याप्तः' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, एककारणस्य एककार्योत्पादकत्वेन अविनाभावाऽभावात्, प्रदीपादेरेकस्यापि अ[७]नेककार्योत्पादकत्वप्रतीतेः । अतः सिद्धः सहेतुको विनाशः । तथा च घ[८][3]टाभावोत्पादकसामग्रीतो भा[९]वोत्पादकसामग्र्या भेदसिद्धेः सिद्धो भावाऽभावयोर्भेदः ।

अर्थक्रियाभेदाच्च, सुप्रसिद्धो हि भावाऽभावयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणोऽर्थक्रियाभेदः, जलाद्यर्थिनः तत्सद्भावस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्, तदभावस्य च निवृत्तिहेतुत्वात् । प्र[१०]मोदाद्यर्थक्रियाकारित्वाच्च अनयोर्भेदः; तथा हि शत्रुविनाशः कृ[4]तः श्रुतो वा परं प्रमोदमाधत्ते, तत्सद्भावस्तु विषादम् । न ह्यत्र भावाभावाभ्यामन्यस्य प्रमोद-विषादहेतुत्वं प्रतीयते ।

यदप्युक्त[११]म्–'अभावोऽपि यदि कुतश्चि[5]दुत्पद्येत काञ्चिदर्थक्रियां कुर्यात् तदा भाव[6] एव स स्यात्' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो भा[१२]वप्रतीतिविषयत्वं भावत्वम्, न पुनः अर्थक्रियाकारित्वादि । अभावो हि स्वकारणकलापाद् भावविलक्षणतयोत्पन्न अर्थक्रियाञ्च कुर्वाणः पदार्थतया प्रतीयते न पुनर्भावतया ।

यच्चान्यदुक्त[१३]म्–'यदि अभावः स्वाकारं ज्ञाने समर्पयेत् तदा ज्ञानस्याप्यभावरूपता स्यात्' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्, अर्थाकारतया ज्ञानस्य अर्थप्रकाशकत्वप्रतिक्षेपात् । निराकारमेव हि ज्ञानं [१४]योग्यत[7]या योग्यदेशस्थ योग्यञ्चार्थं प्रकाशयति इत्युक्तं प्र[१५]त्यक्षप्ररूपणप्रस्तावे ।

---

(१) पुरुषस्य । (२) प्रेक्षकजनानाम् । (३) विषदायिना, पटविनाशकेन वा पुरुषेण । (४) विनाशस्वभावनियतत्वस्य । (५) पृ० ३८६ । (६) पृ० ४८० पं० १० । (७) वर्तिकामुखदाह-तैल-शोष-कज्जलोत्पादन-अन्धकारविनाशादि । (८) मुद्गराद्यभिघातादिरूपाया । (९) घटोत्पादकमृत्पिण्डादिरूपाया । (१०) तुलना–"सुखदुःखसमुत्पत्तिरभावे शत्रुमित्रयोः । कण्टकाभावमालक्ष्य पद पथि निधीयते ॥ पश्यन्नभावं को नाम निह्नुवीत सचेतनः ।"–न्यायमं० पृ० ५९ । (११) पृ० ४७७ पं० २ । (१२) तुलना–"सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव इष्यते असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति । –न्यायमं० पृ० ५९ । (१३) पृ० ४७७ पं० ४ । (१४) स्वावरणक्षयोपशमलक्षणया । (१५) पृ० १७१ ।

---

1 प्रवृत्त श–आ० । 2–स्य चानुस–श्र० । 3 घटादिभावो–ब० । 4 कृत परं ब० । 5–दुत्पद्यते आ० । 6 भाव एव स्यात् श्र०, ब० । 7–या प्रदेशान्यं ब० ।

न चाऽवस्तुत्वादभावस्य किं प्रसाधनप्रयासेनेत्यभिधातव्यम्; प्रमाणतः [1]प्रतीयमानत्वादिसाधनात् [1]तस्य वस्तुत्वप्रसिद्धेः। तथाहि–अभावो वस्तु, प्रमाणतः प्रतीमानत्वात्, यत् प्रमाणतः प्रतीयमानं तद् वस्तु यथा भावः, प्रमाणतः प्रतीयमानश्चाऽभाव इति। तथा, यत् कारणादुत्पद्यते तद्वस्तु यथा घटादि, कारणादुत्पद्यते चाऽभाव इति। तथा, यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु तथा [2]प्रदीपः, अर्थक्रियाकारी चाऽभाव इति। तथा, यद् अवान्तरभेदेन भिद्यते तद्वस्तु यथा रूपरसादि, [2]प्रागभावाद्यवान्तरभेदेन भिद्यते चाऽभाव इति। ततः सिद्धो भाववद् अभावो वास्तवो वस्तुधर्मः प्रमेय इति। प्रमाणं तु तत्परिच्छेदकम् अभावाख्यं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं वास्तवं न प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादितोऽपि तत्परिच्छेदसिद्धेः। [3]यत् प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते न तत्र [3]प्रमाणनियमः यथा वह्न्यादौ, प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते चाऽभाव इति। यत् पुनः यत्प्रकारप्रमाणान्तरान्न परिच्छिद्यते [4]तत्र [4]तत्प्रकारप्रमाणनियमो यथा [4]रूपरसादाविति।

ततः सूक्तम्–**'अदृश्यस्यापि परचित्तविशेषस्य अभावः तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः'** इति। सर्वत्र हि गमकत्वं अन्यथानुपपत्तिप्रसादादेव, सा च अदृश्यानुपल[6]ब्धावप्यस्ति इति कथं नास्या गमकत्वम्?

'अदृश्य' इत्यादिना व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे–**अदृश्यानुपलब्धेः**

विवृतिव्याख्यानम्— सकाशात् **संशयैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **न केवलं परिचित्ताभावो न सिद्ध्यति** सौगतस्य **अपि तु स्वचित्तभावश्च** न सिद्ध्यति। कुत एतद्? इत्यत्राह–**'[7]तद्'** इत्यादि। तस्य स्वचित्तस्य यद् **अनंशं तत्त्वं** [8]सजातीयविजातीयव्यावृत्तं मध्यक्षणस्वरूपं तस्य **अदृश्यात्मकत्वात्**। ततः किं जातम्? इत्यत्राह **'तथा च'** इत्यादि। **तथा च** ते[9]न च [5]स्वचित्तभावाऽसिद्धिप्रकारेण **कुतः** न कुतश्चित् **परमार्थ[10]सतो** मानाद् भावस्य **क्षणभङ्गसिद्धिः** धर्मिहेतुदृष्टान्तादेरसिद्धेः। न खलु बहिरन्तर्वा अनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मत[6]याऽसिद्धौ धर्म्यादेः सिद्धिर्युक्ता, तदसिद्धौ च कुतः क्षणभङ्गादेः

(१) अभावस्य। (२) "स च द्विविध प्रागभाव प्रध्वंसाभावश्चेति। चतुर्विध इत्यन्ये इतरेतराभाव, अत्यन्ताभावश्च तौ च द्वौ। षट्प्रकार इत्यन्ये —अपेक्षाभाव सामर्थ्याभावश्च ते च चत्वार इति।" –न्यायमं० पृ० ६३। "अभावस्तु द्विधा ससर्गान्योन्याभावभेदत। प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च॥ एव त्रैविध्यमापन्न संसर्गाभाव इष्यते।"–मुक्ता० का० १२-१३। (३) अभावपरिच्छेदक पृथगभावाख्य प्रमाण नास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरादपि तस्य परिच्छिद्यमानत्वात्। (४) रसो यथा रूपग्राहिचाक्षुषप्रत्यक्षान्न परिच्छिद्यते अत तद्ग्रहणाय रासनप्रत्यक्षस्य नियमो भवति, नचैवमभावे प्रत्यक्षादिभि परिच्छिद्यमाने प्रमाणान्तरत्वनियम। (५) स्वचित्तसद्भाव। (६) अदृश्यात्मकत्वादसिद्धौ सत्याम्।

1 प्रमीयमान–ब०। 2 प्रदीपादि अर्थ–ब०। 3–नियमोऽपि यथा ब०। 4 तत्तत्प्रका–आ०। 5 तत्प्रमाणनि–आ०। 6–लब्धावस्तीति आ०। 7 'तदित्यादि' नास्ति आ०, ब०। 8 सजातीयव्या–ब०। 9 तेन स्वचि–आ०। 10–सतो भावस्य अनुमानात् क्ष–श्र०।

सिद्धिः स्यात् ? कस्य तर्हि क्षणभङ्गसिद्धिः स्यात् ? इत्याह-'**तद्**' इत्यादि । **तस्माद्** अनंशतत्त्वाद् **विपरीतं** साशं तत्त्वं तस्य । कथम्भूतस्य ? **अभेदलक्षणस्य**[1] युगपत् क्रमेण वा अनेकस्वभावात्मकस्य **स्याद्** भवेत् क्षणभङ्गसिद्धिः नान्यस्य इति **एव**कारार्थः ।

ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह-

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम् ।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥ १६ ॥[2]

विवृतिः-स्थूलस्यैकस्य[1] दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभावसिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेः विज्ञानानंशतत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेः अविभागज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् स्वयमुपलब्धिः तथैवाप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः ।

वीक्ष्यम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलमेकं ग्राह्यम्[3], तस्य ये **अणवः** अतिसूक्ष्मा भागाः तेषां **पारिमाण्डल्यं**[4] वर्तुलत्व यच्च **क्षणभङ्गादि** आदिशब्देन कार्यकारणसामर्थ्या[2]दिपरिग्रहः[5] तस्याऽ**वीक्षणम्** अग्रहणम् । अत्र दृष्टान्तमाह '**स्व**' इत्यादि । **स्वसंविदो** बौद्धकल्पितनिरंशबुद्धेर्यः[6] **विषयाकारस्य** स्थूलाद्याकारस्य **विवेकः** निवृत्तिः तस्य **अनुपलम्भवत्** । नहि तस्यां[3] प्रतिभासमानायां

कारिकार्थ —

(१) अनेकपर्यायेषु अनुगताकारतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य द्रव्यस्येति यावत्, अथवा अनेकावयवेषु कथञ्चित्तादात्म्यतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य स्कन्धस्येति । (२) "वीक्ष्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्त स्थूल तस्याणव सूक्ष्मा भागा अवयवास्तेषा पारिमाण्डल्य वर्तुलत्वम् अन्योन्यविवेक क्षणे क्षणे भङ्ग क्षणभङ्गः समय प्रति नाश इत्यर्थं । स आदिर्यस्य कार्यकारणसामर्थ्यादिरसौ तथोक्त, वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्य च क्षणभगादिश्च तत्तथोक्तम्, तस्याऽवीक्षण प्रत्यक्षेणानुपलम्भोऽशक्ति । न खलु साव्यवहारिकप्रत्यक्षेण क्षणभङ्गादिर्वीक्ष्यते तेन स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्यैव वीक्षणात्, योगिप्रत्यक्षस्यैव तद्वीक्षणसामर्थ्यादित्यर्थं, सत्त्वात्प्रमेयत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतूना कथञ्चिदनेकानित्यादिधर्मव्याप्यत्वात्तदविनाभावप्रसिद्धे । प्रकृतार्थे दृष्टान्तमाह-स्वसविदित्यादि । स्वसवित् स्वसवेदन तस्या विषयाकारो घटाद्याकारस्तस्माद्विवेको व्यावृत्तिस्तस्यानुपलम्भ प्रत्यक्षेणाग्रहण तद्वत् । यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासने वहिरर्थाकारनिवृत्तिर्विद्यमानेनापि न प्रतिभासते सौगताना तन्य तादृक् सामर्थ्याभावात् तथा बहिरन्तश्चाणुपारिमाण्डल्यादि प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथाशक्त्यभावात् । ततोऽनुमानमनेकान्तमते सफलमित्यर्थं ।"-लघी० ता० पृ० ३६ । (३) घटपटादि । (४) "नित्य परमाणुमन सु तत्तु पारिमाण्डल्यम्,परिमाण्डल्यमिति तस्य नाम, तथाहि-परिमण्डलानि परमाणुमनानि तेषा भाव पारिमाण्डल्य तत्परिमाणमेव ।"-प्रश० भा०, व्यो० पृ० ४७३ । "पारिमाण्डल्यमिति सर्वापकृष्ट परिमाणम् ।"-प्रश० कन्द० पृ० १३३ । "पारिमाण्डल्य परमाणुपरिमाणम्"-सप्तप० टी० पृ० ४९ । मुक्ता० का० १५ । (५) स्वर्गप्रापणादौ -आ०टि० । (६) सविदि-आ० टि० ।

1-स्यादृश्या-ज० वि० । 2-करणसा-व० । 3-द्धपरिक-श्र० ।

वि[1]षयाकारविवेकः प्रतिभासते स्थू[2]लाद्याकारभ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्। य[3]त्र यदा वास्तवो यदाकारः प्रतीयते न तत्र तदा तद्विपरीताकारस्य प्रतीतिरस्ति यथा नीले प्रतीयमाने न पीतस्य, प्रतीयते च विषयाकारविवेकः सौगतकल्पितायां संविदि इति[1]।

कारिकार्थं विवृण्वन्नाह—'**स्थूलस्य**' इत्यादि। **स्थूलस्य** महतः **एकस्य** क्रमाऽक्रमानेकविवर्त्तव्यापि[4]नः प्रतिपादितप्रकारेण **दृश्यात्मन एव** उपलभ्यस्वभावस्यैव **अनित्यत्वं सिद्ध्यति** 'नान्यस्य[5]' इति सम्बन्धः। कुत एतत्? **अनुपलम्भात्** हेतोः तस्यैव **पूर्वापराकारकोट्योः अभावसिद्धेः**। तथा च यदुक्तं परेण[6]—"*यद् यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च उपलब्धिलक्षणप्राप्तो मध्यक्षणः पूर्वापरकोट्योः*" [ ]

विवृतिव्याख्यानम्—

इति; तदयुक्तम्, यतः कथञ्चि[7]त्तत्र त[8]दभावसाधने सिद्धसाधनम्। सर्वथा तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्चाऽसिद्धिः, तथा त[9]त्र त[10][11]दनुपलम्भाऽसिद्धेरिति। ननु चास्तु स्थूलादिस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्व न तु परमार्थसत्त्वम् मरीचिकाजलादिवदसत्त्वात्, इत्याशङ्क्याह—'**बुद्धेः**' इत्यादि। यथोक्तस्यैवार्थस्य **परमार्थसत्त्वं बुद्धेर्वेद्यवेदकाकारप्र[12]भेदस्य इव**। प्रयोगः—य[13]द् अनेकस्वभावं तदेव परमार्थसत् यथा वेद्यवेदकाद्यनेकस्वभावा संवित्, अनेकस्वभावञ्च अन्तर्बहिर्वा जैनाभ्युपगतं वस्तु इति। तथापि मरीचि[14]कातोयनिदर्शनेन अ[15]स्याऽसत्त्वे बुद्धेर[16]प्यतोऽसत्त्वप्रसङ्गः विशेषाभावात्। ननु ना[4]ऽनेकस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं परमार्थसत्त्वं वा अपि तु परमाण्वादेः, इत्यत्राह—'**नपुनः**' इत्यादि। **न पुनः** नैव प[17]रिमण्डलसम्बन्धात् **परिमण्डलः** परमाणुः **आदिर्यस्य** यौगकल्पिताऽवयव्या[5]देः स तथोक्तः **तस्याऽनित्य[6]त्वं परमार्थसत्त्वञ्च**। निदर्शनमाह—

(१) ग्राह्याकाररहितत्वम्। (२) यदि हि संविदि ग्राह्याद्याकारा प्रतिभासेरन्, तदैव तस्या प्रतिभासमानस्य स्थूलाद्याकारस्य भ्रान्तत्व शक्येत कल्पयितुम्, यदा च संवित्ति ग्राह्याद्याकारशून्यैवास्ति तदा कथं तत्र भ्रान्तत्वेनापि स्थूलाद्याकार प्रतिभासेत? (३) संविदि न भ्रान्ततयाऽपि स्थूलाद्याकारप्रतिभास, वास्तवस्य ग्राह्याद्याकाररहितत्वस्य तत्र प्रतिभासमानत्वात्। (४) स्कन्धस्य। (५) निरंशपरमाणुरूपस्वलक्षणस्य। (६) सौगतेन। (७) पूर्वापरक्षणयो—आ० टि०। (८) मध्यक्षणाभाव—आ० टि०। (९) सर्वथा। (१०) पूर्वापरक्षणयो। (११) मध्यक्षण। (१२) बौद्धमते—आ० टि०। (१३) स्थूलादिस्वभाव एवार्थः परमार्थसन् अनेकस्वभावत्वात्। (१४) "यथोक्तम् आर्यरत्नावल्याम्—मरीचितोयमित्येतदिति मत्वा गतोऽत्र सन्। यदि नास्तीति तत्तोय गृह्णीयान् मूढ एव स ॥ मारीचिप्रतिम लोकमेवमस्तीति गृह्णत। नास्तीति चापि मोहोऽय सति मोहे न मुच्यते ॥ अज्ञानकल्पित पूर्व पश्चात्तत्त्वार्थनिर्णये। यदा न लभते भावमेवाभावस्तदा कुह ॥ इति। तदेव नि स्वभावाना सर्वभावाना कुतो यथोक्तप्रकारसिद्धि। तस्माल्लौकिक विपर्यासमभ्युपेत्य सावृताना पदार्थाना मरीचिका[illegible]नानामिद प्रत्ययतामात्राभ्युपगमेनैव प्रसिद्धिर्नान्येन।"—माध्यमिकवृ० पृ०१८८। (१५) स्थूला[illegible] वस्तुन। (१६) मरीचिकातोयदृष्टान्तात्। (१७) परिमण्डल वर्तुलाकार।

1–नि विवृ—ब०। 2 पूर्वापरकोटचोर—श्र०, ब०। 3 तदुपलम्भासिद्धिरिति ब०। 4 नानेक—ब०। 5—व्यादि ब०। 6 —त्व निद—ब०।

'विज्ञान' इत्यादि । **विज्ञानस्य** यद् **अनंशं तत्त्वं** स्वरूपं तस्य इव **तद्वदिति** । ननु वहिरन्तश्च अनंशस्यैव तत्त्वस्य उपलम्भ. अतस्तस्यैव परमार्थसत्त्वम्, अनुपलम्भाच्च पूर्वापरकोट्योरसत्त्वं सिद्धयति इति यौग[1]-सौगताः, तत्राह–**'नापि'** इत्यादि । **नापि** नैव **क्षणिकाः परिमण्डलाः** परमाणवः **आदयो** यस्य अवयव्यादेः स तथोक्तः तस्य **अविभागविज्ञानतत्त्वस्य** वा **जातुचित्** कदाचिदपि **स्वयम्** आत्मना **उपलब्धिः** । कुत एतदित्यत्राह–**'तथैव'** इत्यादि । **तथैव** परपरिकल्पितप्रकारेणैव **अप्रतिभासनात्** । अथ वहिरन्तस्तत्त्वस्य क्षणिकाऽनंशादिस्वभावतया अप्रतिभासनेऽपि सच्चेतनादिरूपतया प्रतिभासनादयमदोषः, अत्राह–**'तत्कथञ्चिद्'** इत्यादि । **तस्य** वहिरन्तस्तत्त्वस्य **कथञ्चित्** न सर्वात्मना **तत्स्वभावप्रतिभासे** सच्चेतनादिस्वरूपप्रतिभासने अङ्गीक्रियमाणे **अनेकान्तसिद्धिः** एकस्य द्वयेतरस्वभावसिद्धेः ।

एवं परस्य अनुपलब्धिं निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतु निराकुर्वन्नाह–

अनंशं वहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।
कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥ १७ ॥

विवृतिः–साक्षात् स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसंभवः स्वभावविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः । तदङ्गीकरणं प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वञ्चानुपलब्धेः कृतकत्वादनित्यत्वं सिद्धयेत् नान्यथा ।

यौगसौगतकल्पितं यद् **अनंशं** तत्त्वम्, क ? **वहिरन्तश्च** । तत्किम् ?

कारिकार्थ – **अप्रत्यक्षं** प्रत्यक्षग्राह्यं न भवति । कुत एतद् ? इत्यत्राह–**तदप्रतिभासनात्** तस्य अनंशतत्त्वस्य अप्रतीते. । ततः किं जातम् ? इत्यत्राह–**'कस्तद्'** इत्यादि । **कः**, न कश्चित् **तस्य** अनंशस्य **स्वभावो हेतुः**

(१) यौगाना मते अन्त अनंशस्य निरवयवस्य व्यापिन आत्मन उपलम्भ, वहिश्च निरवयविन । सौगतमते च स्वलक्षणस्य पूर्वापरक्षणयोरनुपलम्भात् अभाव, मध्यमक्षण एव च स्थायिता । (२) "यत् सौगतैः परिकल्पित वहिरचेतनम् अन्तश्चेतनम्, निरंशम्, अंशा द्रव्यक्षेत्रकालभावविभागा तेभ्यो निष्क्रान्त निरंश तदप्रत्यक्ष प्रत्यक्षाविषय । कुत ? तदभासनात् तस्य निरंशतत्त्वस्याभासनादननुभवात् । न खलु द्रव्यादिविभागरहित चिदचिद्वा तत्त्व प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते, तत्र नित्यानित्याद्यनेकाकारव्यापित्वेन वस्तुन प्रतीते । ततस्तस्य निरंशस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धस्य स्वभावो धर्मः को हेतुर्लिङ्गं स्यात्, न कोऽपि इत्यर्थ । प्रमाणतोऽसिद्धस्याहेतुत्वात् । तस्य कार्यं वा किन्नु हेतु स्यात्, सर्वथा निरंशस्यापरिणामिन कार्यकरणायोगात् यतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचन न कुतोऽपीत्यर्थः । तस्मात् सौगतमतेऽनुमान प्रामाण्यमात्मन्यत्यनुपपत्ते ।"–लघी० ता० पृ० ३७ । (३) "प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन कार्यकारणभाव ।"–हेतुबि० टी० पृ० ७३ । "भावे भाविनि तद्भाव भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भत. ॥" (सम्बन्धप०)–प्रमेयक० पृ० ५१० । स्या० र० पृ० ८१८ ।

1–भावादिरिति ब० । 2 विभप्रत्यक्षग्राह्यं ब० ।

स्यात्। **किं** न किञ्चित् **तस्य** अनंशस्य **कार्य**[1] हेतुः । कार्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन साध्याद् भिन्नानां संयोगिसमवाय्यादीनां निरासः सिद्धो भवति, अतो न परमते किञ्चित् लिङ्गं घटते **यतो**[2]**ऽनुमा**[१] स्यात् ।

विवृतिव्याख्यानम्—

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**साक्षात्**' इत्यादि । **साक्षात् स्वभावं** [3]स्वरूपम् **अप्रदर्शयतो** भावस्य यत् **निरंशं तत्त्वं** स्वरूपं तस्य **अनुमितौ** क्रियमाणायां **स्वभावहेतोरसंभवः** । कुत इत्याह–'**स्वभाव**' इत्यादि । **स्वभावस्य** स्वरूपस्य **विप्रकर्षाद्** अदृश्यत्वात् । **तत एव** तद्विप्रकर्षादेव **कार्यहेतोरप्रतिपत्तिः** । कुत [4]एतत् ? इत्याह–'**कार्य**' इत्यादि । **कार्यकारणयोः सर्वत्र** बहिरन्तर्वा **अनुपलब्धेः** अदर्शनात् । किञ्च, सिद्धे कार्यकारणभावे कार्यहेतोः प्रतिपत्तिर्युक्ता, न चात्र सोऽस्ति इत्याह–'**नच**' इत्यादि । **नच** नैव **अत्र** यौग-सौगतकल्पिते एकान्ते **प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधनं** यस्य स तथोक्तः । कः ? **प्रभवः**, कार्यकारणभावः '[२]प्रभ[5]वति' 'प्रभवति अस्मात्' इति च व्युत्पत्तेः । यथा च तत्कल्पितैकान्ते प्रभवो न घटते तथा विषयपरिच्छेदे [6]प्रपञ्चितम्[३] । ननु न सर्वत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः, किन्तु क्वचित् इन्द्रियशक्तिवत् कार्यव्यतिरेकसाधनोऽपि, सोऽत्र स्यात्; इत्याशङ्क्य आह–'**कार्य**' इत्यादि । **कार्यस्य व्यतिरेकः** विवक्षितकारणव्यतिरिक्तकारणसाकल्येऽपि अनुत्पादः तेन **उपलक्षि**[7]**ता** वा । पक्षान्तरसूचको वाशब्दः । **कारणशक्तिः** '**न चात्र**' इति सम्बन्धः । निरंशयोः कार्यकारणयोः मूलतोऽप्यदर्शने कारणव्यतिरेकतः कार्यव्यतिरेकाऽसिद्धिः इत्यभिप्रायः । नच प्रमाणान्तरमन्तरेण कारणशक्त्यङ्गीकरणं युक्तम् इत्याह–'**तदङ्गीकरणम्**' इत्यादि । **तस्याः कारणशक्तेः अङ्गीकरणम्** कार्यव्यतिरेकतः सद्भावस्वीकरण **प्रमाणान्तरमन्तरेण** ऊहाख्यप्रमाणं विना **अनुपपन्नम्** । प्रसिद्धे हि कार्यकारणभावे कार्यव्यतिरेकतः कारणशक्तिपरिकल्पना स्यात् । नच प्रत्यक्षानुमानयोः कार्यकारणभावादिसम्बन्धप्रतिपत्तौ सामर्थ्यमित्युक्तम्–'**अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते**' [लघी० का० ११] इत्यत्र । कुतः पुनस्तद[४]ङ्गीकरणं तद[५]न्तरेणाऽनुपपन्नम् ? इत्याह–'**स्वयम्**' इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **उपलब्धस्य** मध्यदशायां दृष्टस्य **प्रागूर्ध्वञ्च**[8] या तस्यैव **अनुपलब्धिः** स्वयमेव अदर्शनं तस्या यत् सिद्धं **कृतकत्वं** कार्यत्वं तस्माद् **अनित्यत्वं** शब्दादेः **सिद्ध्येत् नान्यथा** न प्रकारान्तरेण । नच प्रत्यक्षमनुमानं

(१) अनुमानम् । (२) प्रभवति यत्कार्यमिति कार्यव्युत्पत्ति, प्रभवति कार्यं यस्मात् कारणात् इति कारणव्युत्पत्ति –आ० टि० । (३) पृ० २२०, पृ० ३८४ । (४) कारणशक्तिरस्ति कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्ते । (५) कारणशक्तिस्वीकार । (६) ऊहप्रमाणमन्तरेण ।

1 कार्यहेतु श्र० । 2–नुमान स्यात् आ०, श्र० । 3 स्वरूपं दर्शय–व० । 4 एतद्वेत्याह–व०, एतदित्यत्राह श्र० । 5 प्रभवति अस्मात् इति व्यु–व०, श्र० । 6 प्रपञ्चितः व० । 7–क्षितो या व० । 8–ञ्च तया व० ।

वा तथा प्रत्येतुं समर्थमित्यूहस्यैव अत्र व्यापार इति मन्यते। कृतकत्वानित्यत्वग्रहणमुपलक्षणं सकलहेतुसाध्यानाम्।

ननु सर्वोऽयं कार्यकारणभावोऽनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पितो न पारमार्थिकः तत्कथं प्रमाणान्तरप्रसक्तिः? इत्यप्यनुपपन्नम्, यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धायां तत्कल्पितोऽखिलोऽयं व्यवहारः स्यात्। न च तेत्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति–

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः॥१८॥

विवृतिः–सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि, निश्चयस्यापि कस्यचित् स्वत एव अनिश्चयात्, निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतस्तत्संव्यवहारसिद्धिः? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलापसंसर्गयोग्यायोग्यविनिर्भासैकज्ञानं प्रतिपत्तव्यं स्वरूपवत्।

कारिकार्थ.– **धीः** बुद्धिः, कथम्भूता? **निश्चयात्मा** विकल्पबुद्धिः इत्यर्थः। पुनरपि कथम्भूता? इत्याह–**'विकल्प'** इत्यादि। **विकल्पो** व्यवसायः, **अविकल्पो निर्विकल्पकः, तौ आत्मानौ** यस्याः सा तथोक्ता। क? **बहिरन्तश्च;** बहिर्विकल्पात्मा अन्तश्च अविकल्पात्मा इति। सा किम्? इत्यत्राह–

(१) "तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभेदेनेत्युक्तम्।–आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि। सर्व एवेति यत्रापि साध्यसाधनयोरग्निधूमयोर्वास्तवो भेदः तत्रापि स्वलक्षणेन व्यवहारायोगात्। अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गम् अनुमेयं साध्यधर्मी साध्यधर्मश्च तेषां व्यवहारो नानात्वप्रतिरूपः, बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिणोर्भेदस्तेन बुद्धिप्रतिभासगतेन भिन्नेन रूपेण भेदव्यवहार इति यावत्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।४। (२) विकल्पसिद्धि। (३) "किं पुनः सिद्ध्येत्? न सिद्ध्येदित्यर्थः। का? धीः बुद्धिः। किं विशिष्टा? निश्चयात्मा अनुमानबुद्धिरित्यर्थः। पुनरपि कथम्भूता? विकल्पाविकल्पात्मा, विकल्पो व्यवसायः अविकल्पोऽव्यवसायः तावात्मानौ यस्याः सा तथोक्ता। क्व? बहिरन्तश्च, अत्र यथासंख्यमभिसम्बन्धः कर्त्तव्यः, बहिर्घटादिविषये विकल्पात्मा, अन्तः स्वरूपे निर्विकल्पात्मा चेति। कुतो न सिद्ध्येत्? स्वतः स्वसंवेदनात्, तस्य निर्विकल्पकत्वेन विकल्पाविषयत्वात्। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनमिति वचनात्। न केवलं स्वतः, अपि तु परतोऽपि। किं पुनः सिद्ध्यति? परस्माद्विकल्पान्तरादपि न सिद्ध्यतीत्यर्थः। कुतः? अनवस्थितेः। तदपि विकल्पान्तरं स्वतो न सिद्ध्यति अगोचरत्वात् तत्रापि तत्सिद्ध्यर्थं विकल्पान्तरं कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपरमात्। ततोऽनुमानस्यासिद्धेः कथं बौद्धकल्पितः प्रमाणसंख्यानियमो घटत इति भावः।"–लघी० ता० पृ० ३८। (४) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्। चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः। सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ताः। सुखादय एव स्पष्टानुभवत्वात् स्वसंविदिता नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम्। नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात्। येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्।"–न्यायबि० टी० पृ० १९। (५) तुलना–"स्वत एव चित्तसंविदा निर्णये स्वलक्षणविषयोऽपि निर्णयः स्यात्, परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्ति।"–अष्टश० अष्टसह० पृ० १७०।

1–विकल्पक ई० वि०। 2 निर्विकल्प द० ब०।

किं पुनः सिद्ध्येत् ? नैव सिद्ध्येत्। कुतः[1]? **स्वतः**[2] स्वसंवेदनात् निर्विकल्पकात्। यत् निर्विकल्पकेन गृह्यते न तत्सिद्ध्यति यथा क्षणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि, निर्विकल्पेन गृह्यते च विक[3]ल्पस्वरूपमिति। तर्हि विकल्पान्तरात् तत् सेत्स्यति, इत्यत्राह–'**परतः**' इत्यादि। न केवलं स्वतः अपि[4] तु **परतः** विकल्पान्तरादपि **किं पुनः सिद्ध्येत्** इति '[5]नो सिद्ध्येत्' इति सम्बन्धः। कुत एतत्? इत्याह–**अनवस्थितेः** अनवस्थानात् विकल्पान्तरस्यापि तदन्तरात् सिद्धिप्रसङ्गात्।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**सर्व**' इत्यादि। **सर्वविज्ञानानां** विकल्पेतरज्ञानानां

विवृतिव्याख्यानम्– **स्वसंवेदनम्** आत्मग्रहणं **प्रत्यक्षम् अविक**[6]**ल्पकं** निर्विकल्पकं **यदि**[7] चेत् इष्यते। अत्र दूषणम् '**निश्चय**' इत्यादि। **निश्चयस्यापि** न केवलम् अनिश्चयस्य **कस्यचिद्** अनुमानानुमेयव्यवहारहेतोः **स्वत एव** स्वसंवे[8]दनादेव '**अनिश्चयात्**' निश्चयाभावात्। अथ[9] अन्यतो निश्चयः स्यादत्राह–'**निश्चय**' इत्यादि। प्रकृतान्निश्चयाद् अन्यो निश्चयः **तदन्तरम्** तस्य **कल्पनायाम् अनवस्थानात्**[10]। कुतः, न कुतश्चित्, **तस्मात् संव्यवहारस्य** कार्यकारणभावादिलक्षणस्य सिद्धिः। तस्यैव असिद्धेः इत्यभिप्रायः। अस्तु तर्हि धीः निश्चयात्मा बहिरिव अन्तरपि[11] इत्यत्राह–'**ततः**' इत्यादि। **ततः** तस्माद् उक्तदोषात् **स्वार्थेऽपि** स्वस्य बुद्धेः अर्थो ग्राह्य बहिःस्वलक्षण तत्रापि न केवलं सामान्ये **कथञ्चित्** न सर्वात्मना, 'अभिलप्यते अनेन' 'अभिलप्यते' इति च[12] **अभिलापौ** शब्दजात्यादी तयोः **संसर्गः** 'अस्येदं वाचकम्, अस्येदं वाच्यम्' इति योजनं तस्य **योग्ययोग्यौ निर्भासौ** तयोरेकं साधारणं **ज्ञानं** प्रतिपत्तव्यम् सौगतैः। अत्र दृष्टान्तमाह–'**स्वरूपवत्**[13]' इति। **स्वरूप** इव तद्वदिति।

एव परं प्रति तर्कादिक प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्तरत्वनियमं विधुरयन्नाह–

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादनम् ? ॥१९॥

(१) विकल्पस्वरूपमसिद्ध निर्विकल्पेन गृह्यमाणत्वात्। (२) नीलादौ क्षणक्षय, अहिंसाक्षणे च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम्। (३) इति अभिलाप शब्द। (४) इति अभिलाप अभिलप्यमानो जात्यादि। (५) "अत्र यदित्येतदध्याह्रियते। प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साधर्म्यात् सादृश्यात् उपजायमान माध्यस्य ज्ञेयस्य तत्सादृश्यविशिष्टस्य गवयलक्षणस्य साधन गोसदृशो गवय इति ज्ञान यद्युपमान प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थवैसादृश्यादुपजायमान साध्यसाधन गोविलक्षणो महिष इति ज्ञान कि प्रमाण स्यात् ? तस्य किन्नामेत्याक्षेप। नहि तदुपमानमेव तल्लक्षणाभावात्। नापि प्रत्यक्षादि, भिन्नविषयत्वाद् भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च। तथा संज्ञिनो वाच्यस्य प्रतिपादन च

1 कुत स्वम–आ०, श्र०। 2–त संवेद–ब०। 3–कल्परूपमिति श्र०। 4 अपि विक–आ०। 5 'नो सिद्ध्येदिति' नास्ति आ०, श्र०। 6–ल्पनि–ब०। 7 यदीष्यते ब०। 8–वेदनानिश्च–आ०, श्र०। 9 'अथ' नास्ति आ०। 10 अनवस्थाभावात् ब०। 11 अन्तरेऽपि ब०। 12 चाभि–ब०। 13 'स्वरूपवदिति' नास्ति आ०, ब०।

विवृतिः–प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम् अन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतश्चेत् लिङ्गमेव ततः प्रतिपत्तिः अन्यथा न युज्यते। प्रत्यक्षेऽर्थे सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे 'वृक्षोऽयम्' इति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम्, 'गवयोऽयम्' इति यथा गवयदर्शिनः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात्। 'गौरिव गवयः' इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम्? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति।

कारिकार्थ – **प्रसिद्धोऽर्थो** गौः तेन **साधर्म्यं** सादृश्यं यद् गवयस्य तस्मात् **साध्यस्य** सादृश्यविशिष्टस्य विशेषस्य तेन वा विशिष्टस्य सादृश्यस्य **साधनं** सिद्धिः **उपमानं** प्रमाणम्। 'यदि'शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्र दूषणमाह–'**तद्**' इत्यादि। तेन प्रसिद्धार्थेन **वैधर्म्यं** वैसदृश्यं यन्महिष्यादेः तस्मात् साध्यसाधनं 'गोविलक्षणा एते महिष्यादयः' इति प्रतीतिः, तत् **किं प्रमाणम्** किमभिधानं तत्प्रमाणम्? तस्य किञ्चिन्नाम कर्त्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिषु न संभवति। तथा च सप्तमप्रमाणप्रसङ्गात् 'षडेव प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः।

उपमानं पृथक् प्रमाणमिति मीमांसकस्य पूर्वपक्ष — ननु उपमानप्रमाणानभ्युपगमे कुतो गवयदर्शनाद् असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धेरुत्पत्तिः? येन हि प्रतिपत्रा गौरुपलब्धा न गवयः, न च अतिदेशवाक्यं श्रुतं 'गौरिव गवयः' इति, तस्य अरण्ये पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अनेन सदृशो गौः' इत्येवमाकारं परोक्षे गवि यत् सादृश्यज्ञानमुत्पद्यते तदुपमानम्।

विवक्षितसञ्ज्ञाविषयत्वेन सकलनं यथा वृक्षोऽयमिति। तदपि किन्नाम प्रमाणं स्यादित्याक्षिप्यते। न खलु सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानमप्रमाणम् आगमप्रामाण्यविलोपापत्तेः, उपमानाप्रामाण्यापत्तेश्च।"–लघी० ता० पृ० ३९। "प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।"–न्यायसू० १।१।६। (६) तुलना–"गवयस्योपलम्भे च तुरङ्गादौ प्रवर्तते। तद्वैसादृश्यविज्ञानं यत्तदन्या प्रमा न किम्॥"–तत्त्वसं० पृ० ४५०। "साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेव प्रसज्यते।"–न्यायकुसु० ३।९।" सादृश्यञ्चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा।"–जैनतर्कवा० पृ० ७६। उद्धृतोऽयम्–स्या० र० पृ० ४९८। रत्नाकराव० ३।४। प्रमेयर० ३।५। प्रमाणमी० पृ० ३५।

(१) "एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्ध अतिदेशः"–व्युत्पत्तिवा० ग०। "इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेशः"–वाचस्पत्यम्। "तादृगिदं कर्त्तव्यमित्यतिदेशः।"–शास्त्रदी० पृ० २७७। (२) "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य।"–शाबरभा० १।१।५। "सादृश्यदर्शनोत्थं ज्ञानं सादृश्यविषयकमुपमानम्, दृष्टो पुरुषस्य गवय तत्सदृशः पश्चात् यद् गोविषयकं गवयसदृशज्ञानं तदुपमानम्।"–प्रक० प० पृ० ११०। 'सादृश्याद् दृश्यमानाद् यत्सन्निकृष्टे जायते। सादृश्यविषयं ज्ञानमुपमानं तदुच्यते॥'–बृह० प० पृ० १०९। "पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्, यथा वन्यामिनाय दृष्ट्वा गौः सादृश्येन स्मर्यते।"–शास्त्रदी० पृ० २५८। नयवि० पृ० १४६। तन्त्रर० पृ० १३।

1 युज्येत ज० वि०। 2 इतरेषु तस्यैव ई० वि०। 3–नि प्रमा–ई० वि०। 4 प्रसिद्धार्थो ब०। 5–नं सिद्धिः–ब०। 6 प्रतिपत्ता आ०, ब०। 7 न चातिदे–ब०।

अत्र च विप्रकृष्ट[1]सादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टं[2] सादृश्यं करणम्[3]। उक्तञ्च–

"दृश्यमानाद्[4] यदन्यत्र[5] विज्ञानमुपजायते।
सादृश्योपाधितस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम्[6] ॥" [ ]

अस्य[7] च अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्। यद्यपि गौरनेन[8] प्रागेव उपलब्धः, सादृश्यञ्चेदानीं प्रत्यक्षत एव गवये दृश्यते, तथापि 'गवयसदृशो गौः' इति प्रागप्रतिपत्तेः अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वम्[9]। तर्हि इदानीमेव गोः स्मृत्या सादृश्यस्य च अध्यक्षतोऽधिगमात् अधिकप्रमेयाभावाच्च अधिगतार्थाधिगन्तृत्वमस्य[10], इत्यप्ययुक्तम्; तद्विशिष्टत्वस्य[11][1] तत्र[12] ताभ्यामनधिगतेः[13]। यद्यपि प्रत्यक्षेण सादृश्यं प्रतिपन्नं गौश्च स्मृत्या, तथापि सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य स्मृत्या प्रत्यक्षेण उभाभ्यां वाऽप्रतीतेः तद्विषयत्वेन[14] उपमानस्य अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्। नहि अनुमानेऽपि अतोऽन्यत्[15] प्रामाण्यनिबन्धनम्। प्रत्यक्षेऽपि हि प्रदेशादौ[16] धर्मिणि स्मृत्या चाग्नौ प्रतिपन्नेऽपि अग्निविशिष्टप्रदेशादिविषयत्वेन अनुमानस्य प्रामाण्यं तद्वदुपमानस्यापि। तदुक्तम्–

*"तस्माद्यत्स्मर्यते[17] तत्स्यात् सादृश्येन[18] विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्[19] ॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। [20]विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥
प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके। विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणता ॥"*

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७–३९] इति[21]।

ननु अस्तु उपमानं प्रमाणम्, नतु प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं तदन्यतमस्वभावत्वात्तस्य; इत्यप्यनुपपन्नम्; तदन्यतमस्वभावत्वस्य[22] तत्राऽसंभवात्[23]। तथाहि–न तावत्[24] प्रत्यक्षरूपं तत्, परोक्षे गवि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगाभावेऽपि उत्पद्यमानत्वात्। नापि स्मरणमेवेदमि-

(१) विप्रकृष्टो गौ। (२) सन्निकृष्ट गवयनिष्ठ सादृश्यम्। (३) साधकतम करणम्–आ० टि०। (४) गवयात्। (५) गवि। (६) उद्धृतोऽयम्–आप्तप० पृ० ५३। प्रमेयक० पृ० १८५। 'तत्रज्ञैः'–सन्मति० टी० पृ० ५७५। (७) उपमानस्य। (८) पुरुषेण। (९) स्मृतिवत्–आ० टि०। (१०) उपमानस्य। (११) सादृश्य–आ० टि०। (१२) गवि। (१३) स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम्। (१४) विशिष्टविषयत्वेन। (१५) विशिष्टविषयत्वात्। (१६) पर्वतादौ–आ० टि०। (१७) गौ। 'तस्माद् दृश्यते'–न्यायाव० टी० पृ० १९। (१८) इति सादृश्यावधारणम्–आ० टि०। (१९) तयो गोगवययोरन्वितम। 'तदाश्रित'–तत्त्वस०। व्याख्या–"यस्मादेव प्रत्यक्षे गवये न किञ्चिदुपमानस्य प्रमेयमस्ति तस्मात्स्मर्यमाणैव गौर्गवयसादृश्यविशिष्टा तद्विशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्य प्रमेयमिति। ननु गवये सादृश्ये प्रत्यक्षगृहीते गौ स्मर्यते किमन्यदुपमेयमत आह–प्रत्यक्षेणेति। तत्रैव दृष्टान्तमाह प्रत्यक्षेऽपीति।'–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४४५। (२०) 'विशिष्टस्यान्यत सिद्धे'–प्रमेयक० पृ० ३४५। (२१) उद्धृता इमे–तत्त्वस० पृ० ४४५। प्रमेयक० पृ० ३४५। सन्मति० टी० पृ० ५७६। आप्तमी०–स्या० र० पृ० ४९७। जैनतर्कभा० पृ० १०। (२२) प्रत्यक्षाद्यन्यतम। (२३) उपमाने। (२४) "तदुपमानं न प्रत्यक्षम्, निरोहिते गवि चक्षुसन्निकर्षानिर्वर्तिनि जायमानत्वात्। न च स्मृतिः; ... तस्मादस्यानुभवाभावात्।"–प्रक० प० पृ० १११।

1–...सास्या–ब०। 2–मानप्रमा–ब०।

त्यभिधातव्यम्[1], प्रत्यक्षप्रतिपन्ने एव अर्थे स्मरणस्य आविर्भावात्। न च गोप्रत्यक्षकाले तत्प्रत्यक्षेण[2] गवयाप्रतिपत्तौ तत्सादृश्य[3] प्रत्येतुं शक्यम्।

"भूयोऽवयवसामान्ययोगो यद्यपि मन्यते। सादृश्यं तस्य नु (तु) ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि[4]॥"

[न्यायम० पृ० १४६] इत्यभिधानात्।

नाप्यनुमानरूपताऽस्य[5], लिङ्गादनुत्पत्तेः। अत्र हि लिङ्गम्–सादृश्यं परिकल्प्येत, परिदृश्यमानो गवयो वा? यदि सादृश्यम्, तत्किं गोगतम्, गवयगतं वा लिङ्गं स्यात्? न तावद् गोगतम्; गवयदर्शनात् प्राक् तस्य[6] असिद्धत्वात्। नचाऽसिद्धस्य लिङ्गत्वम्; अतिप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गाच्च, गोगतत्वेन हि सादृश्यं प्रमेयम्[7] तदेव च लिङ्गमिति। गवयगत तत्तर्हि[8] लिङ्गमस्तु उक्तदोषद्वयासंभवादिति चेत्, न, अत्रापि व्यधिकरणासिद्धत्वप्रसक्तेः[9]। न च व्यधिकरणासिद्धस्य गमकत्वं काककार्ष्ण्यादिवत्[10]।

एतेन गवयस्यापि लिङ्गता प्रत्याख्याता, व्यधिकरणत्वाविशेषात्[11]। उक्तञ्च–

"न[5] चैतस्यानुमानत्वं[12] पक्षधर्माद्यसंभवात्। प्राक्[13] प्रमेयस्य सादृश्यं धर्मत्वेन न[6] गृह्यते॥

(१) तुलना–"न च स्मरणमेवेद प्रमेयाधिक्यसम्भवात्। गवयेन हि सादृश्य न पूर्वमवधारितम्॥"–न्यायम० पृ० १४६। (२) गोप्रत्यक्षेण। (३) गवयसादृश्यम्। (४) गवयसादृश्यस्य प्रतियोगी गवय। (५) "ननु च ज्ञातसम्बन्धिता तुल्या, सा चात्र लक्षणम्, तत्र वान्यत्र वेति क्वेदमुपयुज्यते? बाढमुपयुज्यते, एकदेशदर्शनादिति हि तत्र लक्षणम्, ज्ञातसम्बन्धस्येति विशेषणम। अतो न गवयस्थ सादृश्य सदृशावगतेरेकदेश। किञ्च असकृद् दृष्टसम्बन्धो ह्यनुमानस्य हेतु असजातीयव्यावृत्तिसव्यपेक्षश्च, द्वयमत्र नास्तीति प्रमाणान्तरम्।"–बृह० पृ० १०८। प्रक० प० पृ० १११। शास्त्रदी० पृ० २८७। (६) गोसादृश्यस्य। (७) साध्यम्। (८) सादृश्यम्। (९) साध्य हि गविगत सादृश्य लिङ्गञ्च गवयगत सादृश्यमिति व्यधिकरणासिद्ध –आ० टि०। (१०) 'धवल प्रासाद काकस्य कार्ष्ण्यात्' इतिवत्। (११) गवयो हि वनवर्ती सादृश्यञ्च गवि साध्यमिति व्यधिकरणासिद्धता। (१२) व्याख्या–"ये तु शाक्या प्रमाणद्वयवादिन साङ्ख्या वा प्रमाणत्रयवादिनोऽस्यानुमानान्तर्भाव मन्यन्ते तान् प्रत्याह न चेति। असम्भवमेव दर्शयति–प्रागिति। प्रमेयो गौ तद्गत तावत्सादृश्य न लिङ्ग तस्य प्रागुपमानात्तद्धर्मत्वेनाऽग्रहणादिति। गवयगतमपि सादृश्य गवि प्रमेये न पक्षधर्म इत्याह गवये इति। गोगतस्य च प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादपि न लिङ्गता, तदेव हि गोगत प्रमेयमित्याह–प्रतिज्ञेति। सादृश्यविशिष्टो गवयोऽपि पक्षधर्मत्वाभावादेव न लिङ्गमित्याह गवये इति। ननु तत्सम्बन्धितामात्रमेव तद्धर्मत्व न तयोः समवायादेव, अस्ति गवयस्य गोसम्बन्ध तस्यासौ सदृश, तत्र कथमपक्षधर्मत्वमत आह–सादृश्यमिति। भवतु कथञ्चित्पक्षधर्मता, न त्वन्वयोऽस्ति। नहि गवयगत गोसादृश्य गोगतगवयसादृश्येनान्वितं दृष्टम्, इदानीमेव गवयसादृश्य गृह्यते। ननु युगपद् गव्य गाञ्च पश्यतोऽस्त्यन्वय परस्परसदृश येन यत्सदृश तदपि तेन सदृशमिति [illegible] [illegible] सर्वेणेति। [illegible] दृष्ट न तु सर्वेण गवय दृष्ट्वा तत्सादृश्य गृहीतमन्वयो [illegible] भवतीति। अस्ति [illegible]स्याप्येवमेव गा दृष्ट्वैव वने द्वितीय गवय पश्यतस्तदैव सादृश्यविशिष्टे प्रत्यय इत्याह–[illegible]।'–मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४४३। (१३) गवयदर्शनात् प्राक्–आ० टि०।

1 तस्य तज्ज्ञप्ति श्र०, द०। 2 प्रत्ययोगिनि द०। 3 परिकल्प्यत आ०। 4–प्रसङ्गात् गोग–ब०। 5 न च तस्यानु–श्र०। 6 न दृश्यते द०।

गवये गृह्यमाणञ्च न गवा[1]र्थानुमापकम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥
गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न[2] गोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्टं तद[3]न्वयि ॥
एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने । सादृश्येन सहै[4]वा[1]स्मिस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥"
[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ४३-४६] इति[5] ।

नाप्येतत् शा[2]ब्दम्, अश्रु[6]ताऽतिदेशवाक्यस्य प्रतिपत्तुः तत्संभवात् । ना[7]प्यर्थापत्ति[3]ः; अन्यथानुपपद्यमानदृष्ट-श्रुतार्थानपेक्षणात् । नाप्यभावः, [4]प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणादिति ।

तन्निरसनपुरस्सरम् उपमानस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भावप्रदर्शनम्—

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[8]—'अनेन सदृशो गौः' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्, त[9]थाविधायाः प्रतीतेरेवाऽसंभवात् । तथाहि—अश्रुतातिदेशवाक्यो ना[5]गरकः कानने पर्यटन् अदृष्टपूर्वं गोसदृशं पशुं प[6]श्यन् एवं बुद्ध्यते ब्रवीति च—'गवा सदृश एव कश्चित् पशुः' इति, ननु 'अनेन सदृशो गौः' इत्येवंविधज्ञानमभिधानं वा कस्यचित्तदानीमस्तीति । अस्तु वा, तथापि अस्य[10] प्रत्यभिज्ञारूपत्वान्न प्रमाणान्तरत्वम् । ननु अनुभूतेऽर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्त्तते दर्शनस्मरणनिबन्धन[7]त्वात्तस्याः[11], न च पुरोवर्त्तिगवया[12]वच्छिन्नसादृश्योपाधितया पूर्वं गोपिण्डोऽनुभूतः, गवयाग्रहणे तदवच्छिन्नसादृश्यविशेषितस्य गोपिण्डस्य ग्रहीतुमशक्तेरिति, तदयुक्तम्, यतः कस्य अनुभवाभावः—ग[13]वयावच्छेदस्य,

(१) 'गवामनुमापकम्'—मी० श्लो० । (२) व्यधिकरणत्वात्, सम्बन्धे हि गमको गम्य गमयति —आ० टि० । (३) न च तदन्वयि गवयगत सादृश्य पूर्वं दृष्ट किन्तु गवयदर्शनकाल एव सर्वस्यापि प्रमातुरुदीयते, अनेनानधिगतार्थाधिगन्तृत्व प्रामाण्यबीजमुपमानस्य ज्ञापितम् —आ० टि० । (४) 'सहैकस्मिन्'—सन्मति० टी० पृ० ५७७ । (५) उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० १८७ । सन्मति० टी० पृ० ५७७ । तुलना—"त्रैरूप्यानुपपत्तेश्च न च तस्यानुमानता । पक्षधर्मादि नैवात्र कथञ्चिदवकल्पते ॥ (प्राग्गोगत हि सादृश्य न) धर्मत्वेन गृह्यते । गवये गृह्यमाणञ्च न गवामनुमापकम् ॥ प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता । गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति ॥"—तत्त्वस० का० १५३९-४१ । (६) "श्रुतातिदेशवाक्यत्वन्न चातीवोपयुज्यते । येऽपि ह्यश्रुततद्वाक्यास्तेषामपि भवत्ययम् ॥"—मी० श्लो० उपमान० श्लो० १० । (७) तुलना—"अन्यथानुपपद्यमानदृष्टश्रुतार्थानपेक्षत्वान्नार्थापत्ति । प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणान्नाभाव. ।"—तत्त्वस० प० पृ० ४५० । (८) पृ० ४८९ प० १६ । (९) तुलना—"एवविधप्रतीत्यभावात् । प्रसिद्धेन हि सादृश्यमप्रसिद्धस्य गम्यते । गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विपर्ययः ॥ तथाहि —अश्रुतातिदेशको नागरक कानने परिभ्रमन्नदृष्टपूर्वं गोसदृश प्राणिनमुपलभमान एव बुद्ध्यते ब्रवीति च, अहो नु गवा सदृश एप कश्चन प्राणीति । नत्वनेन सदृशो गौरिति ज्ञानमभिधान वा तदानी कस्यचिदस्तीति अत प्रमितेरेवाभावात् किं प्रमाणचिन्तया ।"—न्यायम० पृ० १४६ । (१०) तुलना—"एकत्वसादृश्यप्रतीत्यो सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात् ।"—प्रमेयक० पृ० ३४५ । न्यायाव० टी० पृ० १९ । स्या० र० पृ० ४९७ । प्रमाणमी० पृ० ३५ । जैनतर्कभा० पृ० १० । (११) प्रत्यभिज्ञायाः । (१२) गवयनिष्ठसादृश्यविशेषणविशिष्टतया । (१३) इद सादृश्य गवयनिष्ठमित्याकारस्य ।

1 सहैकस्मिन्—ब० । 2 शब्दम् ब० । 3—त्तिरन्यथापत्तेः अन्यथानुप—आ० । 4 प्रमाणं प्रमेय—ब०, श्र० । 5 नागरिक ब० । 6 पश्यन्नेवं ब० । 7—नत्वात् न च ब०, आ० ।

सादृश्यस्य वा ? प्रथमपक्षे 'स एवायम्' इत्यादि प्रतीतेरपि प्रत्यभिज्ञानता न स्यात् उत्तरपर्यायावच्छेदस्य[1] पूर्वमननुभवात्। अथात्र[2] अवच्छेदकस्य उत्तरपर्यायस्य पूर्वमननुभवेऽपि अवच्छेद्यस्य अन्वितद्रव्यस्य अनुभवात् प्रत्यभिज्ञानता; तदन्यत्रापि[3] समानम्–अवच्छेदकस्य गवयस्य तदानधिगमेऽपि सादृश्यस्य अवच्छेद्यस्य अधिगमात्। कथमप्रतीतस्य गवयस्य सादृश्यविशेषणतेति चेत् ? कदा तदप्रतीतिः–गोदर्शनसमये, उत्तरकालं वा ? प्रथमविकल्पे[4] उत्तरपर्यायस्यापि[5] द्रव्यविशेषणत्वाभावप्रसङ्गः, पूर्वपर्यायप्रतीतिसमये तस्याप्यप्रतीतेः[6]। अथ उत्तरप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य[7] तस्य[8] तद्विशेषणता; तदेतदन्यत्रापि अविशिष्टम्। तन्न गवयावच्छेदस्य अनुभवाभावः।

नापि सादृश्यस्य; तद्धि असन्निहितत्वान्नानुभूयते, प्रतिवन्धकसद्भावाद्वा ? न तावदसन्निहितत्वात्; सन्निहितपदार्थवृत्तित्वेन असन्निहितत्वाऽसिद्धेः। नापि प्रतिवन्धकसद्भावात् तस्यानुपलम्भः; गोपिण्डोपलम्भवत् सादृश्योपलम्भेऽपि प्रतिवन्धकस्य कस्यचिदप्यनुपलम्भात्। ननु उभयवृत्तित्वात् सादृश्यस्य कथमेकपिण्डोपलम्भसमये प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणोपलम्भः स्यात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; एकैकत्र अस्य[8] समाप्ततया प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणापि उपलम्भोपपत्तेः। कथमन्यथेदं शोभेत–

"सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तत्तस्मादुपलभ्यते[9]॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३५] इति।

'इदमनेन सदृशम्' इति सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न पुनः तत्स्व-

---

(१) उत्तरपर्यायनिष्ठमिदमेकत्वमित्याकारस्य। (२) एकत्वप्रत्यभिज्ञाने। मीमांसकाभिमतोपमानस्य प्रशस्तपादभाष्यादिषु आगमस्मरणयोरप्यन्तर्भावः प्रदर्शि, तथाहि–"आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव।"–प्रश० भा० पृ० ५७६। "किञ्च स्मृतिस्वभावत्वाद्वा न प्रमाणमुपमानं स्मृत्यन्तरवत्" "एवं तु युज्यते तत्र गोरूपावयवैः सह। गवयावयवाः केचित्तुल्यप्रत्ययहेतवः॥ तथास्य गवये दृष्टे स्मृतिः समुपजायते।'–तत्त्वसं० पृ० ४४८। "भवतु वैषा बुद्धिरनेन सदृशो गौः तथापि स्मृतित्वान्न प्रमाणफलम्।"–न्यायमं० पृ० १४६। "तस्माद् गवयग्रहणे सति असन्निहितगोपिण्डावलम्बिनी सादृश्यप्रतीतिः सदृशदर्शनाभिव्यक्तसंस्कारजन्या स्मृतिरेव न प्रमाणान्तरम्।"–प्रश० कन्द० पृ० २२१। "सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयं क्रमः–पूर्वं तावत् गोगवययोर्विषाणित्वादिसादृश्यं गवि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयदर्शनानन्तरं 'यदेतद् विषाणित्वादिसादृश्यं पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तद् गव्यप्युपलब्धम्' इति स्मरति तदनन्तरं विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसन्धानं जायते 'अनेन पिण्डेन सदृशो गौः' इति। एवञ्च स्मार्तमेतद् ज्ञानं कथं प्रमाणान्तरं भवेत् ?" –सन्मति० टी० पृ० ५८२। (३) सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेऽपि। (४) स एवायमिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्थले। (५) उत्तरपर्यायस्यापि। (६) उत्तरपर्यायस्य–आ० टि०। (७) अन्वितद्रव्यस्थानीयस्य गोगतस्य सादृश्यस्य विशेषणम्, अपितु गवयप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य सादृश्यस्य गोविशेषणत्वोपपत्तेरिति तात्पर्यम्–आ० टि०। (८) सादृश्यस्य। (९) तस्मात्तदुपपद्यते'–मी० श्लो०। तस्मात्तदुपलभ्यते'–न्यायमं० पृ० १४३। तद्दृष्टोऽस्मिन्–न्यायमं० पृ० १४५। प्रमेयक० पृ० ३४६। प्रश० कन्द० पृ० २२१। तुलना– 'सामान्यवद्धि सादृश्यं प्रत्येकं च समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते॥'–तत्त्वसं० पृ० ४४५।

---

1 गवय एवायम् ब०। 2 प्रतीतस्य तद्वि–ब०।

रूपप्रतिपत्तिः। प्रतिपत्ता हि गवयमुपलभ्य पूर्वानुभूतं गोपिण्डसंस्थानविशेषम् अवहितचेतसा परिभाव्य तयोः सादृश्यव्यवहारं प्रवर्त्तयति [1]सङ्कलयति चैवम्–'मया पूर्वमेव गौः अनेन प्राणिना †तुल्यसंस्थानः प्रतिपन्नः, ततस्तां† तुल्यसंस्थानतां स्मृत्वा सादृश्यं व्यवहरामि' इति। ततो य[१]ः सङ्कलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा 'स एवायम्' इति प्रत्ययः, सङ्कलनात्मकश्च 'अनेन सदृशो गौः' इति प्रत्यय इति। सङ्कलनं हि पूर्वोत्तरसमयसमधिगतयोः वस्तुरूपयोः [2]ऐकधर्मयोगितया सदृशादिधर्मयोगितया वा प्रत्यवमर्शनम्। तदात्मकत्वञ्च अत्रास्ति, गोगवययोः सदृशधर्मान्वितत्वेन प्रत्यवमर्शसम्भवात्।

ननु चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वे स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वप्रसङ्गः तत्सामग्रीत एवास्य आविर्भावात्, न चात्र सास्ति, गवयप्रत्यक्षादिसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्तेः। न च विलक्षणसामग्रीप्रभवं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं युक्तमतिप्रसङ्गात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; अत्रापि तत्सामग्र्या विद्यमानत्वात्[3]। तथाहि–[३]स्मरणापेक्षं गवयप्रत्यक्षम् [४]एवंविधं ज्ञानमुपजनयति, अनपेक्षं वा? तत्र अनपेक्षस्य जनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्यापि एतत् स्यात्। अथ स्मरणापेक्षं जनकत्वम्, तत्रापि किं स्मरणमात्रापेक्षम्, गोपिण्डस्मरणापेक्षं वा [५]तत्तज्जनयेत्? यदि स्मरणमात्रापेक्षम्; तदा अश्वादिस्मरणेऽपि तत् तज्जनयेत्। अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डस्मृतिमात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षं वा? प्रथमपक्षे महिष्यादिस्मरणेऽपि [६]तस्य तज्जनकत्वप्रसङ्गः, सादृश्याप्रतिपत्तेः [७]उभयत्राप्यविशेषात्। गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणा[4]पेक्षित्वे तु सिद्धः पूर्वमेव सादृश्यानुभवः, तदसिद्धौ संस्कारविशेषाभावतः [८]तत्स्मरणस्यैवाऽनुपपत्तेः। पूर्वं तदननुभवे च

(१) अनेन सदृशो गोरिति प्रत्यय प्रत्यभिज्ञानात्मक सङ्कलनात्मकत्वात्। (२) स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाने–आ० टि०। (३) तुलना–"तत्र किं स्मरणापेक्षमिन्द्रियमेव ज्ञान जनयति अनपेक्ष वेति? अनपेक्षस्य ज्ञानजनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्य स्मरणेऽप्येतत् स्यात्। अथ पिण्डमात्रस्मरणे, अश्वादिपिण्डस्मरणे स्यात्। अथ गवयसादृश्यावच्छिन्नस्मरणापेक्ष जनकम्, तत्रापि यदि स्मरणमात्रमपेक्षेत, गजादिस्मरणेऽपि स्यात्। अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डमात्रस्मरणमपेक्षते, गवयसादृश्यावच्छिन्न गोपिण्डस्मरण वेति? गोपिण्डमात्रस्मरणे अश्वादिपिण्डस्मरणेऽपि स्यात्। गवयादिसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे पूर्वमेवानुभवो वाच्य, तदन्तरेण सस्कारानुत्पत्ते. स्मरणस्यैवाभावात्। अत सविकल्पज्ञानाभावेऽपि गवयसादृश्यावच्छिन्ने गोपिण्डे पूर्वमनुभवोऽभ्युपगन्तव्य। येन हि सम्कारोत्पत्तौ स्मरणान्मदीयया गवा सदृशोऽय गवय इति ज्ञान स्यात्। पूर्वं च गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डेऽनुभवप्रसिद्धौ गवयोपलम्भात् 'मदीया गौरनेन सदृशी' इति कथमेतत् स्मरण न स्यात्? तथा पृष्टो ब्रवीति एतत्सदृशी मयोपलब्धा न तु प्रमाणान्तर निर्दिशति।"–प्रश० व्यो० पृ० ५८८। (४) अनेन सदृशो गौरिति–आ० टि०। (५) गवयप्रत्यक्षम्। (६) गवयप्रत्यक्षस्य। (७) यथा हि महिष्यादिस्मरणे न गोसादृश्य प्रतीयते तथा गोपिण्डस्य स्मरणमात्रेऽपि न सादृश्यस्य प्रतिपत्ति। (८) सादृश्यस्मरणस्यैव।

1 मय पर्यन्त ब०। † एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०। 2 एकधर्मयोगितया वा प्र– ब०। 3–विद्यज्ञान–ब०, –विद्यविज्ञान–श्र०। 4–णापेक्षत्वे ब०।

गोपिण्डसंस्थानविशेषविषयं निपुणनिरूपणमनर्थकमेव स्यात्। पिण्डमात्रस्मरणेऽपि सन्निकृष्टसादृश्यदर्शनबलेन विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतेरुत्पादप्रसङ्गात्। न च पिण्डमात्रमनुस्मरतः संस्थानविशेषमनिरूपयतः सादृश्यप्रतीतिरुत्पद्यते। अतो मन्यामहे–गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डानुभवभावितेयं स्मृतिरिति। तथाविधस्मृतिसहायञ्च गवयप्रत्यक्षम् 'अनेन सदृशो गौः' इति ज्ञानमुत्पादयतीति सिद्धमस्य स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वम्। अतः नोपमानं प्रत्यभिज्ञानाद् भिद्यते, अभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, यदभिन्नसामग्रीप्रभवं तदभिन्नम् यथा अविनाभावलक्षणलक्षितहेतुतः समुपजायमानं कार्यस्वभावाद्यनुमानम्, स्मृतिप्रत्यक्षलक्षणाऽभिन्नसामग्रीप्रभवञ्च प्रत्यभिज्ञानोपमानलक्षणं ज्ञानद्वयमिति।

यदप्युक्तम्–'विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टं सादृश्यं करणम्' इत्यादि, तत्र किमिदं सन्निकृष्टसादृश्यस्य करणत्वम्–तदनुमापकत्वम्, तत्स्मारकत्वम्, तदुपमापकत्वं वा? प्रथमपक्षे पूर्वापरविरोधः–पूर्वं तस्य तदनुमापकत्वप्रतिषेधात् इह चाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु सन्निकृष्टसादृश्यस्य विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिहेतुत्वात् उपमानहेतुत्वानुपपत्तिः, स्मृतेः उपमानत्वाऽसंभवात्। तत्स्मृतिसहायं तु तत् तद्धेतुः स्यात् न केवलम्, तथा च 'दृश्यमानाद् यदन्यत्र' इत्यादि दुर्घटम्। एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः, केवलस्य तत्सादृश्यस्य तदुपमापकत्वासंभवात्। न च सादृश्यस्य ज्ञानजनकत्वं संभवति; अर्थे ज्ञानजनकत्वस्य अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। अतः सदृशवस्तुविषयाभ्यां दर्शनस्मरणाभ्यां गो-गवययोः सादृश्यपरामर्शि प्रत्यभिज्ञानाऽपरपर्यायमुपमानं जन्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तस्मात् उपमानस्य प्रत्यभिज्ञास्वभावत्वान्न प्रमाणान्तरत्वं युक्तम्।

अनुमानस्वभावत्वाद्वा। कथमस्यानुमानत्वमिति चेत्? उच्यते स्मर्यमाणो गोपिण्डो विवक्षितगवयावच्छिन्नसारूप्यमान्, तेन अवच्छिद्यमानत्वात्, यद् यदेवम् तत्तथा

(१) प्रतीति। (२) पृ० ४९० प० १। (३) गवयगतसादृश्यस्य। (४) विप्रकृष्टस्मृति–आ० टि०। (५) सन्निकृष्टसादृश्यम्–आ० टि०। (६) उपमान–आ० टि०। (७) विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिनिरपेक्षस्य। (८) न प्रमाणान्तरत्वं युक्तमिति सम्बन्धः। तुलना–"तथा सदृशगोसत्त्वेऽपि भवत्येवानुमैव हि। त्रिरूपलिङ्गजन्यत्वमस्य चैव प्रतीयते॥ यो गवा सदृशोऽसौ हि गवयश्रुतिगोचरः। संकेतग्रहणावस्थो बुद्धिस्थो गवयो यथा॥ गोसदृशत्वं हेतुः, गवयश्रुतिगोचरत्वं साध्यधर्मः, संकेतग्रहणकाले विकल्पबुद्धिप्रतिभासी बुद्धिस्थो गवयो दृष्टान्तः दृश्यमानो गवयो धर्मी॥"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५३-५४। "तथाप्यनुमानेऽन्तर्भावान्न प्रमाणान्तरमिति। स्मर्यमाणो गौः धर्मी एतत्सदृश इति साध्यो धर्मः एतद्गवयगतसामान्ययोगित्वात् सन्निहितदेशकालवर्तिद्रव्यवत्। [illegible] [illegible]। [illegible] तत्सादृश्यं [illegible]।"–स्याद्वादर० पृ० १४८। "यत्र च प्रत्यक्षेण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।"–सन्मति० टी० पृ० ५८३।

१–सदृशभावि–आ०, ब०। २–दृश्यता–प०। ३–स्य स्मृति–ब०। ४–[illegible] ब०।

यथा सन्निहितो गवयपिण्ड., तथा चायम्, तस्मात्तथेति। यदि वा, अविलक्षणविषाणाद्यवयवयोगित्वादिति हेतुः, साध्य-दृष्टान्तौ तौ एव ।

सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानफलस्य उपमानस्य पृथक् प्रामाण्यं वर्णयतो नैयायिकस्य पूर्वपक्ष –

ननु माभूत् मीमांसकाभ्युपगतमुपमानं प्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणान्तरम्, नैयायिकैरभ्युपगतं तु भविष्यति। [1]ते हि "*प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्*" [न्यायसू० १।१।६] इत्युपमानलक्षणं वर्णयन्ति। तत्र [2]प्रसिद्धञ्च तत्साधर्म्यञ्च, प्रसिद्धेन वा गवा साधर्म्यं गवयस्य, प्रसिद्धं वा साधर्म्यं यस्य स प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयः तस्मात्, तमाश्रित्य साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य साधनं बोधनम् उपमानम्। श्रुतातिदेशवाक्यस्य हि प्रमातुः अप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं यद् इन्द्रियजं सञ्ज्ञा[3]संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलं तदुपमानं प्रतिपत्तव्यम्। [4]तद्धि इन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव [5]तदगोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम्। श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशप्राणिदर्शनानन्तरम् आटविकवचः 'यादृशो गौस्तादृशो

(१) "प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति । यथा गौरेव गवय इति । किं पुनरत्र उपमानेन क्रियते ? यदा खल्वय गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थं इत्याह । यथा गौरेव गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्द सञ्ज्ञेति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यत इति । यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्ध प्रपिपद्यमानस्तामौषधी भैषज्यायाहरति ।"–न्यायभा० १।१।६ । (२) "प्रसिद्धसाधर्म्यादिति–प्रसिद्ध साधर्म्यं यस्य, प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽय प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थं । किमुक्तम्भवति ? आगमाहितसस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम् । यदा ह्यनेन श्रुत भवति यथा गौरेव गवय इति, प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्ये पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अय गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्ति ।"–न्यायवा० पृ० ५७ । "प्रसिद्धसाधर्म्यात् इत्यत्र प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेव गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृश पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतु । तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिसहित सादृश्यज्ञानमुपमानाख्य प्रमाणमास्थेयम् ।"–न्यायवा० ता० पृ० १९८ । (३) "अद्यतनास्तु व्याचक्षते–श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियज सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम् । तद्धीन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव तदगोचरप्रमेयप्रमितिसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरक कानने परिभ्रमन् गोसदृशं प्राणिनमवगच्छति, ततो वनेचरपुरुषकथित यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्वा च प्रतिपद्यते अय गवयशब्दवाच्य इति । तदेतत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञान तज्जन्यमित्युपमानफलमित्युच्यते ।" –न्यायमं० पृ० १४२ । न्यायकलि० पृ० ३ । "सम्बन्धस्य परिच्छेद सञ्ज्ञाया सञ्ज्ञिना सह । प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफल विदु ॥"–न्यायकुसु० ३।१० ।–"ग्रामीणस्य प्रथमत पश्यतो गवयादिकम् । सादृश्यधीर्गवादीना या स्यात्सा करण मतम् ॥ वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते । गवयादिपदाना तु शक्तिधीरुपमाफलम् ॥" मुक्ता०का० ७९-८० । तर्कस० उपमानपरि० । (४) सारूप्यज्ञानम् । (५) इन्द्रियागोचर ।

1 तथाहि व० ।

अभिधाया' शब्दस्य लिङादेर्यासौ भावना पुरुषप्रवृत्त्युत्पत्तिं प्रति स्वकीयप्रयोजकव्यापारः तस्य अभिधायका लिङादयः। भाव्यनिष्ठश्च भावकव्यापारो भावना। शब्द-

---

त्वावधारणात् लक्षणया गमयन्तीत्यर्थः ।"–न्यायसु० प०५५९। जैमिनिन्या० पृ० ७५। तन्त्ररह० पृ० ४७। मानमेयो० पृ० २७२। वैयाकरणभू० द० पृ० १५६। मुक्ता० दिन० पृ० ५१५। "अभिधीयत इति अभिधा प्रवर्तना कर्त्तव्यता वा, सैव च पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तामाहुरिति। अथवा अभिधाया शब्दस्य भावना अभिधाभावना सैव प्रवर्तना परसमवेतापि शब्देन पुरुषं प्रवर्तयता तत्सिद्धये अभिधीयमाना शब्दव्यापारत्वेनोच्यते तामाहुरिति। अथवा इष्टसाधनताभिधानमभिधा सैव विधानं विधिरिति व्युत्पत्त्या विधिरित्युच्यते। सैव च भतिकर्तृत्वं प्रतिपद्यमानाया पुरुषप्रवृत्तेः प्रयोजकस्य शब्दस्य व्यापारो भावना तामाहुः।"–न्यायरत्नमा० पृ० ५३। मीमांसान्याय० पृ०१८१। उद्धृतोयम्–'शब्दात्मभावनामाहु'–अष्टसह० पृ० १९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२। विधिवि० पृ० १५। न्यायम० पृ० ३४३। बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९०। 'अभिधा भावना'–न्यायकु० प्र० ५।१३। मीमांसार्थप्र० पृ० ८। मीमांसान्याय० पृ० १८१। शास्त्रदी० २।१।१। न्यायरत्नमा० पृ० ४७। मीमांसाबाल०पृ० ७५।

(१) "तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः। प्रयोजकक्रियामाहुः भावनां भावनाविदः ॥"–तन्त्रवा० २।१।१। "इह हि लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने गम्येते। शब्दात्मिका च अर्थात्मिका च। तत्र लिङादीनां प्रयोजककर्तृत्वं पुरुषः प्रयोज्यः, तेन किमित्यपेक्षायां पुरुषप्रवर्तनमिति सम्बध्यते। अथ तु योग्यतयैव लिङादिविषया क्रियोच्यते प्रवर्तयेदिति ततः किमित्यपेक्षिते पुरुषमित्येव सम्बध्यते। अथ केनेत्यपेक्षिते पूर्वसम्बन्धानुभवापेक्षेण विधिज्ञानेनेति सम्बध्यते। कथमिति प्राशस्त्यज्ञानानुगृहीतेनेति। कुत एतत् ? बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत् प्रशस्तोऽयमिति नावबुध्यन्ते तावन्न प्रवर्तन्ते, तत्र विधिविभक्तिरवसीदति ना प्राशस्त्यज्ञानमृते भ्नाति। तच्च पुरुषार्थात्मके फलांशे सर्वस्य स्वयमेवानुष्ठानं भवतीति प्रसिद्धत्वान्न वेदादुत्पद्यमानमपेक्ष्यते। साधनेतिकर्तव्यतयोस्तु अप्रवृत्तपुरुषनियोगात्तदंशस्यैव प्राशस्त्यप्रतिपादनायाकाङ्क्ष्यते।"–तन्त्रवा० १।२।१। न्यायसु० पृ० ३२–। "भाव्यभावनसमर्थो हि व्यापारो भावना।"–भावनावि०पृ० ६। "भाव्योत्पादानुकूलस्य व्यापारस्य भावनात्वप्रसिद्धेः।'–न्यायसु०पृ० ३१। "भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः।'–अर्थसं० पृ० ११। "भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः।"–मीमांसान्याय० पृ० २। "तत्र प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधा, फलानुकूलो व्यापारो भावनेति विवेकः।"–मीमांसार्थप्र० पृ० ८। "भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। भाव्यं हि स्वर्गादिकं साध्यमानत्वात् तन्निष्ठस्तदुत्पादकश्च पुरुषव्यापारो यस्य भावना शब्देन भवतिनोच्यते। प्रकृत्यर्थस्य भवने कर्ता च स्वर्गादि स एव [illegible] धर्मता प्रतिपद्यते। कर्ता स्वस्य प्रयोजकः पुरुषः, लेनार्थं [illegible] प्रयोजकव्यापारः, पुरुषो हि भवन्तं स्वर्गादिमर्थं स्वव्यापारेण भावयति सम्पादयति, स तत्सम्पादको व्यापारो भावनेत्युच्यते।'–न्यायम० पृ० ३२५। "भावनात्व नाम भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वम्। [illegible] भवितुर्भवनानुकूल [illegible] व्यापारत्वात् [illegible] पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितुः [illegible] [illegible]'–मी० परि० पृ० २०। (२) 'तस्मादर्थात्मा पुरुषप्रवृत्तिरूपा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]'–भावनावि० टी० पृ० ९८। तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना। सा च [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]

---

१ भावयति–प० ।

भावनायाश्च भाव्या पुरुषप्रवृत्ति, प्रवृत्तिमान् वा पुरुषः। [1]प्राशस्त्याभिधानञ्च विना विधिशक्तिर्निमित्तत्वमुपगतापि [2]प्रवर्त्तनायां न समर्था भवति। न हि 'इमां गां क्रीणीष्व' इति शतकृत्वोऽप्युक्तः कश्चित् क्रेतुं प्रवर्त्तते यावत् 'घटोध्नी सम्पन्नक्षीरा' इत्यादि [3]प्राशस्त्यज्ञानं न प्रवर्त्तते। [4]अत अर्थवादोपजनितप्राशस्त्यज्ञानसचिवा शब्दभावना प्रवर्त्तनाङ्गम्। सा च [5]त्र्यंशपरिपूर्णा भवति–'किम्, केन, कथम्' इति। किं भावयेत्? स्वर्गम्। केन? [6]दर्शपौर्णमासाभ्याम्। [7]कथम् इति? इतिकर्त्तव्यतां दर्शयति प्रयाजादिव्यापाररूपाम्। सेत्थं त्र्यंशपरिपूर्णा शब्दभावना [8]फलभावनायां पुरुषं

गामानयेत्यस्मिन वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्, स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिनिष्ठ एव। अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते।"–अर्थसं० पृ० ११–१३। मीमांसान्याय० पृ० ३, १७८। मीमांसार्थप्र० पृ० ८।

प्रवर्त्तयन्ति । यद्यपि चेच्छास्मृत्यादय. पुरुषप्रवृत्तिहेतवः तथापि न तेषां मुख्यः प्रवर्त्तनाव्यपदेशः, शब्दभावनायास्तु साध्यावगतिकारित्वेन मूलभूतत्वात् मुख्यः । 'शब्दभावना' इति शब्दशब्देन शब्दधर्मतया व्यपदेशात्, यथा ग्रामादिदाने राज्ञो दातृत्वव्यपदेशो मुख्यः लाकुटिकादीनां तु राजादेशानुसारेण प्रवृत्तानामौपचारिकः एवमत्रापि । तदुक्तम्—

"साध्यत्वे हेतुव्यापार. कथ्यते शब्दभावना ।
शब्दधर्मतयाख्यातः कार्यसमूचितस्थितिः ॥" [ ]

तथा च शब्दभावनासद्भावे किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽनुपपन्नः; यथैव हि अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य अभिधात्मको व्यापारः परिकल्प (कल्प्य) ते तथा प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या लिङादे. प्रवर्त्तनात्मकोऽपीति । तत्र 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र द्वे भावने प्रतीयेते शब्दात्मिका पुरुषप्रेरणारूपा अर्थात्मिका च पुरुषव्यापाररूपा इति । तत्र लकारसामान्यस्यार्थ. अर्थभावना । उक्तञ्च—

"इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ।" [तन्त्रवा० २।१।१] इति ।

पुरुषव्यापारस्य हि सर्वत्रार्थे विद्यमानत्वात् सर्वार्था अर्थभावना, 'यजते,

(१) लाकुटिकप्राया –आ० टि० । द्वारपालसदृशा इत्यर्थः । (२) इच्छास्मृत्यादीनाम् । (३) प्रवर्तनाव्यपदेश । (४) लकुट-दण्डधारिणाम् द्वारपालादीनाम् । (५) पुरुषरूपेण कार्येण तस्याभिन्नत्व सूच्यते–आ० टि० । (६) आख्यातविभक्ति –आ० टि० । (७) "प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना । सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात् । साप्यंशत्रयमपेक्षते साध्य साधनमितिकर्त्तव्यताञ्च किं भावयेत्केन भावयेत्कथं भावयेदिति । तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति, इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति ।'–अर्थस० पृ० १९-२३ । "प्रवृत्तिश्चार्थभावनैव"–मीमांसार्थ० पृ० ९ । "स्वर्गेच्छाजनितो यागविषयो य प्रयत्न स भावना । स एव चाख्यातांशेनोच्यते । यजेत इत्याख्यातश्रवणे यागे यतेत इति प्रतीतेर्जायमानत्वात् अतश्च प्रयत्न एवार्थी भावना । यथाह –(न्यायसु० पृ० ५७९) प्रयत्नव्यतिरिक्तार्थीभावना तु न शक्यते । वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतत्वप्रसज्यते ॥'–मीमांसान्या० पृ० १८५-८७ । (८) आर्थीभावना । "अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥"–तन्त्रवा० २।१।१ । बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । शास्त्रदी० २।१।१। न्यायकु० प्र० ५।१३ । जैमिनिन्या० पृ० ७५ । मीमांसाबाल० पृ० ७५ । 'सर्वाख्यातस्य गोचरा'–मीमांसाप० पृ० ८ । प्रकृत पाठ –अर्थस० पृ० १९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । "अर्थात्मा भावना त्वन्या सर्वाख्यातगोचरा । –तत्त्वस० पृ० ४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । 'सा चाख्यातस्य –वैयाकरणभू० द० पृ० १५६ । सुस्था० दिन० पृ० ५१५ । व्याख्या–' विधेयाया भावनाया पुरुषार्थत्व[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] '–न्यायकु० पृ० ५६० । (९) [illegible]–आ० टि० । [illegible]

[illegible]

अयजत, अयष्ट' इत्यादि सर्वाख्यातेषु च विद्यते। न हि तत्र[1] पुरुषप्रेरणारूपा शब्दभावनाऽनुभूयते सिद्धस्य[2] आत्मव्यापारस्य अर्थभावनापरपर्यायस्य अनुभवात्। लिङादिविषये तु 'यजेत' इत्यादौ द्वयमनुभूयते–स्वार्थं लिप्समानो हि पुरुषः स्वव्यापारे यागविधानलक्षणे प्रवर्त्तते इति अर्थभावना, तमयं लिङ् प्रवर्त्तयतीति शब्दभावना चेति ॥छ॥

तदेतद्भावनावादिनो मतमयुक्तम्[3], यतः शब्दस्य भावना, शब्द एव वा भावना शब्दभावना स्यात्? प्रथमपक्षे शब्दस्य भावना प्रेरकत्वम्, तच्च प्रेषणाध्येषणरूपम्[4], तस्य चेतनात्मकपुरुषधर्मत्वात्[5] कथं शब्देऽनुपचरितस्य[6] सम्भवः? तद्धर्माध्यासितपुरुषप्रयुक्ताद्[7] वाक्यादेव हि[1] शब्दे तत्संभाव्यते[8] न मुख्यतः।

किञ्च, [9]प्रेर्यप्रेरकयोर्न निष्फला प्रवृत्तिः। किञ्चिद्धि स्वात्मनि परत्र वा अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनमभिसन्धाय कश्चित् प्रेरकः प्रेर्यश्च प्रसिद्धः। न[2] चाचेतने शब्दे तदभिसन्धान[10] संभवति तत्कथं तस्य[11] प्रेरकत्वम्? बलवत्प्रभञ्जनादेरिवास्य[12][13] अनभिप्रायस्यापि प्रेरकत्वे शब्दविधिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषोपनिपातः[14] स्यात्।

त्यर्थोऽवगम्यते। किं करोति? पचति। किमकार्षीदपाक्षीत्। किं करिष्यति पक्ष्यति। किं कुर्यात् पचेत्। किन्न कुर्यान्न पचेदिति।"–तन्त्रवा० २।१।१।

(१) आख्याते। (२) "सिद्धकर्तृक्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति। सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते॥ तस्माल्लब्धात्मककर्तृव्यापारवचनानि करोत्यर्थवन्त्याख्यातानि।"–तन्त्रवा० २।२।१। (३) "नैतत्सारभ्, न प्रयोगानिरूप्यत्वात् वैयर्थ्यात् पूर्वदोषत। अप्रवृत्ते फलायोगाद् रूपोक्तेर्व्यापृति श्रुते॥"–विधिवि० पृ० १६। "असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीयसी। बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभ॥"–न्यायकु० ५।१३। (४) "सज्ञापुरस्सरा व्यापारणा प्रेषणम्, निकृष्टविषयो नियोग इत्यर्थः। यत्पुनरभ्यर्हित व्यापारयति तदध्येषणम्, अभ्यर्हितविषय प्रबोधनमित्यर्थः।"–वाक्यप० प्र० तृ० का० पृ० २५७। "प्रवर्त्यपुरुषापेक्षया ज्यायसा वक्त्रा प्रतिपाद्यमान कार्यं प्रैष इति व्यपदिश्यते। समेन आमन्त्रणम्। हीनेनाध्येषणमिति।"–प्रक० प० पृ० १८०। (५) "न हि प्रेषणाभ्यनुज्ञालक्षणा शब्दस्य व्यापारो निरूप्यते तस्य पुरुषधर्मत्वात्। न हि प्रेषणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षण शब्दस्य प्रयोगो व्यापारो निरूप्यते। ननु शब्दोच्चारणानन्तर तदवगमात्तेनोक्तमिति कथ प्रेषणादिलक्षण शब्दप्रयोगो न निरूप्यत इत्याह–तस्य पुरुषधर्मत्वात्। सत्य शब्दविज्ञानानन्तरमुपलभ्यते। न त्वसौ शब्दस्य, अभिप्रायभेदत्वात्। प्रेषणादे अचेतनत्वेन शब्देऽसम्भवात्।"–विधिवि०, टी० पृ० १६। (६) शब्दस्य अचेतनत्वात् पुरुषाभिप्रायरूपा प्रेषणादय उपचरिता एव सम्भाव्यन्ते न तु मुख्या इति। (७) प्रेषणाध्येषणादिधर्मात्मकपुरुष। (८) प्रेषणाध्येषणरूपम्। (९) "न प्रवर्तेत पुरुष, प्रवर्तयतोऽपि शब्दस्याननुरोध्यत्वात्। न हि सर्वस्मिन् प्रवर्तयितरि प्रवृत्ति प्रेक्षावताम् अपि त्वनुविधेये। न चार्थानर्थप्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारण स्वाम्यादाविव शब्दे समस्ति। फलात्प्रवृत्तौ तद्वैयर्थ्यम्।"–विधिवि० पृ० १८। (१०) अर्थानर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनानुसन्धानम्। (११) शब्दस्य। (१२) "स्यान्मत पवनादिरिव जडादि प्रेरयति पुरुषम्, तदसत्, अभिधानवैयर्थ्यात्, अप्रतीतव्यापारस्यापि वाय्वादेरिव स्वभावत प्रेरकत्वात्, पूर्वोक्तदोषापातात्च। न हि प्रवृत्तिं प्रति कारकत्वे शब्दस्य सदपि तद्व्यापाराभिधानमङ्गम्, अनभिहितव्यापारस्यापि तस्य कारकत्वात्, कारकस्यानपेक्षितज्ञानत्वात्।"–विधिवि० पृ० १८। (१३) शब्दस्य। (१४) प्रायश्चित्तावैयर्थ्यम्–आ० टि०।

---

1 हि शब्दे न तत्स–आ०, हि तच्छब्दे सभाव्यते व०। 2 न चाचेतनशब्दे आ०।

किञ्च, अस्याः[1] सद्भावे प्रमाणम् लिङादिश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्तिः, लिङादिशब्द एव वा ? न तावत्प्रवृत्तिः; तस्यास्तन्निबन्धनत्वेन क्वचिदन्यत्राऽदृष्टत्वात्। यन्निबन्धना हि प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वाऽनुमातु युक्तम्, न पुनः अप्रतिपन्नपूर्वः शब्दव्यापारविशेषः अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात्। नापि लिङादिशब्द एव तत्र प्रमाणम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्य अवाचकत्वात्। तद्ग्रहश्च तद्व्यापारविशेषलक्षणस्य सम्बन्धिनोऽनवधारणात् सिद्धः। नहि अनवधारिते सम्बन्धिनि सम्बन्धबोध सम्भवति, अतिप्रसङ्गात्।

किञ्च, शब्दः स्वव्यापार विधिज्ञानमप्यपेक्षो जनयति, अनपेक्षो वा ? न तावदनपेक्षः, विधिज्ञानस्य पुरुषप्रेरणायां करणत्वाभ्युपगमात्। अथ शब्दो विधिज्ञान जनयित्वा तत्करणानुगृहीतस्तत्प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभते, तदिदमलौकिकम्; न हि कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानम् उत्पादहेतुः लोके प्रतीतम्। यदि च शब्दः स्वव्यापार करोति अभिधत्ते च, तदा उत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्ते, युगपद्वा उत्पादयति अभिधत्ते च ? तत्र प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः, न खलु शब्दः स्वव्यापारमुत्पाद्य पश्चात्तमभिदधातीति श्राद्धिकादन्यः प्रतिपद्यते। द्वितीयपक्षोऽप्यप्रातीतिकः, नहि 'सकृदुच्चरितः शब्दः स्वव्यापारस्य कर्त्ता वक्ता च भवति' इति प्रामाणिकः प्रतिपद्यते। सिद्धे हि वस्तुनि प्रतिबन्धावगमपूर्विका वचनस्य प्रवृत्तिः प्रतीयते।

ननु लिङादिशब्दश्रवणानन्तर प्रवृत्त्याख्यकार्यस्य प्रवर्त्तितोऽहमिति प्रतिपत्तितः प्रतीतेः कथ तत्र तत्कर्तृत्वाप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तदयुक्तम्, यतो द्विविधा प्रवृत्तिः प्रती-

(१) शब्दभावनायाः। (२) प्रवृत्ते। "लिङादिशब्दानन्तरभाविनी प्रवृत्तिरेव प्रमाणमिति चेत्, तन्निबन्धनत्वेन प्रवृत्तेरन्यत्रादृष्टत्वात्। न (य) न्निबन्धना हि प्रवृत्तिर्दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वा गमयमनुमातुम्, न पुनरप्रतिपन्नपूर्वं [illegible] शब्दव्यापारविशेष।"–वाक्यार्थमा० पृ० ७७। (३) शब्दभावना–आ० टि०। (४) शब्दभावनायाः–आ० टि०। (५) "लिङादिशब्द एव प्रमाणमिति [illegible], अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्यावाचकत्वात्। अनवधारिते हि सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधस्यैवासम्भवात्।" –प्रमे० प० पृ० १७२। (६) सम्बन्धग्रहणम्। (७) पुरुषप्रवृत्तिरूपम्। (८) "स्यान्मतम् शब्दो विधिज्ञानं जनयित्वा तत्करणानुगृहीतः प्रेरणारूपं स्वव्यापारमारभत इति न [illegible] विधिज्ञानात्मकात् [illegible], तदिदमलौकिकम्, न हि कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानमुत्पादहेतुः प्रतीतम्।"–प्रमे० पृ० प० १७३। (९) विधिज्ञानम् [illegible]। (१०) पुरुषप्रेरणा। (११) तुलना–'[illegible] [illegible] चाभिधीयते च न हि पूर्वमभिधीयते ततः [illegible], पूर्वं वा [illegible] [illegible] [illegible] वा [illegible] [illegible]। न तावत् [illegible] अनुत्पन्नस्य [illegible], न [illegible] [illegible], [illegible] च [illegible] स्यात्। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]।–न्यायम० पृ० ३४५। (१२) [illegible]। (१३) शब्दे। (१४) प्रवृत्ति–आ० टि०।

१ अस्य सद्भा–[illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]।

यते–एका परवशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिणः। तत्राद्यपक्षे हठाद् यागादिकर्मणि बौद्धादेरपि प्रवृत्तिः शब्देन क्रियतां पुरुषस्वातन्त्र्याभावात्। न खलु बलवज्जलप्रभञ्जन-प्रेरितस्य स्वातन्त्र्याभावे हठात्प्रवृत्तिर्न दृष्टा 'अनिच्छन्नप्यहं प्रभञ्जनादिना प्रेरितः प्रवर्त्ते' इति प्रतीतेः। द्वितीयपक्षे तु 'येनाहं शब्देन प्रवर्त्तितः स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा' इति यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमृशति तावन्न प्रवृत्तिं विदधाति। नहि 'शब्देनाहं प्रवर्त्तितः' इति 'अवश्यं प्रवर्त्ते' इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्वसिति तत्कारित्वविरोधानुषङ्गात्। अतोऽपौरुषे-यात् काकवासितप्रख्यात् शब्दात् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात्? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः। तत्प्रणेतुः कुतश्चिदाप्ततामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिणः सद्वैद्याद्युपदे-शादिव निःशङ्क प्रवृत्तिसंभवात्। तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्न 'शब्दस्य भावना–प्रवर्त्तकत्वं शब्दभावना' इति पक्षो घटते।

अथ शब्द एव भावना; तदप्यसाम्प्रतम्, शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे घटादिशब्देष्वपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अत्राप्यविशिष्टत्वात्। तथा च "*लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययप्रत्याय्यो विधिः।*" [ ] इति वचो विरुध्यते। तदेवं शब्दभावना-स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थितेः कथं तया अर्थभावना भाव्येत? यतो 'भाव्य-निष्ठो भावकव्यापारो भावना' इति सुव्यवस्थितं स्यात्। द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्याः खपुष्पसौरभव्यावर्णनान्न विशिष्यते। तन्न भावनारूपोऽपि विधिर्घटते॥ छ॥

अपरे पुनः नियोग एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः इत्याचक्षते। तत्र चानेकधा

(१) प्रेक्षापूर्वकारी। (२) अन्यथा–शब्दमात्रे समाश्वासे प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात्। (३) "अथ मतम्–अभिधैव भावना विधिर्लिडाद्यर्थ इति, अत्रोच्यते–प्रवृत्ते सर्वतोऽर्थे वा प्रसङ्गात् कार्यतो गते। अस्थानान्नियतेर्हेतोरभावाच्चाभिधैव न॥ विधिरित्यनुषज्यते। अभिधा चेद्विधि सर्वशब्दाना यथास्वमभिधेयेषु तद्भाव इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्याविशेषात्।"–विधिवि० पृ० २१। (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य। (५) "लिङ्लोट्तव्यपञ्चमलकाराणा विधिर्वाच्य।"–न्यायसु० पृ० ५६०। "लिङ्कृत्लोट्तव्यप्रत्ययमात्रगता शब्दभावना"–जैमिनिन्या० पृ० ७५। (६) शब्द-भावनया। (७) तुलना–"यत्तावदुक्त शब्दव्यापार शब्दभावनेति; तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽनर्थान्तर-भूतोऽर्थान्तरभूतो वा?–अष्टसह० पृ० ३१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२। "या तु शब्दभावनैव लिडाद्यर्थ इति कौमारिलकुसृति सा तु प्रतीतिविसंवादादिप्रतिहता। न हि विधिवाक्यश्रावि पुरुषो लिडादि-स्वव्यापारमभिधत्ते अतो मया प्रवर्तितव्यमिति मन्यते"–न्यायपरि० पृ० ३९८। तन्त्ररह० पृ० ४८। "तस्माल्लिङादिजन्यबोधविषयाऽभिधाया इष्टसाधनत्वादिज्ञाननिरपेक्षायाः प्रवर्त्तकत्व निर्युक्तिकमेव।"–वैयाकरणभू० व० पृ० १५७। (८) प्रभाकरमतानुयायिन। (९) तुलना–"कोऽय नियोगो नाम? निशब्दो निःशेषार्थ योगार्थो युक्तिः निरवशेषो योग नियोग। निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्य-भावात्, अवश्यकर्तव्यता हि नियोग। नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रत प्रवर्तन्ते।"–प्रमाणवार्तिकालं० पृ० १४। "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योग नियोग, तत्र मनागप्य-योगाशङ्काया असंभवाभावात्।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१। अष्टसह० पृ० ५। "यदपि दर्शनम्–प्रमाणान्तरागोचर शब्दमात्रालम्बनो नियुक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेदनीय सुखादिवत् अपरामृष्टकालत्रयो

1 तन्न पौरु–ब०। 2–रूपापि श्र०, –रूपोविधि–ब०।

विप्रतिपत्ति:–केचित् लिङादिप्रत्ययार्थो नियोगः इत्यातिष्ठन्ते ।

"प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते ।
कार्य[2]रूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यम[3]सौ मतः ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २९ ।]

इत्यभिधानात् । अ[4]न्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोगः इति ब्रुवते ।

"प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।
नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं[5] प्रपद्यते ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ २९ ।]

प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः इति चापरे मन्यन्ते ।

"म[6]मेदं का[7]र्यमित्येव ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् ।
स्वसिद्धौ प्रेरकं तत्स्यादन्यथा तन्न सिद्ध्यति[8] ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

"प्रे[9]र्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित् ।
ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

लिङादीनामर्थो विधिरिति ।"–विधिवि० पृ० ४८ ।

(१) तुलना–"केषाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थं शुद्धोऽन्यनिरपेक्षः कार्यरूपो नियोगः ।"–अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (२) "शब्दान्तराणि स्वार्थेषु व्युत्पाद्यन्ते यथैव हि । आवापोद्वापभेदेन तथा कार्ये लिङादयः ॥ लिङादियुक्तवाक्यश्रवणे तद्भावभाविन्या प्रवृत्त्या विशिष्टकार्यावगमनिगमनाय तावत्तत्तावद्धेतुतामध्यवस्यति । तत्रापि कोऽर्थभागः केन शब्दांशेनाभिहित इति विवेचने लिङाद्यन्वयेन कार्यावगमनिदर्शनात् तदुद्धारे चादर्शनात् त एव कार्यावगतिं कुर्वन्तीति शब्दान्तरवत् लिङादीनां कार्यवाचकत्वव्युत्पत्तिसिद्धिः ... कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम् । प्रवृत्त्यव्यभिचारित्वाल्लिङाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ (पृ० १७९) कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्वं न युज्यते । वाक्यं तदेव हि प्राह नियोज्यविषयान्वितम् ॥'–प्रक० प० पृ० १८८ । "अतः कृत्स्नो वेदः कार्यपर एव प्रमाणम् । इदमेव कार्यं मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति, स्वात्मनि पुरुषं नियुञ्जानो नियोग इति गीयते ।'–तन्त्ररह० पृ० ६६ । "लिङादेरवगम्यमानं कार्यरूपं प्रेरणात्मा च वाक्यार्थो नियोगः ।"–न्यायम० पृ० ३५५ । (३) नियोग–आ० टि० । तुलना–"प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥ विशेषणं तु यत्तस्य किञ्चिदन्यत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥ प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्धे कार्ये नियोगता ॥" –अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २९ । (४) 'केषां शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यभिप्रायः ।"–अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । "तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग" इति पक्षे प्रेरणाया नियोज्यतास्वरूपत्वात् [illegible] [illegible] [illegible] ।–अष्टसह० यशो० पृ० ४९ A । (५) न प्रपद्यते–अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो० । (६) [illegible]–आ० टि० । (७) 'आत्मा [illegible] [illegible] ॥ [illegible] ।' –प्रक० प० पृ० १८७ । (८) [illegible] –तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (९) तुलना–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ ।

---

१ सर्व [illegible] । २–नि पुंसि कार्य–[illegible] ।

कार्यस्यैव उपचारतः प्रवर्त्तकत्वं[1] नियोगः इत्यपरे ।

"प्रेरणाविषयः कार्यं न[1] च तत्प्रेरकं स्वतः ।
व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोगः इत्यन्ये ।

"प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् ।
कार्यं[2] वा प्रेरणायोगः नियोगस्तेन[3] सम्मतः ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ०३०]

तत्समुदायो नियोगः इत्येके[3] ।

"परस्पराविनाभूतं द्वयमेतत् प्रतीयते ।
नियोगः समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥" [प्रमाणवार्तिकाल पृ० ३०]

तदुभयस्वभाव[2]विनिर्मुक्तः परमात्मस्वभावो नियोग इति केचित् ।

"सिद्धमेकं यतो ब्रह्म[4] गत[5]माम्नायतः सदा ।
सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं कुत एव तत् ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

य[6]न्त्रारूढो नियोग इत्यपरे ।

"कामी यत्रैव यः कश्चिन्नियोगे सति तत्र सः ।
विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३०]

भोग्यरूपो नियोगः इत्यपरे ।

"ममेदं भोग्यमित्येव भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्यैव व्यवस्थितम् ॥
स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं त[4]देव स्वं[7] [5]निरुच्यते ॥
साध्यरूपतया येन ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्व व्यपदिश्यते ॥
सिद्धरूपं हि यद् भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता[6] ॥"
[प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।]

पुरुष एव नियोग इति चापरे ।

"ममेदं कार्यमित्येव मन्यते पुरुषः सदा ।
पुंसः कार्यविशिष्टत्वं [8]नि[7]योगोऽस्य च वाच्यता ॥" [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० ।] इति ।

---

(१) प्रवर्तकत्वम्–आ० टि० । (२) 'कार्यप्रेरणयो योग'–तत्त्वार्थश्लो० । (३) विनियोज्यत्वम्–आ० टि० । (४) ज्ञानम्–आ० टि० । (५) ज्ञातम्–आ० टि० । (६) "यन्त्रारूढो दृष्टान्ततया यत्र स यन्त्रारूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्यर्थः ।' 'यजेत् स्वर्गकाम इत्यतो यागारूढत्वाभिमानवान् स्वर्गकाम इति बोधः ।"–अष्टसह० यशो० पृ० ४६ B. । (७) स्वस्वामिभावो ज्ञापित–आ० टि० । 'स्व निरूप्यते'–प्रमाणवार्तिकाल० । (८) 'नियोगः स्यादबाधित'–तत्त्वार्थश्लो० । "कार्यस्य सिद्धौ जातायां तद्युक्तः पुरुषः सदा । भवेत्साधित इत्येव पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥"–प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ ।

---

1 न तावत्प्रे–ब०, नचैतत्प्रे–श्र० । 2–विनिर्मुक्तपरमा–आ० । 3 इत्यन्ये श्र०, ब० । 4 तदेवस्य आ० । 5 निरध्यते आ० ब० । 6–ता इति पुरुष श्र० । 7 नियोग्यस्य श्र० ।

कुत ? **अविसंवादकत्वात्** । किमिव ? इत्याह—**उपमानवदिति** । एवं नैयायिकमीमांसकयोः प्रमाणान्तर्गतसम्प्लवं तदभिमतप्रमाणसंख्यानियमनाशकं निरूप्य इदानीं मीमांसकाभिमतार्थापत्तिं विचिन्तयन्नाह—'**अर्थापत्तिः**' इत्यादि । याऽसौ—

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथाभवन् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १]

इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमांसकैः परिकल्पितार्थापत्तिः सा '**अनुमानात् प्रमाणान्तरं नवा**' इति किन्नश्चिन्तया ? अयमभिप्रायः—अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य साध्याभावे नियमेनाऽनुपपद्यमानस्य अविनाभावस्वभावलिङ्गलक्षणलक्षितत्वात् लिङ्गत्वमेवोपपपन्नम् । तत्प्रभवञ्च ज्ञानमनुमानमेवेति । अत—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट्प्रमाणानि जैमिनेः ॥" [षड्द०समु०श्लो०७२ (?)]

इति कुमारिलस्य वदतः प्रमाणसंख्याव्याघातः, प्रभाकरस्य च अभावं प्रत्यक्षविशेषं वदतः 'पञ्च प्रमाणानि' इति ।

अर्थापत्तिः अनुमानातिरिक्तप्रमाणमिति वदतो मीमांसकस्य पूर्वपक्षः

ननु चार्थापत्तेः स्वरूपादिभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धेः कथं प्रमाणसंख्याव्याघातः ? तथा च प्रयोगः—अर्थापत्तिः प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरम्, विभिन्नस्वरूपत्वात्, यद्यतो विभिन्नस्वरूपं तत्ततः प्रमाणान्तरं यथा प्रत्यक्षादनुमानम्, प्रत्यक्षादिभ्यो विभिन्नस्वरूपा चार्थापत्तिरिति । नच विभिन्नस्वरूपत्वमसिद्धम्, तथाहि—तस्याः स्वरूपम्—दृष्टः श्रुतो वाऽ-

(१) एकत्र प्रमेये बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः सम्प्लवः । (२) व्याख्या—"यत्र देशकालादौ प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दार्थापत्त्यभावलक्षणैः षड्भिः प्रमाणैः परिच्छिन्नोऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते तथैवम्भूतोऽर्थान्तरमदृष्टं [illegible] या परोक्षार्थविषया कल्पना साऽर्थापत्तिः प्रमाणमुदाहृता शबरस्वामिना ।'—तत्त्वसं० प० पृ० ४५६ । (३) उद्धृतोऽयम्—'नान्यथा भवेत्'—मी० श्लो० । प्रश० व्यो० पृ० ५९० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१६ । सन्मति० टी० पृ० ५७८ । '[illegible]'—तत्त्वसं० पृ० ४५६ । सन्मति० टी० पृ० ५७८ । [illegible]—प्रमेयक० पृ० १८७ । स्या० र० पृ० २७६ । रत्नाकराव० २।१ । (४) [illegible]—आ० टि० । (५) [illegible]—आ० टि० । (६) [illegible] । (७) [illegible]—[illegible] शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च [illegible] ।'—तत्त्वसं० प० पृ० ४५० । (८) [illegible]—आ० टि० । (९) [illegible] ।'—प्रक० प० पृ० [illegible] । (१०) [illegible]—आ० टि० । (११) [illegible] —शाबरभा० १।१।५ । [illegible]

[illegible]

र्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना। तत्र दृष्टः[1] प्रत्यक्षादिभिः पञ्चभिः प्रमाणैरुपलब्धः, श्रुतः लौकिकाद् वैदिकाद्वा वाक्यादवगतः तस्मादनुपपद्यमानाद् या अर्थान्तरकल्पना सा अर्थापत्तिः। सा च षट्प्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तभेदात्। तत्र प्रत्यक्षप्रतिपन्नदा[2]हाख्यकार्यान्यथानुपपत्त्या वह्नेर्दाहशक्तिकल्पना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिः। देशान्तरप्राप्तेर्लिङ्गादनुमिताऽऽदित्यगत्यन्यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिकल्पना अनुमानपूर्विका। तथा उपमानज्ञानावगतगवयसा[3]रूप्यविशिष्टगोपिण्डान्यथानुपपत्त्या तस्य[4] त[1]ज्ज्ञा[5]नग्राह्यशक्तिकल्पना उपमानपूर्विका।

ता एता अर्थापत्त[6]यः प्रमाणान्तरम् अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वात्। न खलु शक्तयः प्रत्यक्षपरिच्छेद्याः अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानपरिच्छेद्याः, प्रत्यक्षाविषये अनुमानस्याऽप्रवृत्तेः त[7]त्पूर्वकत्वात्तस्य[8]। प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्र[9]तिबन्धे अनुमानं प्रवर्त्तते। न च शक्तेरतीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे त[10]तः केनचिल्लिङ्गेन सह अस्याः प्रतिबन्धप्रतिपत्तिर्युक्ता। नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां त[11]त्प्रतिपत्तिः; प्रत्यक्षाविषये त[12]त्प्रवृत्तेरेवाऽसंभवात्। नाप्यनुमानात् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः, तद्धि इदमेव, अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रवर्तेत? न तावदिदमेव, चक्रकप्रसङ्गात्–सति हि प्रतिबन्धग्रहणे अनुमानप्रवृत्तिः, तद्ग्रहणञ्च शक्तिप्रति-

रकल्पना साऽर्थापत्तिः।"–प्रक० प० पृ० ११३। "प्रमितस्यार्थस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये याऽर्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्ति।"–शास्त्रदी० पृ० २९०। **नयवि० पृ० १५२। तन्त्ररह० पृ० १३। प्रभाकरवि० पृ० ५३।**

(१) "दृष्ट. पञ्चभिरप्यस्माद् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा। प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात्पूर्वविलक्षणा॥"–**मी० श्लो० अर्था० श्लो० २।** "दृष्टशब्देन यद्यप्युपलब्धमात्रमुच्यते तथापि श्रुतशब्दसन्निधानात् गोवलीवर्दन्यायेन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमुच्यते।"–**बृह० पं० पृ० ११७। मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४५०।** (२) स्फोट–**आ० टि०।** (३) सादृश्य। (४) सारूप्यविशिष्टगोपिण्डस्य–**आ० टि०।** (५) उपमानज्ञान। (६) "शक्तयोऽपि च भावाना कार्यार्थापत्तिकल्पिता। प्रसिद्धा पारमार्थिवय प्रतिकार्यं व्यवस्थिता।"–**मी० श्लो० शून्य० श्लो० २५४।** "तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणे। कार्यादर्शनत शक्तेरस्तित्व सम्प्रतीयते। कार्यस्य ननु लिङ्गत्व न सम्बन्धानपेक्षणात्। दृष्ट्वा सम्बन्धिता चैषा शक्तिर्गम्येत नान्यथा। तद्दर्शने तदानी च प्रत्यक्षादेरसभवात्। अर्थापत्तेः प्रमाणत्व त्रैलक्षण्याद्विना भवेत्। शक्तिकल्पनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह **यत्रेति**। चोदयति **कार्यस्येति**। कारणवत्तया शक्ति कल्प्यते, कार्याच्च कारणबुद्धिरनुमानमिति। निराकरोति **नेति**। कारणमाह **सम्बन्धेति**। बीजे सत्यङ्कुरोत्पत्तिदर्शनाद् बीजकारणत्वमवगम्यते,सत्यपि तस्मिन् मूषिकाघ्राते अङ्कुरानुत्पत्तेरकारणत्व तदिद कारणाकारणत्वव्याघातपरिजिहीर्षया शक्तिकल्पनम्, सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वान्नानुमानम् इतश्च नानुमानमित्याह–दृष्ट्वेति सार्द्धेन। सम्बन्धिग्रहणपूर्वक हि सम्बन्धग्रहणम्, न च शक्ते. प्रत्यक्षग्रहण सम्भवति अतोऽवश्य सम्बन्धग्रहणवेलाया शक्तिग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्। अर्थापत्तिर्हि त्रैलक्षण्यवर्जिता शक्नोति ता ग्रहीतुमिति।"–**मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६२-६३। शास्त्रदी० पृ० ३०६।** (७) प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। (८) अनुमानस्य। (९) अविनाभावे–**आ० टि०।** (१०) प्रत्यक्षात्–**आ० टि०।** (११) अविनाभाव। (१२) अन्वयव्यतिरेक।

1 तज्ज्ञानग्राहकशक्ति–श्र०।

पत्तौ, तत्प्रतिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्प्रतिपत्ति (तत्प्रवृत्ति) श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति। अथान्यतोऽनुमानात्तत्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः, ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्या प्रवर्त्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः प्रथमानुमानात्, तदन्तराद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि द्वितीयानुमाने ततः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गात् प्रथमानुमानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अतः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षे त्वनवस्था–अनुमानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तेः अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धेः । नहि तत् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं विना स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति । शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ सम्भावनैव नास्ति, शब्दसादृश्याभ्यां विनैव तत्प्रतिपत्तिप्रतीतेः । अतः अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्वं युक्तम् ।

तथा शब्दसाधनार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या तस्य नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणात् रात्रौ भोजनकल्पना श्रुतार्थापत्तिः । नहीदं श्रूयमाणं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्; पीनादिपदानां स्वार्थप्रतिपादनपरतया रात्रिभोजनलक्षणार्थप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्तेः । अथ पदसमुदायात् तत्प्रतिपत्तिः; तन्न, अस्य अन्यार्थप्रतिपादनपरत्वात् । श्रूयमाणेन हि पदसमुदायेन देवदत्तस्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि-

---

(१) प्रथमानुमानात् । (२) अनुमानान्तरम् । (३) शक्तिप्रतिपत्तेः । (४) वाचकशक्त्यन्यथानुपपत्त्या । (५) शब्दस्य । (६) "वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थं कैश्चिदाश्रितः । तदर्थापि श्रुतस्यान्यैरिष्टो वाक्यान्तरस्य तु । न तावच्छ्रूयमाणस्य वचसोऽर्थोऽयमिष्यते । न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा । पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते । न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते । न दिवादिपदार्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम् । न भेदो येन तद्वाक्यं तस्य स्यात् प्रतिपादकम् । अन्यार्थव्यापृतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना । तस्माद्वाक्यान्तरेणायं बुद्धिस्थेन प्रतीयते । प्रमाणं तस्य वक्तव्यं प्रत्यक्षादिषु यद्भवेत् । न ह्यनुच्चारिते वाक्ये प्रत्यक्षं तावदिष्यते । नानुमानं न चेदं हि दृष्टं तेन सह क्वचित् । यदि त्वनुपलब्धेऽपि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते । तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमितिर्भवेत् । श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्प्रतिपादकत्वं केचित् प्रपन्नाः, अन्ये तु शब्दान्तरमेव तत्प्रतिपादकमिति, तत्रानन्तरपक्षं निराकरोति न तावदिति । कारणमाह–न हीति । किन्तु यदि वाक्यं वाचकं स्यात् स्यादप्यनेकार्थता न तु वाक्यं वाचकमित्याह वाचकतेति । कथं तर्हि वाक्यार्थप्रतीतिरित्यत आह–पदार्थेति । किमिति रात्रिभोजनं दिवावाक्यस्यार्थो न भवतीत्यत आह–न रात्रीति । न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदैरभिधीयन्ते, ते [illegible] तद्वाक्यार्थीभवेयुरिति । यद्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजनं दिवादिपदानां संसर्गो भेदो वा स्यात्ततोऽपि तस्यैव वाक्यस्यार्थः स्यात् न तु तदस्तीत्याह न दिवेति । यद्यपि चानेकार्थता, तथापि [illegible] तस्य नार्थान्तरसम्भवोऽस्तीत्याह–अन्यार्थेति । तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव [illegible] न तु [illegible] तस्मादिति । तस्य तु वाक्यस्य किं प्रमाणमिति विचारयितुमाह–प्रमाणमिति । [illegible] प्रमाणमिति [illegible] । [illegible] प्रमाणमिति [illegible] पूर्वेषां [illegible] न हीति ।"–मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६४–६५ । (७) दिवा न भुङ्क्ते इति निषेधपर[illegible] ।

1 अत' इति आ० । 2–[illegible]–ब०, क० ।

र्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना। तत्र दृष्टः[1] प्रत्यक्षादिभिः पञ्चभिः प्रमाणैरुपलब्धः, श्रुतः लौकिकाद् वैदिकाद्वा वाक्यादवगतः तस्मादनुपपद्यमानाद् या अर्थान्तरकल्पना सा अर्थापत्तिः। सा च षट्प्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तभेदात्। तत्र प्रत्यक्षप्रतिपन्नदाहाख्य[2]कार्यान्यथानुपपत्त्या वह्नेर्दाहशक्तिकल्पना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिः। देशान्तरप्राप्तेर्लिङ्गादनुमिताऽऽदित्यगत्यन्यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिकल्पना अनुमानपूर्विका। तथा उपमानज्ञानावगतगवयसारूप्य[3]विशिष्टगोपिण्डान्यथानुपपत्त्या तस्यै[4] तज्ज्ञान[1][5]ग्राह्यशक्तिकल्पना उपमानपूर्विका।

ता एता अर्थापत्तयः प्रमाणान्तरम् अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वात्। न खलु शक्तयः[6] प्रत्यक्षपरिच्छेद्याः अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानपरिच्छेद्याः, प्रत्यक्षाविषये अनुमानस्याऽप्रवृत्तेः तत्पूर्वकत्वात्[7]तस्य[8]। प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे[9] अनुमानं प्रवर्त्तते। न च शक्तेरतीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे ततः[10] केनचिल्लिङ्गेन सह अस्याः प्रतिबन्धप्रतिपत्तिर्युक्ता। नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्प्रतिपत्तिः[11]; प्रत्यक्षाविषये तत्प्रवृत्तेरेवा[12]ऽसंभवात्। नाप्यनुमानात् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः, तद्धि इदमेव, अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रवर्त्तेत? न तावदिदमेव, चक्रकप्रसङ्गात्–सति हि प्रतिबन्धग्रहणे अनुमानप्रवृत्तिः, तद्ग्रहणञ्च शक्तिप्रति-

रकल्पना साऽर्थापत्तिः।"–प्रक० प० पृ० ११३। "प्रमितस्यार्थस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये याऽर्थान्तिरकल्पना साऽर्थापत्ति।"–शास्त्रदी० पृ० २९०। नयवि० पृ० १५२। तन्त्ररह० पृ० १३। प्रभाकरवि० पृ० ५३।

(१) "दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा। प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात्पूर्वविलक्षणा॥"–मी० श्लो० अर्था० श्लो० २। "दृष्टशब्देन यद्यप्युपलब्धमात्रमुच्यते तथापि श्रुतशब्दसन्निधानात् गोवलीवर्दन्यायेन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमुच्यते।"–बृह० पं० पृ० ११७। मी० श्लो० न्यायर० पृ० ४५०। (२) स्फोट–आ० टि०। (३) सादृश्य। (४) सारूप्यविशिष्टगोपिण्डस्य–आ० टि०। (५) उपमानज्ञान। (६) "शक्तयोऽपि च भावाना कार्यार्थापत्तिकल्पिता। प्रसिद्धा पारमार्थिवय प्रतिकार्यं व्यवस्थिता।"–मी० श्लो० शून्य० श्लो० २५४। "तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणे। कार्यादर्शनत शक्तेरस्तित्व सम्प्रतीयते। कार्यस्य ननु लिङ्गत्व न सम्बन्धानपेक्षणात्। दृष्ट्वा सम्बन्धिता चैषा शक्तिर्गम्येत नान्यथा। तद्दर्शने तदानी च प्रत्यक्षादेरसंभवात्। अर्थापत्ते. प्रमाणत्व त्रैलक्षण्याद्विना भवेत्। शक्तिकल्पनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह **यत्रेति**। चोदयति **कार्यस्येति**। कारणवत्तया शक्ति कल्प्यते, कार्याच्च कारणबुद्धिरनुमानमिति। निराकरोति **नेति**। कारणमाह **सम्बन्धेति**। बीजे सत्यङ्कुरोत्पत्तिदर्शनाद् बीजकारणत्वमवगम्यते, सत्यपि तस्मिन् मूषिकाघ्राते अङ्कुरानुत्पत्तेरकारणत्व तदिद कारणाकारणत्वव्याघातपरिजिहीर्षया शक्तिकल्पनम्, सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वान्नानुमानम् इतश्च नानुमानमित्याह–दृष्ट्वेति मार्द्धेन। सम्बन्धिग्रहणपूर्वक हि सम्बन्धग्रहणम्, न च शक्ते प्रत्यक्षग्रहण सम्भवति अतोऽवश्य सम्बन्धग्रहणवेलायां शक्तिग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्। अर्थापत्तिर्हि त्रैलक्षण्यवर्जिता शक्नोति ता ग्रहीतुमिति।"–मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६२-६३। शास्त्रदी० पृ० ३०६। (७) प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। (८) अनुमानस्य। (९) अविनाभावे–आ० टि०। (१०) प्रत्यक्षात्–आ० टि०। (११) अविनाभाव। (१२) अन्वयव्यतिरेक।

1 तज्ज्ञानग्राहकशक्ति–श्र०।

पत्तौ, तत्प्रतिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्प्रतिपत्ति (तत्प्रवृत्ति) श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति। अथान्यतोऽनुमानात्तत्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः, ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवर्त्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः प्रथमानुमानात्, तदन्तराद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रय.– सिद्धे हि द्वितीयानुमाने ततः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गात् प्रथमानुमानसिद्धि, तत्सिद्धौ च अतः प्रसिद्धप्रतिबन्धाल्लिङ्गाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षे त्वनवस्था–अनुमानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तेः अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धेः । नहि तत् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं विना स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति । शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ संभावनैव नास्ति, शब्दसादृश्याभ्यां विनैव तत्प्रतिपत्तिप्रतीतेः । अतः अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्वं युक्तम् ।

तथा शब्दसाधनार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या तस्य नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्ति. ।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणात् रात्रौ भोजनकल्पना श्रुतार्थापत्तिः । नहीदं श्रूयमाणं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्, पीनादिपदानां स्वार्थप्रतिपादनपरतया रात्रिभोजनलक्षणार्थप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्तेः । अथ पदसमुदायात् तत्प्रतिपत्तिः; तन्न; अस्य अन्यार्थप्रतिपादनपरत्वात् । श्रूयमाणेन हि पदसमुदायेन देवदत्तस्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि-

(१) प्रथमानुमानात् । (२) अनुमानान्तरम् । (३) शक्तिप्रतिपत्ते. । (४) वाचकशक्त्यन्यथानुपपत्त्या । (५) शब्दस्य । (६) "वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थ. कैश्चिदाश्रितः । तदर्थोपप्लुतस्यान्यैरिष्टो वाक्यान्तरस्य तु । न तावच्छ्रूयमाणस्य वचसोऽर्थोऽयमिष्यते । न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा । पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते । न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते । न दिवादिपदार्थाना संसर्गो रात्रिभोजनम् । न भेदो येन तद्वाक्य तस्य स्यात् प्रतिपादकम् । अन्यार्थव्यापृतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना । तस्माद्वाक्यान्तरेणाय बुद्धिस्थेन प्रतीयते । प्रमाणं तस्य वक्तव्य प्रत्यक्षादिषु यद्भवेत् । न ह्यनुच्चारिते वाक्ये प्रत्यक्ष तावदिष्यते । नानुमान न चेद हि दृष्ट तेन सह क्वचित् । यदि त्वनुपलब्धेऽपि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते । तदुच्चारणमात्रेण सर्ववाक्यमितिर्भवेत् । श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्प्रतिपादकत्व केचित्कल्पयन्ति, अन्ये तु शब्दान्तरमेव तत्प्रतिपादकमिति, तत्रानन्तरपक्ष निराकरोति न तावदिति । कारणमाह–न हीति । किञ्च यदि वाक्य वाचक स्यात् स्यादप्यनेकार्थता न तु वाक्य वाचकमित्याह वाचकतेति । कथ तर्हि वाक्यार्थप्रतीतिरत आह–पदार्थेति । किमिति रात्रिभोजन दिवावाक्यस्यार्थो न भवत्यत आह–न रात्रीति । न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदैरभिधीयन्ते, ते कथमन्वितत्वेनवा [illegible]वाक्यार्थीभवेयुरिति । यद्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजन दिवादिपदाना संसर्गो भेदो वा स्यात्ततोऽपि तन्स्यैव वाक्यस्यार्थ स्यात् न तु तदस्तीत्याह न दिवेति । यद्यपि चानेकार्थता, तथापि एकस्मिन् प्रयोगे व्यापृतस्य नार्थान्तर सभवतीत्याह–अन्यार्थेति । तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव [illegible] न तु श्रुतस्येत्याह तस्मादिति । तस्य तु वाक्यस्य किं प्रमाणमिति विचारणीयमित्याह–तस्येति । [illegible] तदपि वाक्यार्थत्वादागमिक न निष्प्रमाणक तथापि तदेव वाक्य किं प्रमाणकमिति [illegible] । [illegible]र्थापत्तिरेव प्रमाणमिति वक्तु पूर्वेषा तावदसम्भव दर्शयितुमाह न हीति ।'–मी० श्लो० अर्थापत्तिर० पृ० ४६४–६५ । (७) दिवा न भुङ्क्ते इति निषेधार्थप्रतिपादनपरत्वात् ।

1 अत' नास्ति आ० । 2–र्थप्रतीत्यन्य–आ०, ब० ।

भोजनविधिः, विधिप्रतिषेधयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधतो मिथः ससर्गाभावात्। न[1] चान[2]न्वितस्य पदार्थसमुदायस्य वाक्यार्थता दृष्टेष्टा वा, प्रतीतिविरोधात्। नापि त[1]था[3]विधे पदसमुदाये अभिधा[4]त्री तात्पर्यशक्तिर्वाऽस्तीति। अतः अर्थापत्तित एव रात्रिभोजनलक्षणोऽर्थः प्रतीयते इति प्रमाणान्तरं श्रुतार्थापत्ति. सिद्धा। तदुक्तम्–

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्दाहाद् दहनश[2]क्तिता। वह्नेरनुमितात् सूर्ये यानात्त[6]च्छक्तियोगिता॥
गव[7]योपमिताया गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता। अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्याऽवबोधितात्॥
[8]शब्दे वाचकसामर्थ्यात् तन्नि[9]त्यत्वप्रमेयता। [10]अभिधा नान्यथा सिद्धेरिति वाचकश[4]क्तिता॥
अर्थापत्त्यावगम्यैव त[11]दन्यत्व (दनन्य) गतेः पुनः। अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः॥
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मि[12]न्नभिधास्यते।'' [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३–७]

''पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रु[5]तौ। रात्रिभोजनविज्ञान [13]श्रुतार्थापत्तिरुच्यते॥''
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१] इति।

अभावार्थापत्तेस्तु लक्षणम्–

''प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात्। गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह द[14]र्शिता॥
तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत्।'' [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८–९] इति।

---

(१) मा भूत्ससर्ग को दोष इत्याह–आ० टि०। (२) ससर्गरहितस्य। (३) अन्यार्थप्रतिपादनतत्परे। (४) साक्षात् शक्ति। (५) लक्षणा। (६) गमनशक्ति–आ० टि०। 'ज्ञानाद्दाहाद्दहनशक्तता। वह्नेरनुमिता सूर्ये यानात्तच्छक्तियोग्यता॥''–मी० श्लो०। स्या० र० पृ० २७८। उद्धृतोऽयम्–**तत्त्वस०** पृ० ४५७। **प्रमेयक०** पृ० १८८। **सन्मति० टी०** पृ० ५७९। (७) 'गवयोपमिता या गौस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता'–**मी० श्लो०**। 'ग्राह्यशक्तता'–**स्या० र० पृ०** २७८। उद्धृतोऽयम्–**प्रमेयक०** पृ० १८८। **सन्मति० टी०** पृ० ५७९। तुलना–''गवयोपमिता या गौस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तता। उपमाबलसभूतसामर्थ्येन प्रतीयते॥''–**तत्त्वस०** पृ० ४५९। (८) 'शब्दे बोधकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम्'–**मी० श्लो०**। (९) तस्य शब्दस्य नित्यत्वेन प्रमेयत्व परिच्छेद्यत्वम्–**आ० टि०**। उद्धृतोऽयम्–**प्रमेयक०** पृ० १८८। **सन्मति०** टी० पृ० ५७९। **स्या०** र० पृ० २७८। (१०) ''अभिधा नान्यथा सिद्ध्येदिति वाचकशक्तताम्। अर्थापपत्त्यावगम्यैव तदनन्यगते पुन॥''–**मी० श्लो०**। ' अर्थापत्त्यावगम्यैव '–**तत्त्वस०** पृ० ४५९। ' वाचकशक्तता। अर्थापत्त्यावगम्यैव '–**स्या०** र० पृ० २७८। प्रकृतपाठ–**प्रमेयक०** पृ० १८८। ''अभिधानमभिधा अर्थप्रतिपादनमिति यावत्। सा शब्दस्य अन्यथा–वाचकशक्त्या विना न सिद्ध्येदित्येव बोधकशक्तताम्, अवगम्य बुद्ध्वा, तदनन्यगते तस्या बोधकशक्तेरन्या गतिर्नास्ति शब्दनित्यत्वमन्तरेणेति। पुनरर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दस्य नित्यत्वनिश्चय।''–**तत्त्वस०** पृ० ४५९। (११) एकया अर्थापत्त्या वाचकशक्तिमवगम्य अन्यया शब्दस्य नित्यत्व निश्चिनुयात् प्रमाता–आ० **टि०**। (१२) मीमासासूत्रे। (१३) 'शब्दार्थापत्तिरुच्यते'–**स्या०** र० पृ० २७८। उद्धृतोऽयम्–**तत्त्वस०** पृ० ४५७। **प्रमेयक०** पृ० १८८। **सन्मति० टी०** पृ० ५७९। (१४) 'वर्णिता'–**तत्त्वस०** पृ० ४६०। उद्धृतोऽयम्–**प्रमेयक०** पृ० १८९। **सन्मति० टी०** पृ० ५७९। **स्या०** र० पृ० २७८। व्याख्या–''प्रत्यक्षादे प्रमाणस्याभावेन निवृत्त्या निर्णीतो निश्चितो यश्चैत्राभावः तेन विशोषिताद् गेहात् इह गृहे चैत्रो नास्तीत्यत चैत्रस्य जीवने सति या बहिर्भावसिद्धि

---

1 **तथाविधपद**–श्र०। 2–**शक्तता** ब०। 3–**स्याविबोधि**–आ०, ब०। 4–**शक्तता** ब०, श्र०। 5–**श्रुते.** ब०।

[1]जीवतो हि चैत्रस्य गृहेऽभावमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभावपूर्विका अर्थापत्तिः। अथ दृष्टेन अदृष्टसिद्धेः अनुमानमेवेयमित्युच्यते, तन्न, तत्सामग्र्यभावात्। पक्षधर्मतादिसामग्र्या हि यद्विज्ञान जन्यते तदनुमान प्रसिद्धम्, सा चेह नास्ति। तथाहि–बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहिर्भावे अनुमेये कस्य हेतुत्वम्–किं गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावविशिष्टस्य वा गृहस्य, गृहे चैत्राभावस्य वा, गृहे चैत्रादर्शनस्य वा [2] तत्र नैतेषां मध्ये अन्यतमोऽपि हेतुर्घटते, पक्षधर्मत्वाभावात्। नह्येते चैत्रधर्माः तद्बहिर्भावधर्मा वा।

किञ्च, प्रमेयानुप्रवेशप्रसङ्गात् नेयमनुमानम्; तथाहि–आगमावगतजीवनस्य

बहिश्चैत्रो विद्यते इत्येव निश्चयरूपा, इह भाष्ये वर्णिता शबरस्वामिना, तदन्यासामर्थापत्तीनामुपलक्षणार्थमुदाहृतेति यावत्। यथा जीवति देवदत्ते गृहेऽदर्शनेन बहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनेति।"–**तत्त्वस० प० पृ० ४६०।**

(१) पक्षधर्मतादिसामग्री। (२) "पक्षधर्माद्यनङ्गत्वाद् भिन्नैवाप्यनुमानत । बहिर्देशविशिष्टेऽर्थे देशे वा तद्विशेषिते। प्रमेये यो गृहाभाव पक्षधर्मस्त्वसौ कथम् ॥ तदभावविशिष्ट तु गृह धर्मो न कस्यचित्। गृहाभावविशिष्टस्तु तदासौ न प्रतीयते ॥ गम्यते तु गृह तत्र न च चैत्रः प्रतीयते। न चाप्यदर्शन हेतुर्यथाऽभावेऽभिधास्यते ॥ तेन वेश्मन्यदृष्टत्वादिति हेतुर्न कल्प्यते। अदर्शनादभावे च प्रमेयस्यावधारिते ॥ बहिर्भावमतिर्नासौ तेनादर्शनहेतुका। चैत्राभावस्य हेतुत्व गेहेऽभावश्च सम्भवन् ॥ पक्षधर्मत्व तावन्निराकरोति **बहिरिति।** गृहगतो ह्यभावो न देवदत्तस्य बहिर्देशस्य वा धर्म, अभावविशिष्ट तु गृह न कस्यचिद्धर्म इत्याह **गृहाभावेति।** असौ देवदत्तो बहिर्देशो वेति। कथमित्याह **गम्यते इति।** चैत्रग्रहणमुपलक्षणम्, गृहमेव गम्यते न चैत्रो बहिर्देशो वा। न चानवगतस्य धर्मावगति सम्भवतीति। यदि तु चैत्रादर्शन हेतुरित्युच्यते अत आह **न चेति।** यथा ह्यभावेऽनुमेये लिङ्गत्वमभावस्य न सम्भवति तथाऽपि पक्षधर्मत्वाभावादेव। इतश्च नादर्शनस्य हेतुत्वमित्याह–**अदर्शनादिति।** अदर्शनादभावेऽवगते पश्चादुपजायमाना बहिर्भावमतिर्नादर्शननिमित्ता भवितुमर्हतीति नाभावस्य लिङ्गत्व न च तस्य पक्षधर्मता इत्याह **चैत्राभावस्येति।**"–**मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४५४–५५। तुलना–न्यायम० पृ० ३७।** (३) प्रथमहेतुद्वयापेक्षया–आ० टि०। (४) द्वितीयहेतुद्वयापेक्षया–आ० टि० (५) प्रमेयस्य साध्यस्य हेतुग्रहणकाल एव अनुप्रवेश ज्ञानम्। "जीवनश्च गृहाभाव पक्षधर्मोऽत्र कल्प्यते। तत्सविधिर्बहिर्भाव न चायुद्ध्वोपजायते ॥ अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते। न तद्ग्रहणवेलायामग्न्यधीन हि किञ्चन ॥ गेहाभावस्तु य शुद्धो विद्यमानत्ववर्जित । न मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्बहिर्वृत्तेर्न साधक ॥ विद्यमानत्वसंस्पृष्टगृहाभावधियाऽनया। गेहाद्बहिर्नि[illegible]श्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि ॥ गेहाभावत्वमात्र तु यत्त्वनन्य प्रतीयते। न तावता बहिर्भावश्चैत्रस्यैवावधार्यते ॥ सिद्धे सद्भावविज्ञाने गेहाभावधियाऽत्र तु। गेहाद्बहि[illegible] सत्ता बहि[illegible]वतिष्ठते ॥ तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारो मृतादिना। यस्य त्वस्तित्व[illegible] न ततोऽन्यत्प्रतीयते ॥ तस्मात् प्रत्यक्षतो गेहे चैत्राभावे [illegible] । [illegible] तदेवेद बहि स्थितम् ॥ पक्षधर्म[illegible] बहिर्भाव प्रवेश[illegible] । [illegible] स्यात् पक्षधर्मा[illegible] ॥ [illegible] बहि [illegible] । [illegible] भवेत्। [illegible] प्रमेयानुप्रवेशिना। [illegible] न ॥ [illegible] देन विशिष्टस्य [illegible] प्रवेशिन इति। [illegible]–पक्षधर्मेति।

1 जीवतोऽस्य हि ब०। 2 चैत्रस्य विशिष्टे बहिर्भावे ब०। 3 गृहे चैत्राभावस्य वा' नास्ति ब०

चैत्रस्य गृहाभावेन बहिर्भावः कल्प्यते, अन्यथा मृतेन अनेकान्तः स्यात्। अभावश्च गृहीतः, सन्नं बहिर्भावमवगमयति नागृहीतो धूमवत्। अभावग्रहणञ्च सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाभावपूर्वकम्। इह च सदुपलम्भकमस्त्येव जीवनग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम्, सति तस्मिन् कथमभावग्रहणं प्रवर्त्तेत इति? प्रवर्त्तमानमेव एतत्सदुपलम्भकं प्रमाणं पृथग्विषयमवस्थापयति। जीवनं हि अस्तित्वम्, आगमात् सामान्यतो यत्तस्य प्रतिपन्नं तद् गृहेऽभावं परिच्छिन्दता प्रमाणेन स्वविषयादन्यत्र सङ्कोच्यते 'बहिरस्य भावः गृहे त्वभावः' इति। तेन जीवतो गृहेऽभावलक्षणसाधनप्रतिपत्तेः बहिर्भावलक्षणसाध्यप्रतिपत्तिपूर्वकत्वसिद्धेः सिद्धः प्रमेयानुप्रवेशः, अतः नेयमनुमानम्। नहि वह्न्याद्यनुमाने धूमादिलिङ्गग्रहणसमये अनुमेयप्रतिपत्तिः प्रतीता, धूमादिग्रहणोत्तरकालं तत्प्रतिपत्तिप्रतीतेः। ननु अर्थापत्तावपि प्रमेयानुप्रवेशो दोषः समान एव, सत्यमेव तत्; तथापि प्रमाणद्वयसमर्पितैकवस्तुविषयभावाभावसमर्थनार्थं प्रवर्त्तमाना अर्थापत्तिः परामृशत्येव प्रमेयद्वयम्, अन्यथा तत्सङ्घटनायोगात्। अतश्च येयम् आगमादनियतदेशतया क्वचिदस्तीति संवित्तिरभूत् सैवेयं गृहाभावे गृहीते 'बहिरस्ति' इति संवित् संवृत्ता। तदतो वैलक्षण्यात् नानुमानमर्थापत्तिः।

सम्बन्धग्रहणाभावाच्च। भावाभावौ हि न युगपद् वह्नि-धूमवद् एकत्रेन्द्रियप्रभ-

नन्वर्थापत्तावपि तुल्योऽयं दोषः, तत्रापि हि गृहाभावमात्रं मरणेनाप्युपपन्नं न बहिर्भावं कल्पयति, विद्यमानत्वसंसृष्टस्तु कल्पयेत्, स त्वनवगते बहिर्भावे न शक्यतेऽवगन्तुम्, नचानवगतः कल्पको भवति, तदवगमे च प्रमेयाभावः स्यादत आह-अन्यथेति। अन्यथानुपपत्तिरूपे प्रमाणान्तरे योऽयं विद्यमानत्वसंसृष्टगेहाभावबुद्धावेव प्रमेयस्य बहिर्भावस्यानुप्रवेशः स न दोषः। कस्मात्? ताद्रूप्येणैव ज्ञानात्। ईदृग्रूपमेव हि एतत्प्रमाणं यदर्थद्वयस्यासत्यर्थान्तरे मिथः प्रतिघातेनासम्भवमालोच्य अर्थान्तरकल्पनया प्रतिघातं परिहृत्य सम्भवतीत्यत एव विलक्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणान्तरत्वम् अनुपपत्तिरिति चावगतस्यार्थान्तरेण प्रतिघातश्चोच्यत इति।"-मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४५५-७७। शास्त्रदी० पृ० २९७। तुलना-न्यायम० पृ० ३७।

(१) केवलेन गृहाभावेन यदि बहिर्भावः कल्प्येत। (२) जीवित्वग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम्। (३) न हि निर्विषयं प्रमाणं भवति, एवं च भावो गृहीतो नाभावस्तत्कथं स हेतुः, भाववदस्यापि साध्यत्वात्-आ० टि०। (४) चैत्रस्य। (५) अभावप्रमाणेन। (६) गृहलक्षणात्। (७) बहिः। (८) वह्नि। (९) जीवति चैत्र इति आगमाख्यं प्रमाणम्, गृहे च नास्तीत्यभावप्रमाणम्, तत्समर्थनार्थं बहिरस्तीत्यर्थापत्तिः प्रवर्त्तते अन्यथा प्रमाणद्वयस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्-आ० टि०। आगमप्रमाणेन हि चैत्रस्य भावो विषयीकृतः अभावप्रमाणेन च तस्याभाव इति, अतः चैत्रविषयकसद्भावाभावयोः अविरोधस्थापनार्थम् अर्थापत्तिः प्रवर्तते, सा च चैत्रो गृहे नास्ति बहिरस्ति इति प्रमेयद्वयं परामृशति (१०) अर्थापत्तिं विना। (११) भावाभावयो-आ० टि०। भावाभावयोः संघटनस्य अविरोधस्य अयोगात् अभावापत्तेः। (१२) नेयमनुमानमिति गतेन सम्बन्धः। (१३) "गृहाभावबहिर्भावौ न च दृष्टौ नियोगतः। साहित्ये तु प्रमाणञ्च तयोरन्यन्न विद्यते॥"-मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३१। तुलना-न्यायमं० पृ० ३७।

1 सच आ०, ब०। 2 जीवग्राह्याग-आ०, ब०। 3 वर्त्तमा-श्र०। 4 बहिर्भावलक्ष्यसाध्य-ब०। 5 एवासत्यमेतत् ब०। 6 योऽयम् श्र०। 7-ग्रहणाभावाभावाच्च श्र०।

वप्रत्यये प्रतिबद्धतया बोद्धुं शक्यौ, गृहाभावस्य हि व्याप्यत्वे बहिःसद्भावो व्यापक., स च प्रत्यक्षेण अर्वाग्दर्शिभिः साक्षात्कर्तुमशक्य· अनन्तदेशवृत्तित्वात । ननु कश्चिद् द्वारि स्थितः कस्यचिद् देवदत्तादेः भावाभावौ गृह्णाति–'यदा एतस्य गृहेऽभावः तदा अन्यत्र सद्भावः' इत्येवं व्याप्तिग्रहणोत्तरकाल चैत्रादेर्निश्चितजीवनस्य गृहेऽभावाद् बहिःसद्भावो निश्चीयते, सत्यम; तथाप्यनुमानादस्या वैलक्षण्यम्–तत्र हि सामान्येन अनियतदेशेन व्यापकेन सम्बन्धग्रहे सति उत्तरकाल पक्षधर्मतानिश्चयसमये व्यापकस्य नियतदेशतया प्रतिपत्तिः, अत्र तु वैपरीत्यम् । नहि गृहेऽभावात नियतदेशतया चैत्रः प्रतीयते । यादृश एव हि व्याप्तिकाले तादृश एव प्रयोगकालेऽप्यनियतदेशोऽसौ प्रतीयते ।

किञ्च, गृहद्वारवर्त्तिनो गृहेऽभावस्य बहिःसद्भावेन सम्बन्धग्रहे गृहे चैत्रसद्भावेन बहिस्तदभावसाधने कथं सम्बन्धग्रहः स्यात् ? तदुक्तम्–

''नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः सङ्गतिग्रह. ।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेषं भविष्यति ॥' [न्यायम० पृ० ३८]

न खलु गृहे चैत्रस्य सद्भावाऽन्यथानुपपत्त्या देशान्तरेषु तन्नास्तित्वावसाये गृहे तत्सद्भावस्य देशान्तरे तन्नास्तित्वेन अध्यक्षत. सम्बन्धग्रहो घटते, देशान्तराणामानन्त्यात । कथमेव धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चयः इति चेत ? किं तेन गृहीतेन प्रयोजनम ? धूमज्वलनयो अन्वयग्रहणसम्भवे व्यतिरेकग्रहणे तात्पर्याऽसम्भवात । नहि भूयोदर्शनसुलभनियतज्ञानसम्पाद्यमानसाध्याधिगमैर्निर्वृत्तचेतसाम् अनग्निव्यतिरेकनिश्चयेन किञ्चित प्रयोजन साध्याधिगमस्य सम्पन्नत्वात ? इह पुन अन्वयाधिगमसमय एव गम्यधर्मस्य

(१) गृहद्वारि स्थितो यस्तु वहिर्भाव प्रकल्पयेत् । यदैवास्मिन्नय दृष्टो न तदाऽन्यत्र विद्यते ॥ तदाप्यनियमानत्व न सर्वत्र प्रतीयते । न चैकदेशे नास्तित्वाद् व्याप्तिर्हेतोर्भविष्यति ।'–मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३४–३५ । (२) अनुमाने हि । (३) प्रयोगकाले । (४) अग्ने । (५) पर्वतादिस्थतया–आ० टि० । (६) अर्थापत्तौ । (७) अपि तु वहि यत्र कुत्रापि [illegible] । (८) 'गृहद्वारवर्तिनः'–न्यायम० । (९) 'भावेन भावसिद्धौ–न्यायम० । (१०) सम्ब[illegible] । (११) [illegible] । (१२) व्याप्यभूत । (१३) "ननु चान्वयग्रभावेऽपि धूमादिर्गमकः [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] प्रमेयत्वस्य दुर्लभं । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । –मी० श्लो०, न्यायम० पृ० ४६० । (१४) अनग्निप्रदेशात् [illegible]–आ० टि० । (१५) [illegible] । (१६) [illegible] (१७) [illegible]–आ० टि० ।

[illegible] ।–निरवयवग्रहण–[illegible] । [illegible]–निवृत्ते–[illegible] । [illegible] ।

दुरधिगमत्वमुक्तम् अनन्तदेशवृत्तित्वात् । अथ अनुपलब्ध्या[1] तन्निश्चयः[2]; तन्न; गृहव्यतिरिक्तसकलदेशवर्तिनः तदभावस्य नियतदेशया[1] अनुपलब्ध्या निश्चेतुमशक्यत्वात् । [2]तेषु[3] तेषु देशान्तरेषु गत्वा अनुपलब्ध्या तदभावः; इत्यप्यसुन्दरम्, यतः–

"गत्वा गत्वापि तान् देशान् नास्य जानासि[4] नास्तिताम् ।
कौशाम्ब्यास्त्वयि निष्क्रान्ते तत्प्रवेशोभिशङ्कया[5] ॥" [न्यायम० पृ० ३८]

तस्माद्भूमिरियम[6]सर्वज्ञानाम् । अतो नियतदेशोपलभ्यमानपरिमित[7][3]परिमाणपुरुषशरीराऽन्यथानुपपत्त्यैव तदितरसकलदेशनास्तित्वाऽवधारण तस्य[8] इत्यर्थापत्त्यैव तत्र[9] तद्भावनिश्चयः इति ॥छ॥

अर्थापत्तेः अनुमानप्रमाणे अन्तर्भावसमर्थनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[10]–'दृष्टः श्रुतो वा' इत्यादि; तत्र दृष्टः श्रुतो वाऽर्थः स्वसाध्येन[11] सम्बद्धः, असम्बद्धो वा तं कल्पयति ? यदि असम्बद्धः; कथं तत्कल्पनाकारणम् ? नहि यत्किञ्चिद् दृष्ट्वा यः कश्चिदर्थः कल्पयितुं शक्यः अतिप्रसङ्गात् । अथ सम्बद्धः, तर्हि अतो[12] जायमाना

(१) यत्र नोपलभ्यते तत्र नास्ति चैत्र –आ० टि० । (२) व्यतिरेकमुखेन सम्बन्धनिश्चय । "नन्वेवमितरत्रापि सम्बन्धोऽनुपलब्धित । चैत्राभावस्य भावेन दृष्टत्वादुपपद्यते ॥ साहित्ये मितदेशत्वात्प्रसिद्धे चाग्निधूमयो । व्यतिरेकस्य चादृष्टेर्गमकत्व प्रकल्प्यते ॥ इह साहित्यमेवेदमेकस्य सहभाविन । अनन्तदेशवर्तित्वान्न तावदुपपद्यते ॥"–**मी० श्लो० अर्था० श्लो० १–४३** । (३) "नन्वत्राविद्यमानत्व गम्यतेऽनुपलब्धित । सा चाप्रयत्नसाध्यत्वादेकस्थस्यैव सिद्ध्यति ॥ नैतयाऽनुपलब्ध्याऽत्र वस्त्वभाव प्रतीयते । तद्देशाऽगमनान् सा हि दूरस्थेष्वस्ति सत्स्वपि ॥ गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते । ततोऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥"–**मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३६–३८** । (४) 'जानामि'–**न्यायम०** । (५) 'शादिशङ्कया'–**न्यायमं०** । (६) अनुपलब्धि । (७) चैत्रस्य । (८) बहि । (९) चैत्राभावनिश्चय । (१०) **पृ० ५०५ प० १८** । (११) रात्रिभोजनादिना–**आ० टि०** । तुलना–"एषा विचार्यमाणा तु भिद्यते नानुमानत ॥ प्रतिबन्धाद्विना वस्तु न वस्त्वन्तरबोधकम् । यत्किञ्चिदर्थमालोक्य न च कश्चित्प्रतीयते ॥ प्रतिबन्धोऽपि नाज्ञात प्रयाति मतिहेतुताम् । न सद्योजातबालादेरुद्भवन्ति तथा धिय ॥ न विशेषात्मना यत्र सामान्यज्ञानसम्भव । तत्राप्यस्त्येव सामान्यरूपेण तदुपग्रह ॥"–**न्यायम० पृ० ४१** । "अर्थापत्तेरप्यनुमान एवान्तर्भावोऽविनाभावबलेनार्थप्रतिपत्तिसाधनत्वात् । अन्यथा नोपपद्यते इत्युक्ते सत्येवोपपद्यत इति लभ्यते । अयमेवाविनाभाव इति ।" –**न्यायसा० पृ० २२** । "अर्थापत्त्युत्थापकोऽर्थोऽन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगत, अवगतो वाऽदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्त स्यात् ?"–**प्रमेयक० पृ० १९३** । **स्या० र० २८३** । (१२) दृष्टात् श्रुतादर्थात्–आ० टि० । तुलना–"दर्शनार्थादर्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव श्रवणादनुमितानुमानम् ।"–**प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२३** । **प्रश० व्यो० पृ० ५९०** । "शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसभवानर्थान्तरभावान्चाप्रतिषेध ।"–**न्यायसू० २।२।२**। " प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमान तथा चार्थापत्तिसभवाभावा । वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव ।"–**न्यायभा० २।२।२**। "कथमर्थापत्तिरनुमानेन सगृह्यते ? द्वयोरेकतरप्रतिषेधस्य द्वितीयाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् । यत्र यत्र द्वयोर्वस्तुनोरेकतरद्वस्तु प्रतिषिध्यते तत्र तत्र द्वितीयाभ्यनुज्ञा दृष्टा, यथा दिवा न भुङ्क्ते इत्यभिधानात् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते ।"–**न्यायवा० पृ० २७६** । **न्यायली० पृ० ५७** ।

1 **नियतदेशतया** व०, श्र० । 2 **तेषु देशान्त**–आ०, श्र० । 3–**तमानो पु**–श्र० ।

न्तराद्वा प्रतीयेत ? न तावद् भूयोदर्शनात्[1], शक्तेरतीन्द्रियतया भूयोदर्शनाऽसंभवात्। नापि विपक्षेऽनुपलम्भात्, तस्यापि उपलब्धियोग्येष्वेवार्थेषु सम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुत्वात्[1]। नापि अर्थापत्त्यन्तरात्; अनवस्थाप्रसङ्गात्। कथं तर्हि साध्यसाधनयोः सम्बन्धप्रतिपत्तिर्भवतोऽपीति चेत् ? ऊहाख्यप्रमाणान्तरात्[2]। अस्माकं तदभ्युपगमे को दोषः इति चेत् ? प्रमाणसंख्याव्याघातः, तथा *"प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमानं प्रवर्त्तते"* [ ] इत्यादि[2]ग्रन्थविरोधश्च, सर्वत्र ऊहाख्यप्रमाणादेव सम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः। न खलु तस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति येन शक्तेरतीन्द्रियतया केनचिल्लिङ्गेन सह सम्बन्धाऽप्रतिपत्तेः अनुमानतोऽप्रतिपत्तिः स्यात्।

यदपि–'प्रत्यक्षप्रतिपन्नदाहाख्यकार्यान्यथानुपपत्त्या' इत्यादि प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तेर्लक्षणमुक्तम्[2]; तत्र अनुपपत्तिस्वरूप वक्तव्यम्–किं साध्येन[3] विना स्फोटादेरभावः अनुपपत्तिः, प्रमाणविरोधो वा ? प्रथमपक्षे[4] तेन विना नोपपद्यते इति व्यतिरेकभणितिः, व्यतिरेकश्च प्रतीयमानः 'तस्मिन् सति उपपद्यते' इत्यन्वयमाक्षिपति, अन्वयव्यतिरेकौ च लिङ्गस्यैव गमकस्य धर्माविति कथमर्थापत्तिरनुमानादतिरिच्येत ? प्रमाणविरोधोऽपि बाध्यबाधकभावान्नान्यः। तथा च शुक्तिकायां रजततदभावग्राहिणोर्विज्ञानयोः बाध्यबाधकभावे सति रजतान्यथानुपपत्त्या अर्थान्तरकल्पनानुषङ्गः[3] स्यात्, तल्लक्षणाया[5] अनुपपत्तेरत्राप्यविशेषात्।

किञ्च, प्रमाणयोः परस्परप्रतिबन्धकत्वे सति अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते[4], ते च वक्तव्ये। ननु किमत्र वक्तव्यं सुप्रसिद्धत्वात् ? तथाहि–'स्फोटस्वरूपं तावद् अध्यक्षं परिच्छिनत्ति', 'न च तस्य दृष्टं[5] कारणं[6] संभवति, कारणान्तरञ्च[7] नोपलभ्यते, कारणाभावे च कार्याभावो दृष्टः, अतः कारणाभावाख्यलिङ्गप्रभवानुमानात् तस्याभावः[8] प्राप्तः' इत्येव प्रमाणद्वय[9]विघटनायां तत्सङ्घटनात्मिका तयोर्विषयभेदं दर्शयन्ती अर्थापत्तिः प्रवर्त्तते। स्फोटज्ञानं हि स्फोटविषयम्, कारणाभावानुमानञ्च परिदृश्यमानकारणनिबन्धनकार्याभावविषयमिति, तदप्यसमीचीनम्; यतः कारणाभावोऽत्र कार्याभावनिश्चये[6] लिङ्गम्, स च निश्चितः, अनिश्चितो वा तल्लिङ्गं स्यात् ? न तावदनिश्चितः, वाष्पादेरपि धूमादि-

(१) तुलना–"भूयोदर्शनगम्या च व्याप्ति"–मी० श्लो० अनु० श्लो० १२। (२) पृ० ५०६ प० ४। (३) दहनशक्त्या। (४) तुलना–"तेन विना नोपपद्यते इति च व्यतिरेकभणितिरियम्, व्यतिरेकश्च प्रतीत तस्मिन् सत्युपपद्यते इत्यन्वयमाक्षिपति, अन्वयव्यतिरेकौ च गमकस्य लिङ्गस्य धर्म इति च कथमर्थापत्तिर्नानुमानम्।"–न्यायम० पृ० ४१। (५) प्रमाणविरोधलक्षणाया। (६) वह्निरूपम्–आ० टि०। (७) शक्तिरूपम्–आ० टि०। (८) स्फोटस्य–आ० टि०। (९) स्फोट प्रत्यक्षेण तावत्स्फोटसद्भाव आवेदित, शक्तिरूपकारणाभावानुमानेन तु स्फोटाभावोऽनुमित इति-स्फोटविषये प्रत्यक्षानुमाने विघटेते, अतस्तयोर्विषयभेदं प्रदर्शयन्ती अर्थापत्ति सघटनकारिणी भवति।

1 सम्बन्धं प्रति हेतु–आ०। 2 ऊहात् अस्मा–ब०। 3–कल्पनानुषङ्गात् ब०, श्र०। 4 प्रवर्त्तते च वक्त–ब०। 5 दृष्टकारणं श्र०। 6–निश्चयलिङ्गम् श्र०।

तया सन्दिग्धस्य लिङ्गताप्रसङ्गात्। अथ निश्चितः; कुतस्तन्निश्चयः? कारणानुपलब्धेश्चेत्; सा किं दृश्यानुपलब्धिः, अदृश्यानुपलब्धिर्वा? यद्यदृश्यानुपलब्धिः, कथमतोऽभावसिद्धिः, परमाणुपिशाचादिना अनेकान्तात्? अथ दृश्यानुपलब्धिः; तर्हि अतः कारणाभावसिद्धेः कथमर्थापत्तेः कारणसद्भावावेदिकायाः प्रामाण्यं स्यात्? चक्रकप्रसङ्गाच्च न कारणाभावस्य लिङ्गता, तथाहि–कार्यकारणयोः सम्बन्धग्रहणे सति कारणाभावाख्यमनुमानं प्रवर्तते, सम्बन्धग्रहणञ्च कारणग्रहणे सति, कारणग्रहणञ्च अर्थापत्तितः, अर्थापत्तिश्च कारणाभावानुमाने सति, तच्च सम्बन्धग्रहणे सति इति। न च अर्थापत्तित एव स्फोटादौ कारणसद्भावसिद्धिः, अनुमानतोऽपि तत्सिद्धेः। तथाहि–स्फोटादि कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा धूमादि, कार्यञ्चेदं स्फोटादि, तस्मात् कारणपूर्वकमिति।

एतेन अनुमानोपमानपूर्वकाऽर्थापत्तिद्वयमपि[1] प्रत्याख्यातम्[2], तस्यापि शक्तिविषयत्वेन प्रत्यक्षपूर्वकार्थापत्तिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषानुपङ्गात्।

यापि शब्दनित्यत्वसिद्धौ अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरुक्ता[3], साप्ययुक्ता, शब्दस्यानित्यत्वेऽपि वाचकत्वस्योपपत्तेः, तदनित्यत्वञ्च अग्रे प्रसाधयिष्यामः।

यापि[4] 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि श्रुतार्थापत्तिरुक्ता, साप्यनुमानमेव[5], कार्यतः कारणप्रतिपत्तेः। असति हि रसायनाद्युपयोगे पीनत्वं स्वात्मनि अन्यत्र च भोजनकार्यत्वेन अवगतम्, तच्च देवदत्ताख्ये धर्मिणि आप्तवाक्यात् कालविशेषे भोजननिषेधेन निश्चीयमानं प्रतिषिध्यमानकालव्यतिरिक्तकालेऽप्रतिषिद्धं स्वोपपादकस्य कारणस्य सत्तामवगमयति। नहि कारणं विना कार्यस्योदयो घटते, अहेतुकत्वेन सदा सत्त्वस्य

(१) पृ० ५०६ प० ५,६। (२) तुलना–"उपमानस्य तु स्मरणादभेदे तत्पूर्विकाऽर्थापत्तिरनुमानमेव, व्याप्तेः पूर्वं ग्रहणात्। तथा च सादृश्यावच्छिन्नो गोपिण्डो वाहादिसमर्थः गोपिण्डत्वात् पूर्वोपलब्धैवंविधगोपिण्डवत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९०। (३) पृ० ५०७ प० ९। (४) पृ० ५०७ प० ११। (५) तुलना–"श्रुतार्थापत्तिरपि वराकी नानुमानाद् भिद्यते, वचनैकदेश[illegible]नाया अनुपपत्त्या[illegible] च कार्यलिङ्गस्य सत्त्वात्। यथा क्षितिधर[illegible] धूमस्य[illegible] [illegible]मनु-मिनोति भवान् एवमागमान्[illegible] कार्यमवधार्य [illegible] भोजनमनुमिनोतु [illegible] विशेष"–न्यायम० पृ० ४५। 'क्षपाभोजनसम्बन्धी पुमानिष्ट प्रतीयते। दिवाभोजनवैकल्य[illegible] [illegible]॥ भोजने सति पीनत्व[illegible]। निश्चित नेन [illegible] [illegible] गति॥'–तत्त्वसं० पृ० ४६५। सन्मति० टी० पृ० ५८७। न्या० र० पृ० ३०६। "पीनो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्य[illegible] [illegible] [illegible]नुमानम्, लिङ्गभूतेन वाक्येन [illegible] पीनत्वात् [illegible] रात्रिभोजनस्य [illegible]।"–प्रमा० [illegible] पृ० [illegible]। 'देवदत्तो [illegible] दिवा[illegible] [illegible]।'–[illegible] १।२।५। (६) [illegible]। (७) दिवा। (८) पीनत्वं[illegible]–आ० टि०। (९) भो[illegible]। (१०) तुलना– [illegible]॥ –प्रमाणवा० ३।३४।

1 [illegible] 2 [illegible] 3 [illegible] 4 [illegible] 5 [illegible]

असत्त्वस्य[1] वा प्रसङ्गात्। प्रयोगः–रात्रिभुक्तिमान् देवदत्तः, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनः स स रात्रिभुक्तिमान् यथा नक्तञ्चरः, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनश्च देवदत्तः, तस्माद् रात्रिभुक्तिमानिति। ततो 'नहीदं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्' इत्या[1]द्ययुक्तमुक्तम्, य[2]थोक्तविशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षणलिङ्गस्यैवातो वाक्या[2]त् प्रतिपत्तेः, त[3]त्प्रतिपन्नाच्च लिङ्गात् रात्रिभोजनप्र[3]तिपत्तिसिद्धिरिति।

याप्यभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः सा[4]ऽप्यनुमानमेव, जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन बहिर्भावावगमात्। तथाहि–जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावः बहिर्भावेन तद्वान्, जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात्, पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्, यथा धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। ततश्च गृहादीनां लिङ्गत्वनिराकरणं शब्दाडम्बरमात्रम् अस्मन्मतांशाऽस्पर्शित्वात्।

यत्पुनः प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्तम्[5]; तदपि न युक्तम्; य[6]तः किं प्रमेयमत्राऽभिप्रेतम्– किं सत्तामात्रम्, बहिर्देशविशेषितं वा सत्त्वम्? तत्र सत्तामात्रं तावद् आगमादेवाऽवगतमिति न[4] प्रमाणा[5]न्तरप्रमेयतामवलम्बते। बहिर्देशविशेषितं तु सत्त्वं भवति प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेशः। गृहे चैत्राभावग्राहकं हि प्रमाणं तत्रै[7]व तत्सद्भावावेदकं प्रमाणमपाकरोति न पुनः बहिस्तत्सदसत्त्वचिन्तां करोति।

"मृतस्य[8] जीवतो दूरे तिष्ठतः प्राङ्गणेऽपि वा।
गृहाभावप[6]रिच्छेदे न विशेषोस्ति कश्चन॥" [न्यायम० पृ० ४३]

---

(१) पृ० ५०७ पं० १२। (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि–आ० टि०। (३) वाक्यप्रतिपन्नात्। (४) तुलना–"साप्यनुमानमेव, व्याप्ते पूर्वमेव ग्रहणात्। तथाहि–देवदत्तो बहिर्देशसम्बन्धी जीवनसम्बन्धित्वे सति गृहेऽनुपलभ्यमानत्वात् विष्णुमित्रवत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९१। "तदापि गेहायुक्तत्व दृष्ट्याऽदृष्टेर्विनिश्चितम्। अतस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गादेवावसीयते॥ सद्मना यो ह्यसंसृष्टो नियत बहिरस्त्यसौ। गेहाङ्गणस्थितो दृष्ट पुमान् द्वारिस्थितैरिव॥ विपक्षोऽपि भवत्यत्र सदनान्तर्गतो नर। अर्थापत्तिरियं तस्मादनुमानान्न भिद्यते॥"–तत्त्वस० पृ० ४७०। प्रमेयक० पृ० २०३। सन्मति० टी० पृ० ५८६। स्या० र० पृ० ३०८। "चैत्रस्य गृहाभावो धर्मी बहिर्भावेन तद्वानिति साध्यो धर्म जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात् पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्।"–न्यायम० पृ० ४३। "तदप्यनुमानमेव, यदा खलु सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदा वाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति, सोऽयं स्वशरीर एव व्याप्तिग्रह सुकर। तथा च सतो गेहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानम्।"–न्यायवा० ता० पृ० ४३८। साख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४। प्रश० कन्द० पृ० २२३। न्यायकुसु० ३।१९। प्रश० किरणा० पृ० ३२४। वैशे० उप० ९।२।५। (५) पृ० ५०९ पं० ८। (६) तुलना–"किं प्रमेयमभिमतमत्र भवता किं सत्तामात्रमुत बहिर्देशविशेषितं सत्त्वम्।"–न्यायमं० पृ० ४३। स्या० र० पृ० ३०९। (७) गृह एव। (८) 'वृत्तस्य'–न्यायम०। "मृतस्य जीवतो वा दूरे प्राङ्गणेऽपि वा। तिष्ठतश्चैत्रस्य गृहाभावपरिच्छेदे विशेषाभावात्।"–स्या० र० पृ० ३०९।

1–स्य प्रस–श्र०। 2–क्यात्तत्प्रति–ब०। 3–प्रतिपत्तिरिति आ०। 4 नतप्रमा–आ०। 5–णान्तरं प्रमे–ब०। 6–परिच्छेदनवि–श्र०।

जीवनविशिष्टस्त्वसौ[1] गृह्यमाणो लिङ्गतामेव प्रतिपद्यते व्यभिचाराभावात्। न च विशेषणग्रहणमेव प्रमेयग्रहणम्, यतो जीवनमन्यद् अन्यच्च वहिर्भावाख्यं प्रमेयमिति।

अथ मतम्–जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव वहिर्भावप्रतीतिरिति, तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो[2] जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेर्वहिर्भावप्रतीतिर्भवति, न तु तत्प्रतीतिरेव वहिर्भावप्रतीतिः। न हि दहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिर्दृष्टा। अथ धूमादन्यो दहनः तेनात्र[4] तत्प्रतीतिभेदो युक्तः, तदेतदन्यत्रापि समानम्–गृहाभाव-जीवनाभ्यां तद्वहिर्भावस्यापि अन्यत्वात्, तत्कथमत्रापि तत्प्रतीत्योरभेदः[3] स्यात्? यथा च पर्वत-वह्न्योः सिद्धत्वात्[5] मत्त्वर्थमात्र तत्र अपूर्वमनुमेयमेवमिष्टम्, एवमिहापि वहिर्देश[6]मात्रम् अपूर्वमनुमेयमस्तु। यदि तु तदधिक प्रमेयमिह नेष्यते, तदा गृहाभावजीवनयोः स्वप्रमाणाभ्यामवधारणाद् आनर्थक्यमेव अर्थापत्तेः। तस्मात् प्रमेयान्तरसद्भावात्[7] तस्य चाऽननुप्रवेशान्न कश्चिद्दोष[8]। अर्थापत्तावपि च तुल्य एवायं दोषः, तत्रापि अर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात्। तस्य[9] तस्मात् प्रतीतिरिति यत्र व्यवहारः तत्रावश्यं तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशदोषोऽनुषज्यते, स्वभावहेताविव तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः[10] प्रमाणान्तरवैफल्यात्।

ननु चाभावो निश्चितो लिङ्गं भविष्यति, सदसत्त्वग्राहिणोश्च प्रमाणयोः विरोधे कथं तन्निश्चयः? अतो यावदागमस्य वहिर्भावविषयता न प्रतीयते तावन्न गृह[11]स्याऽभावनिश्चय इति, तस्य[12] निश्चये प्रमेयानुप्रवेशदोषानुषङ्गः, अर्थापत्तिस्तु प्रमाणद्वयविरोधे सत्येव

(१) गृहाभाव–आ० टि०। (२) तुलना–"जीवनविशिष्टगृहाभावप्रतीतेः वहिर्भाव प्रतीतिः न तत्प्रतीतिरेव वहिर्भावप्रतीतिः। न हि दहनाधिकरणधूमप्रतीतिरेव दहनप्रतीतिः, किन्तु धूमादन्य एव दहनः, इहापि गृहाभावजीवनाभ्यामन्य एव वहिर्भावः, पर्वतहुतवहयोस्सिद्धत्वान्मत्त्वर्थमात्र तत्रापूर्वमनुमेयम्, एवमिहापि वहिर्देशयोगमात्रमपूर्वमनुमेयम्।"–न्यायम० पृ० ४३। स्या० र० पृ० ३०९। (३) जीवतो गृहाभाववहिर्भावयोः–आ० टि०। (४) 'पर्वतो वह्निमान्' इति रूपम्। (५) भावस्य जीवनेनैव सिद्धत्वात्–आ० टि०। (६) गृहाभावग्राहकं हि अभावप्रमाणम्, जीवनग्राहकञ्च आगमप्रमाणमिति। (७) वहिः सद्भाव। (८) तुलना–"अर्थापत्तावपि च तुल्य एवायं दोषः, तत्राप्यर्थादर्थान्तरकल्पनाभ्युपगमात्। दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते [illegible]। तस्य तस्मात्प्रतीतिरिति तत्र व्यवहारस्तत्रावाच्य(?) तत्प्रतीतौ तदनुप्रवेशो दोष एव। [illegible] तद्बुद्धिसिद्ध्या तत्सिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यादिति।"–न्यायम० पृ० ४४। स्या० र० पृ० ३०९। (९) तस्य साध्यस्य तस्मात् साधनात् प्रतीतिरिति व्यवहारश्च अनुमाने [illegible]–आ० टि०। (१०) यथा स्वभावहेतौ शिंशपात्वरूपेण वृक्षबुद्धौ [illegible] [illegible]ऽनेन लिङ्गेन वहिर्भावस्यापि [illegible] वार्यम्–आ० टि०। (११) [illegible]–आ० टि०। (१२) [illegible] जीवतो गृहाभावनिश्चये [illegible] वहिर्भावनिश्चय [illegible] हेतु प्रमेय वहिर्भावास्यानुप्रविष्ट इति भावः–आ० टि०।

1-[illegible] २०। 2 विशेषण–[illegible]। [illegible] [illegible] प्रमितिरिति [illegible]। [illegible]

असत्त्वस्य[1] वा प्रसङ्गात्। प्रयोगः–रात्रिभुक्तिमान् देवदत्तः, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीन. स स रात्रिभुक्तिमान् यथा नक्तञ्चर·, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनश्च देवदत्तः, तस्माद् रात्रिभुक्तिमानिति। ततो 'नहीदं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्' इत्याद्ययुक्तमुक्तम्[1], यथोक्त[2]विशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षणलिङ्गस्यैवातो वाक्यात्[2] प्रतिपत्तेः, तत्प्रतिपन्नाच्च[3] लिङ्गात् रात्रिभोजनप्रतिपत्तिसिद्धिरिति।

याप्यभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः साप्यनुमानमेव[4], जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन बहिर्भावावगमात्। तथाहि–जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावः बहिर्भावेन तद्वान्, जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात्, पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्, यथा धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। ततश्च गृहादीनां लिङ्गत्वनिराकरण शब्दाडम्बरमात्रम् अस्मन्मतांशाऽस्पर्शित्वात्।

यत्पुनः प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्तम्[5]; तदपि न युक्तम्; यतः[6] किं प्रमेयमत्राऽभिप्रेतम्– किं सत्तामात्रम्, बहिर्देशविशेषितं वा सत्त्वम् ? तत्र सत्तामात्रं तावद् आगमादेवाऽवगतमिति न[4] प्रमाणान्तर[5]प्रमेयतामवलम्बते। बहिर्देशविशेषितं तु सत्त्व भवति प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेशः। गृहे चैत्राभावग्राहकं हि प्रमाणं तत्रैव[7] तत्सद्भावावेदकं प्रमाणमपाकरोति न पुनः बहिस्तत्सदसत्त्वचिन्तां करोति।

"मृतस्य[8] जीवतो दूरे तिष्ठतः प्राङ्गणेऽपि वा।
गृहाभावपरिच्छेदे[6] न विशेषोस्ति कश्चन ॥" [न्यायम० पृ० ४३]

---

(१) पृ० ५०७ पं० १२। (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि–आ० टि०। (३) वाक्यप्रतिपन्नात्। (४) तुलना–"साप्यनुमानमेव, व्याप्ते पूर्वमेव ग्रहणात्। तथाहि–देवदत्तो बहिर्देशसम्बन्धी जीवनसम्बन्धित्वे सति गृहेऽनुपलभ्यमानत्वात् विष्णुमित्रवत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५९१। "तदापि गेहायुक्तत्व दृष्ट्याऽदृष्टेर्विनिश्चितम्। अतस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गादेवावसीयते॥ सद्मना यो ह्यसंसृष्टो नियत बहिरस्त्यसौ। गेहाङ्गणस्थितो दृष्ट पुमान् द्वारिस्थितैरिव॥ विपक्षोऽपि भवत्यत्र सदनान्तर्गतो नर। अर्थापत्तिरिय तस्मादनुमानान्न भिद्यते॥"–तत्त्वस० पृ० ४७०। प्रमेयक० पृ० २०३। सन्मति० टी० पृ० ५८६। स्या० र० पृ० ३०८। "चैत्रस्य गृहाभावो धर्मी बहिर्भावेन तद्वानिति साध्यो धर्म जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात् पूर्वोपलब्धैवंविधगृहाभाववत्।"–न्यायम० पृ० ४३। "तदप्यनुमानमेव, यदा खलु सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदा वाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति, सोऽय स्वशरीर एव व्याप्तिग्रह सुकर। तथा च सतो गेहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानम्।"–न्यायवा० ता० पृ० ४३८। साङ्ख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४। प्रश० कन्द० पृ० २२३। न्यायकुसु० ३।१९। प्रश० किरणा० पृ० ३२४। वैशे० उप० ९।२।५। (५) पृ० ५०९ प० ८। (६) तुलना–"किं प्रमेयमभिमतमत्र भवता किं सत्तामात्रमुत बहिर्देशविशेषित सत्त्वम्।"–न्यायमं० पृ० ४३। स्या० र० पृ० ३०९। (७) गृह एव। (८) 'वृत्तस्य'–न्यायम०। "मृतस्य जीवतो वा दूरे प्राङ्गणेऽपि वा। तिष्ठतश्चैत्रस्य गृहाभावपरिच्छेदे विशेषाभावात्।"–स्या० र० पृ० ३०९।

1–स्य प्रस–श्र०। 2–क्यात्तत्प्रति–ब०। 3–प्रतिपत्तिरिति आ०। 4 नतप्रमा–आ०। 5–णान्तरं प्रमे–ब०। 6–परिच्छेदनवि–श्र०।

शक्तिरस्ति स्फोटान्यथानुपपत्तेः' इति तद्रहिता[1]र्थापत्तिः प्रमाणान्तरं स्यात्, तथा च प्रमाणसंख्याव्याघातः[2]। नियमवतोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषार्थयो[3]रभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरत्रा[4]प्यविशेषात् कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेदः स्यात् ?

असिद्धश्चात्र अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वम्; गृहे चैत्राभावे एव वह्निस्तत्सद्भावगमके तस्य[5] विशेषणत्वसम्भवात्। नहि तस्य[6] तद्विशेषणत्वे[7] कश्चिद्दोषः सम्भवति येन गम्यविशेषणता कल्प्येत। न च सर्वस्यामर्थापत्तौ गम्यविशेषणता अविनाभावस्य सम्भवति, प्रत्यक्षादिप्रभवाऽर्थापत्तौ गमकस्यैव स्फोटादेः अविनाभावविशेषणत्वसंभवात्। न खलु तत्र गम्यायाः शक्तेः स्फोटं विनाऽनुपपत्तिः सम्भवति, तमन्तरेणापि[8] अस्याः[9] सद्भावाभ्युपगमात्।

यच्चान्यदुक्तम्[10]–'पक्षधर्मतानिश्चयसमये साध्यस्य नियतदेशतया अत्रा[11]ऽप्रतीतेः अनुमानाद्वैलक्षण्यम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्, गृहाभावाख्यधर्म्यवच्छेदेन वह्निभावस्य प्रतीतेः, धर्मी एव हि देशशब्देन उच्यते, तदवच्छेदश्च अत्रास्त्येवेति न ततस्तद्वैलक्षण्यम्।

यदपि 'सम्बन्धग्रहणाभावाच्च' इत्याद्युक्तम्[12], तदपि न, यतः 'सर्वत्र सम्बन्धग्रहणस्य ऊहाख्यप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः' इत्युक्तम्[13]। अतश्च 'देशान्तराणामानन्त्यान्न न तत्र नास्तित्वेन सम्बन्धग्रहः' इत्याद्ययुक्तम्, अनियतसाध्यसाधनव्यक्तिसम्बन्धग्रहणस्वभावत्वात्तस्य[14]। कथमन्यथा[15] धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चयः तत्रापि अस्य दोषस्याऽविशेषात् ? न च भूयोदर्शनावगम्यमानाऽन्वयमात्रेण गमकोऽसौ[16] युक्तः, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाऽहेतुत्वात्। न च सत्तामात्रेणासौ तद्धेतुः, अन्वयवद् व्यतिरेकस्यापि निश्चितस्यैव अनुमानाङ्गतोपपत्तेः।

किञ्च, असर्वगतद्रव्यस्य चैत्रादेः नियतदेशवृत्तेः[17] तदन्यदेशे प्रतिनियते प्रत्यक्षतः,

(१) शक्तिर्वह्नौ स्फोटश्च करतलादौ इति न स्फोटस्य पक्षधर्मता–आ० टि०। (२) पक्षधर्मत्वसहिततद्रहितयोरर्थापत्त्योश्चेदभेदः, तदाऽनुमानार्थापत्त्योरपि नयास्तु–आ० टि०। षडेव प्रमाणानीति प्रमाणसंख्याव्याघातः सप्तमस्य प्रसिद्धेः। (३) पक्षधर्मत्वसहित-तद्रहितार्थापत्त्योः। (४) अर्थापत्तावपि। (५) गमकस्य विशेषणमविनाभाव –आ० टि०। (६) अविनाभावस्य। (७) गमकविशेषणत्वे। (८) स्फोटादिकं विनापि। (९) शक्तेः। (१०) पृ०५११ पं० ६। (११) अर्थापत्तौ। (१२) पृ० ५१० पं० १५। (१३) तर्कनिरूपणप्रसङ्गे, पृ० ४२६। (१४) ऊहस्य। (१५) तुलना–'अनग्निव्यतिरेकनिश्चये न धूमस्य भवता का गतिः। या तत्र वार्ता [illegible] भूयोदर्शनावगम्यमानान्वयमात्रैककारणतया 'यस्य वस्त्वन्तराभावो [illegible] सहचारिणः॥' (मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४०) इति [illegible] सामान्यनिश्चयाभावादिति पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकेऽपि नाप्तुं [illegible]। –न्यायम० पृ० ४८। (१६) धूमो हेतुः। (१७) तुलना–"असर्वगतस्य द्रव्यस्य [illegible] प्रमाणम्।"–न्यायम० पृ० ४५। न्यायवा० ता० पृ० ४३८। मानमेयोदय पृ० ८३ [illegible] तदन्यत्र [illegible] –प्रश० कन्द० पृ० २२३। (१८) [illegible]

१ पूर्वस्यामर्थापत्तौ–[illegible]। २ प्रवर्त्तते [illegible]। [illegible]

[illegible]

प्रवर्त्तते इति कथं तदनुप्रवेशः ? तदसमीक्षिताभिधानम्; सदसत्त्वज्ञानयोः[(1)] असमानविषयतया विरोधाऽसिद्धेः। आगमेन हि देशविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते न गृहे बहिर्वा, प्रत्यक्षेण[(2)] तु गृहावच्छिन्नस्य चैत्रस्याभाव इति। समानविषयत्वे तु तयोरन्[1]यथासिद्धाऽध्यक्षबाध्यत्वेन आगमज[(3)]ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्येव नाऽर्थान्तरकल्पनाकारणत्वम्।

अथ मतम्[(4)]–अनुमाने गमकविशेषणम् अन्यथानुपपन्नत्वं 'वह्निं विना धूमो नोपपद्यते' इति, अर्थापत्तौ तु विपर्ययः गमकं विना गम्यो नोपपद्यते। गम्यो हि बहिर्भावः, स जीवतो गृहाभावं विना नोपपद्यते, गृहान्निर्गतो जीवन् बहिरस्तीत्येवं गम्यगमकयोरनुपपद्यमानत्वे विपर्ययात्[2] प्रमाणान्तरमनुमानादर्थापत्तिरिति, तदप्य[(5)]सङ्गतम्; 'साध्याविनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' इत्यनुमानलक्षणम्। तच्चार्थापत्तौ[3] अस्त्येव। न हि तदुत्थापकार्थस्य साध्येन अविनाभावोऽसिद्धः; ततः[(6)] तत्सिद्ध्य[(7)]भावप्रसङ्गात्। स चाविनाभावः अन्यथानुपपन्नत्वापरपर्यायः उभयनिष्ठत्वात् गमकविशेषणं वास्तु गम्यविशेषणं वा नैतावता अर्थापत्त्यनुमानयोः भेदः, अन्यथा 'सूर्यस्य गमनशक्तिरस्ति गतिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः' इति पक्षधर्म[4]त्वसहिताया अर्थापत्तेः 'वह्नेर्दाह-

---

(१) तुलना–"तथाहि–सत्त्वमात्र वा विरुध्यते चैत्रस्य गेहाभावेन गेहसत्त्व वैकत्रास्य। न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोध गेहेऽसत्तया समानविषयत्वाभावात्' 'गृहाभावावच्छिन्नाभावेन गृहसत्त्व विरुद्धत्वात्प्रतिषिध्यते न तु सत्त्वमात्रम् तत्र तस्यौदासीन्यात्, तस्माद् गृहाभावेन सिद्धेन सतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम्। एतेन विरुद्धयो प्रमाणयोरविरोधापादन विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषय परास्त, अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोरविरोधात्।"–न्यायवा० ता० पृ० ४३९। सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४। "अनियम्यस्य नायुक्ति नानियन्तोपपादक। न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ सम॥"–न्यायकुसु० ३।१९। (२) नियतदेशविषयत्वेनैव सिद्धमध्यक्षम्–आ० टि०। (३) अबलमागमजज्ञानमनियतदेशविषयत्वात्–आ० टि०। (४) प्रभाकरस्य। "यदि यद्येन विना नोपपद्यते तदेवावगमक स्यात्, इह तु यन्नोपपद्यते तदेवावगम्यते। किं चात्र नोपपद्यते ? जीवतो गृहाभावदर्शनात् अन्यत्राभावो नोपपद्यते। तत किम् ? नात्राभावस्य गम्यता। कस्य तर्हि ? भावस्य। न चासौ गृहाभावदर्शनेनोपपद्यते। बाढ नोपपद्यते। न हि गृहाभावदर्शनेन विना बहि भाव उपपद्यते।"–शाबरभा० बृह० १।१।५। "विना कल्पनयाऽर्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम्। नयता दृष्टमर्थं या साऽर्थापत्तिस्तु कल्पना॥ अभावेन गृहे भावो बहिष्कल्पनया विना। नयताऽनुपपन्नत्व कल्प्यमाना बहिर्यथा॥ गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना। मानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम्॥ देशेन हि विना भावो न कदाचन दृश्यते। विना भावेन सिद्धोऽपि ते सन्देहमार्च्छति॥ तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या प्रवर्त्तते। सन्देहापादाकादर्थादर्थापत्तिरसौ स्मृता॥ गमकस्यानुमाने तु विपक्षासत्त्वलक्षणम्। गम्यतेऽनुपपन्नत्व विना गम्येन वस्तुना॥ तत्सामग्रीविभेदेन भिन्ने एते परस्परम्। अर्थापत्त्यनुमानाख्ये प्रमाणे इति निश्चितम्॥"–प्रक० प० पृ० १२८। तुलना–न्यायमं० पृ० ४४। (५) तुलना–"एतदपि ग्रन्थवैषम्योपपादनमात्रम् न तु नूतनविशेषतोत्प्रेक्षणम्; गम्ये तावदगृहीते सति तद्गतमनुपपद्यमानत्व कथमवधार्येत, गृहीते तु गम्ये किं तद्गतानुपपद्यमानत्वग्रहणेन साध्यस्य सिद्धत्वात्"–न्यायमं० पृ० ४४। (६) अर्थापत्त्युत्थापकार्थात्। (७) साध्य।

---

1 तयोरन्यथा–ब०। 2–मानविपर्ययात् श्र०। 3 तत्त्वार्थापत्तौ ब०। 4 पक्षधर्मसहि–आ०।

शक्तिरस्ति स्फोटान्यथानुपपत्तेः' इति तद्रहितार्थापत्तिः[1] प्रमाणान्तरं स्यात्, तथा च प्रमाणसंख्याव्याघातः[2]। नियमवतोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्तयोरभेदे[3] स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरत्राप्यविशेषात्[4] कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेदः स्यात् ?

असिद्धश्चात्र अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वम्; गृहे चैत्राभावे एव बहिस्तत्सद्भावगमके तस्य[5] विशेषणत्वसम्भवात्। नहि तस्य[6] तद्विशेषणत्वे[7] कश्चिद्दोषः सम्भवति येन गम्यविशेषणता कल्प्येत। न च सर्वस्यामर्थापत्तौ गम्यविशेषणता अविनाभावस्य सम्भवति, प्रत्यक्षादिप्रभवाऽर्थापत्तौ गमकस्यैव स्फोटादेः अविनाभावविशेषणत्वसंभवात्। न खलु तत्र गम्यायाः शक्तेः स्फोटं विनाऽनुपपत्तिः सम्भवति, तमन्तरेणापि[8] अस्याः[9] सद्भावाभ्युपगमात्।

यच्चान्यदुक्तम्[10]–'पक्षधर्मतानिश्चयसमये साध्यस्य नियतदेशतया अत्रा[11]ऽप्रतीतेः अनुमानाद्वैलक्षण्यम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्, गृहाभावाख्यधर्म्यवच्छेदेन बहिर्भावस्य प्रतीतेः, धर्मी एव हि देशशब्देन उच्यते, तदवच्छेदश्च अत्रास्त्येवेति न ततस्तद्वैलक्षण्यम्।

यदपि 'सम्बन्धग्रहणाभावाच्च' इत्याद्युक्तम्[12], तदपि न, यतः 'सर्वत्र सम्बन्धग्रहणस्य ऊहाख्यप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः' इत्युक्तम्[13]। अतश्च 'देशान्तराणामानन्त्यान्न न तत्र नास्तित्वेन सम्बन्धग्रहः' इत्याद्ययुक्तम्, अनियतसाध्यसाधनव्यक्तिसम्बन्धग्रहणस्वभावत्वात्तस्य[14]। कथमन्यथा[15] धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चयः तत्रापि अस्य दोषस्याऽविशेषात् ? न च भूयोदर्शनावगम्यमानाऽन्वयमात्रेण गमकोऽसौ[16] युक्तः, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाऽहेतुत्वात्। न च सत्तामात्रेणासौ तद्धेतुः, अन्वयवद् व्यतिरेकस्यापि निश्चितस्यैव अनुमानाङ्गतोपपत्तेः।

किञ्च, असर्वगत[17]द्रव्यस्य चैत्रादेः नियतदेशवृत्तेः[18] तदन्यदेशे प्रतिनियते प्रत्यक्षत.

(१) शक्तिर्वह्नौ स्फोटश्च करतलादौ इति न स्फोटस्य पक्षधर्मता–आ० टि०। (२) पक्षधर्मत्वसहिततद्रहितयोरर्थापत्त्योश्चेदभेदः, तदाऽनुमानार्थापत्त्योरपि तथाऽस्तु–आ० टि०। षडेव प्रमाणानीति प्रमाणसंख्याव्याघातः सप्तमस्य प्रसिद्धेः। (३) पक्षधर्मत्वसहित-तद्रहितार्थापत्त्योः। (४) अर्थापत्तावपि। (५) गमकस्य विशेषणमविनाभाव–आ० टि०। (६) अविनाभावस्य। (७) गम्यविशेषणत्वे। (८) स्फोटादिकं विनापि। (९) शक्तेः। (१०) पृ० ५११ पं० ६। (११) [illegible]। (१२) पृ० ५१० पं० १५। (१३) तर्कनिरूपणप्रसङ्गे, पृ० ४२६। (१४) ऊहस्य। (१५) तुलना–"अनग्निव्यतिरेकनिश्चये च धूमस्य भवता का गतिः। या तत्र वार्ता सैवेहापि नो [illegible]। न च भूयोदर्शनावगम्यमानान्वयमात्रैक[illegible] 'यस्य सम्बन्धाभावो गम्यन्तरं [illegible]। [illegible]

प्रवर्त्तते इति कथं तदनुप्रवेशः ? तदसमीक्षिताभिधानम्; [1]सदसत्त्वज्ञानयोः असमानविषयतया विरोधाऽसिद्धेः। आगमेन हि देशविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते न गृहे बहिर्वा, [2]प्रत्यक्षेण तु गृहावच्छिन्नस्य चैत्रस्याभाव इति। समानविषयत्वे तु [1]तयोरनन्यथासिद्धाऽध्यक्षबाध्यत्वेन [3]आगमजज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्येव नाऽर्थान्तरकल्पनाकारणत्वम्।

अथ मतम्[4]–अनुमाने गमकविशेषणम् अन्यथानुपपन्नत्वं 'वह्निं विना धूमो नोपपद्यते' इति, अर्थापत्तौ तु विपर्ययः गमकं विना गम्यो नोपपद्यते। गम्यो हि बहिर्भावः, स जीवतो गृहाभावं विना नोपपद्यते, गृहान्निर्गतो जीवन् बहिरस्तीत्येवं गम्यगमकयोरनुपपद्य[2]मानत्वे विपर्ययात् प्रमाणान्तरमनुमानादर्थापत्तिरिति, [5]तदप्यसङ्गतम्, 'साध्याविनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' इत्यनुमानलक्षणम्। [3]तच्चार्थापत्तौ अस्त्येव। न हि तदुत्थापकार्थस्य साध्येन अविनाभावोऽसिद्धः; [6]ततः [7]तत्सिद्ध्यभावप्रसङ्गात्। स चाविनाभावः अन्यथानुपपन्नत्वापरपर्यायः उभयनिष्ठत्वात् गमकविशेषणं वास्तु गम्यविशेषणं वा नैतावता अर्थापत्त्यनुमानयोः भेदः, अन्यथा 'सूर्यस्य गमनशक्तिरस्ति गतिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः' इति पक्ष[4]धर्मत्वसहिताया अर्थापत्तेः 'वह्नेर्दाह-

(१) तुलना–"तथाहि–सत्त्वमात्र वा विरुध्यते चैत्रस्य गेहाभावेन गेहसत्त्व वैकत्रास्य। न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोध गेहेऽसत्तया समानविषयत्वाभावात्' 'गृहाभावावच्छिन्नाभावेन गृहसत्त्व विरुद्धत्वात्प्रतिषिध्यते न तु सत्त्वमात्रम् तत्र तस्यौदासीन्यात्, तस्माद् गृहाभावेन सिद्धेन सतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम्। एतेन विरुद्धयो प्रमाणयोरविरोधापादन विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषय परास्त, अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोरविरोधात् ।"–**न्यायवा० ता० पृ० ४३९। साख्यतत्त्वकौ० पृ० ४४।** "अनियम्यस्य नायुक्ति नानियन्तोपपादक। न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ सम ॥"–**न्यायकुसु० ३।१९।** (२) नियतदेशविषयत्वेनैव सिद्धमध्यक्षम्–**आ० टि०।** (३) अबलमागमजं ज्ञानमनियतदेशविषयत्वात्–**आ० टि०।** (४) प्रभाकरस्य। "यदि यद्येन विना नोपपद्यते तदेवावगमक स्यात्, इह तु यन्नोपपद्यते तदेवावगम्यते। किं चात्र नोपपद्यते ? जीवतो गृहाभावदर्शनात् अन्यत्राभावो नोपपद्यते। तत किम् ? नात्राभावस्य गम्यता। कस्य तर्हि ? भावस्य। न चासौ गृहाभावदर्शनेनोपपद्यते। बाढ नोपपद्यते। न हि गृहाभावदर्शनेन विना बहि भाव उपपद्यते।"–**शाबरभा० बृह० १।१।५।** "विना कल्पनयाऽर्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम्। नयता दृष्टमर्थं या साऽर्थापत्तिस्तु कल्पना॥ अभावेन गृहे भावो बहिष्कल्पनया विना। नयताऽनुपपन्नत्व कल्प्यमाना बहिर्यथा॥ गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना। मानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम्॥ देशेन हि विना भावो न कदाचन दृश्यते। विना भावेन सिद्धोऽपि ते सन्देहमाच्छेति॥ तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या प्रवर्त्तते। सन्देहापादाकादर्थादर्थापत्तिरसौ स्मृता॥ गमकस्यानुमाने तु विपक्षासत्त्वलक्षणम्। गम्यतेऽनुपपन्नत्व विना गम्येन वस्तुना॥ तत्सामग्रीविभेदेन भिन्ने एते परस्परम्। अर्थापत्त्यनुमानाख्ये प्रमाणे इति निश्चितम्॥"–**प्रक० पं० पृ० १२८।** तुलना–**न्यायम० पृ० ४४।** (५) तुलना–"एतदपि ग्रन्थवैषम्योपपादनमात्रम् न तु नूतनविशेषतोत्प्रेक्षणम्, गम्ये तावदगृहीते सति तद्गतमनुपपद्यमानत्व कथमववार्येत, गृहीते तु गम्ये किं तद्गतानुपपद्यमानत्वग्रहणेन साध्यस्य सिद्धत्वात्।"–**न्यायमं० पृ० ४४।** (६) अर्थापत्त्युत्थापकार्थात्। (७) साध्य।

1 **तयोरन्यथा**–ब०। 2–**मानविपर्ययात्** श्र०। 3 **तत्त्वार्थापत्तौ** ब०। 4 **पक्षधर्मसहि**–आ०।

शक्तिरस्ति स्फोटान्यथानुपपत्तेः[1]' इति तद्रहितार्थापत्तिः[2] प्रमाणान्तरं स्यात्, तथा च प्रमाणसंख्याव्याघातः। नियमवतोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्[3]तयोरभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्थाद् अर्थान्तरप्रतिपत्तेर[4]त्राप्यविशेषात् कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेदः स्यात् ?

असिद्धश्चात्र अविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वम्; गृहे चैत्राभावे एव बहिस्तत्सद्भावगमके तस्य[5] विशेषणत्वसम्भवात्। नहि तस्य[6] तद्वि[7]शेषणत्वे कश्चिद्दोषः सम्भवति येन गम्यविशेषणता कल्प्येत। न च स[1]र्वस्यामर्थापत्तौ गम्यविशेषणता अविनाभावस्य सम्भवति, प्रत्यक्षादिप्रभवाऽर्थापत्तौ गमकस्यैव स्फोटादे. अविनाभावविशेषणत्वसंभवात्। न खलु तत्र गम्यायाः शक्तेः स्फोटं विनाऽनुपपत्तिः सम्भवति, त[8]मन्तरेणापि अस्याः[9] सद्भावाभ्युपगमात्।

यच्चान्यदुक्तम्[10]–'पक्षधर्मतानिश्चयसमये साध्यस्य नियतदेशतया अत्रा[11]ऽप्रतीतेः अनुमानाद्वैलक्षण्यम्' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्, गृहाभावाख्यधर्म्यवच्छेदेन बहिर्भावस्य प्र[2]तीतेः, धर्मी एव हि देशश[3]ब्देन उच्यते, तदवच्छेदश्च अत्रास्त्येवेति न ततस्तद्वैलक्षण्यम्।

यदपि 'सम्बन्धग्रहणाभावाच्च' इत्याद्युक्तम्[12], त[4]दपि न; यतः 'सर्वत्र सम्बन्धग्रहणस्य ऊहाख्यप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धेः' इत्युक्तम्[13]। अतश्च 'देशान्तराणामानन्त्यान्न न तत्र नास्तित्वेन स[5]म्बन्धग्रहः' इत्याद्ययुक्तम्, अनियतसाध्यसाधनव्यक्तिसम्बन्धग्रहणस्वभावत्वात्तस्य[14]। कथमन्यथा[15] धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चयः तत्रापि अस्य दोषस्याऽविशेषात् ? न च भूयोदर्शनावगम्यमानाऽन्वयमात्रेण गमकोऽसौ[6][16] युक्तः, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाऽहेतुत्वात्। न च सत्तामात्रेणासौ तद्धेतुः, अन्वयवद् व्यतिरेकस्यापि निश्चितस्यैव अनुमानाङ्गतोपपत्तेः।

किञ्च, अ[17]सर्वगतद्रव्यस्य चैत्रादेः नियतदेशवृत्तेः[18] त[7]दन्यदेशे प्रतिनियते प्रत्यक्षतः,

(१) शक्तिर्वह्नौ स्फोटश्च करतलादौ इति न स्फोटस्य पक्षधर्मता–आ० टि०। (२) पक्षधर्मत्वसहिततद्रहितयोरर्थापत्त्योश्चेदभेद, तदाऽनुमानार्थापत्त्योरपि तथास्तु–आ० टि०। षडेव प्रमाणानीति प्रमाणसंख्याव्याघात सप्तमस्य प्रसिद्धेः। (३) पक्षधर्मत्वसहित-तद्रहितार्थापत्त्यो.। (४) अर्थापत्तावपि। (५) गमकस्य विशेषणमविनाभाव –आ० टि०। (६) अविनाभावस्य। (७) गमकविशेषणत्वे। (८) स्फोटादिक विनापि। (९) शक्ते। (१०) पृ०५११ पं० ६। (११) अर्थापत्तौ। (१२) पृ० ५१० प० १५। (१३) तर्कनिरूपणप्रसङ्गे, पृ० ४२६। (१४) ऊहस्य। (१५) तुलना–"अनग्निव्यतिरेकनिश्चये च धूमस्य भवता का गति। या तत्र वार्त्ता सैवेहापि नो भविष्यति। न च भूयोदर्शनावगम्यमानान्वयमात्रैकशरणतया 'यस्य वस्त्वन्तराभावो गम्यस्तस्यैव दुष्यति। मम त्वदृष्टिमात्रेण गमका सहचारिण ॥' (मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४०) इति कथयितुमुचितम्, अनिश्चितव्यतिरेकस्य साध्यनिश्चयाभावादिति पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकोऽपि नागृहीतोऽनुमानाङ्गम्।"–न्यायम पृ० ४५। (१६) धूमो हेतु। (१७) तुलना–"असर्वगतस्य द्रव्यस्य नियतदेशवृत्तेरक्लेशेन तदितरदेशनास्तित्वावधारणम्।"–न्यायम० पृ० ४५। न्यायवा० ता० पृ० ४३८। साख्यतत्त्वकौ० पृ० ४३। "दृष्टमेतत्–यत्र द्रव्यमेकत्रास्ति तदन्यत्र नास्तीति यथा प्राचीप्रतीच्योरेकत्रोपलभ्यमान सविताऽन्यत्र न भवतीति दर्शनादेवमवधार्यते।"–प्रश० कन्द० पृ० २२३। (१८) परिमितदेशवृत्तित्वादिति हेतो।

1 पूर्वस्यामर्थाप–ब०। 2 प्रतीति आ०। 3 धर्म बहिर्देश–ब०। 4 तदप्ययुक्तम् यत श्र०, ब०। 5 सम्बन्धग्रहणमित्या–ब०। 6–सौ अनि–श्र०। 7 तदन्यदेशे प्रतिनियते च अनु–ब०।

[1]अप्रतिनियते चानुमानतोऽभावसिद्धेः कथमुक्तदोषानुषङ्गः ? तच्चानुमानम्[1]–देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवत् । न च 'देशान्तराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्' इति प्रत्यनुमानोपहतमेतदित्यभिधातव्यम्[2]; [3]तत्पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधितत्वात् । तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्थान्तर[2]त्वाऽसिद्धेः सिद्धः [4]परेषां प्रमाणसंख्याव्याघात. ।

ननु [5]भवतामप्येव प्रमाणसंख्यानियमविरोधस्तुल्यः 'उपमानादेः प्रदिपादितप्रमाणप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽविशेषात्' इत्यारेकापनोदार्थमाह–**'सर्वस्य'** इत्यादि । **सर्वस्य** अनन्तरोक्तस्य उपमानादिप्र[3]माणप्रपञ्चस्य **परोक्षेऽन्तर्भावात्** नाऽस्माकं कश्चिद्दोषः । कस्मात् तस्य तत्रान्तर्भाव इति चेत् ? [6]तल्लक्षणलक्षितत्वात् । यस्य यल्लक्षणलक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भावः यथा रूपसुखादिसंवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च उपमानादेरिति । यथैव हि रूपादिसंवेदनस्य सुखादिसंवेदनस्य च विषय[7]भेदात् साम[8]ग्रीभेदाच्च [4]अन्योन्यं वैलक्षण्येऽपि वैशद्यस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्, तथा उपमानादेरपि अवैशद्यस्वभावपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति ।

नन्वेवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानागमभेदैः परिगणितत्वात्[9] कथमुपमानादेस्तत्रान्तर्भावः, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोधः ? इत्यसमीचीनम्; [10]उपमानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽविरोधकत्वात् । दर्शनस्मरणकारणक हि [5]सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इदमप्युपमानादिज्ञान दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यादि-

(१) तुलना–"देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवदिति।"–**न्यायम० पृ० ३८ ।** (२) "ननु देशान्तर शून्यं चैत्रेणैव प्रतीयते । तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थितदेशवत् । विरुद्धाव्यभिचारित्व तद्वदेव हि गम्यते । समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत् । एतदुक्त भवति–न तावद्देशान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्संयुक्तदेशव्यतिरिक्तदेशत्वादिति हेतु सभवति, सन्दिग्धत्वात्, देशान्तराण्यपि तत्सयुक्तानि न वेत्येतावदेव विचार्यते । कथं तेषा तत्सयुक्तदेशाद् व्यतिरेकसिद्धि । यदि परमेवमुच्यते–यमेवाधुना चैत्रोऽधिष्ठितोऽपवरकदेश तद्व्यतिरिक्तत्वादिति, एव विधश्चाप्रयोजको हेतु, इतरथा हि शक्यते–चैत्रयुक्त देशान्तर तत्समीपव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवदिति ।"–**मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६१–६२ ।** (३) "प्रतिपक्षप्रयोगस्तु प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वाद्धेत्वाभास एव ।"–**न्यायमं० पृ० ४५ ।** (४) मीमासकानाम् । (५) जैनानामपि । (६) उपमानादय परोक्षेऽन्तर्भवन्ति परोक्षलक्षणलक्षितत्वात् । तुलना–"यदेकलक्षणलक्षित तद्व्यक्तिभेदेऽप्येकमेव यथा वैशद्यैकलक्षणलक्षित चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यैकलक्षणलक्षितञ्च शब्दादीति ।"–**प्रमेयक० पृ० १९२ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । स्या० र० प० २८३ ।** (७) रूपादिसुखादिलक्षण । (८) चक्षुरादि-मानसादिरूप । (९) **लघीयस्त्रयस्य** 'ज्ञानमाद्य स्मृति' (का० १०) इति कारिकायाम्, **परीक्षामु० ३।२ । प्रमाणनय० ३।२ । प्रमाणमी० १।२।२।** इत्यादिषु च । (१०) तुलना–**प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० र० पृ० २८३ ।**

1 अतिनियते आ० । 2–न्तरतासिद्धेः श्र० । 3 **प्रमाणपञ्चकस्य** ब० । 4 **अन्योन्यवैल**–आ०, ब० । 5 **सकल्पन** श्र० ।

सङ्कलनस्वभावञ्च, अतः कथं प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद् दर्शनस्मरणकारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तत्कारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्चोपमानमिति ।

'तद्' इत्यादिना प्रकृतोपसंहारमाह–यस्माद् उपमानादेः परोक्षेऽन्तर्भावः तत् तस्मात् **समञ्जसम्** उपपन्नम् **'प्रत्यक्षं परोक्षञ्च इति एव द्वे एव प्रमाणे'** इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'अन्यथा'** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन प्रकारेण **तेषां** प्रमाणानां **सङ्ख्याया अनवस्थानादिति** ॥ छ ॥

मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रज्वाल्य निःशेषतः,
सम्यग्युक्तिमहांशुभिः पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता ।
येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,
भास्वानेष जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः ॥ छ ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥ छ ॥



प्रमाणप्रवेशे चतुर्थ आगमपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमखिलं व्याख्याय साभासताम्,
तस्यैं ख्यापयितुं कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रक्रमः ।
मिथ्यैकान्तमहान्धकूपपतनव्यामुग्धबुद्धेः स्फुटम्,
कः सन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशलः स्याद्वादभानोः परः ॥ १ ॥

अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वथेति प्रदर्शयन्नाह–

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद्यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥ २२ ॥

अ[1]प्रतिनियते चानुमानतोऽभावसिद्धेः कथमुक्तदोषानुषङ्गः ? तच्चानुमानम्[१]–देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवत् । न च 'देशान्तराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्' इति प्रत्यनुमानोपहतमेतदित्यभिधातव्यम्[२]; [३]तत्पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधितत्वात् । तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्थान्त[2]रत्वाऽसिद्धेः सिद्धः [४]परेषां प्रमाणसंख्याव्याघात. ।

ननु भ[५]वतामप्येव प्रमाणसख्यानियमविरोधस्तुल्यः 'उपमानादेः प्रदिपादितप्रमाणप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽविशेपात्' इत्यारेकापनोदार्थमाह–**'सर्वस्य'** इत्यादि । **सर्वस्य** अनन्तरोक्तस्य उपमानादिप्रमा[3]णप्रपञ्चस्य **परोक्षेऽन्तर्भावात्** नाऽस्माकं कश्चिद्दोषः । कस्मात् तस्य तत्रान्तर्भाव इति चेत् ? [६]तल्लक्षणलक्षितत्वात् । यस्य यल्लक्षणलक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भावः यथा रूपसुखादिसंवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च उपमानादेरिति । यथैव हि रूपादिसंवेदनस्य सुखादिसंवेदनस्य च विषय[७]भेदात् साम[८]ग्रीभेदाच्च [4]अन्योन्यं वैलक्षण्येऽपि वैशद्यस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्, तथा उपमानादेरपि अवैशद्यस्वभावपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति ।

नन्वेवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानागमभेदैः परिगणितत्वा[९]त् कथमुपमानादेस्तत्रान्तर्भावः, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोधः ? इत्यसमीचीनम्; [१०]उपमानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽविरोधकत्वात् । दर्शनस्मरणकारणकं हि [5]सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इदमप्युपमानादिज्ञान दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यादि-

(१) तुलना–"देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवदिति।"–**न्यायम० पृ० ३८** । (२) "ननु देशान्तर शून्य चैत्रेणैव प्रतीयते । तद्देशव्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थितदेशवत् । विरुद्धाव्यभिचारित्व तद्वदेव हि गम्यते । समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत् । एतदुक्त भवति–न तावद्देशान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्सयुक्तदेशव्यतिरिक्तदेशत्वादिति हेतु सभवति, सन्दिग्धत्वात्, देशान्तराण्यपि तत्सयुक्तानि न वेत्येतावदेव विचार्यते । कथ तेपा तत्सयुक्तदेशाद् व्यतिरेकसिद्धि । यदि परमेवमुच्यते–यमेवाधुना चैत्रोऽधिष्ठितोऽपवरकदेश तद्व्यतिरिक्तत्वादिति, एव विधश्चाप्रयोजको हेतु, इतरथा हि शक्यते–चैत्रयुक्त देशान्तर तत्समीपव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवदिति ।"–**मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६१–६२** । (३) "प्रतिपक्षप्रयोगस्तु प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वाद्धेत्वाभास एव ।"–**न्यायम० पृ० ४५** । (४) मीमासकानाम् । (५) जैनानामपि । (६) उपमानादय परोक्षेऽन्तर्भवन्ति परोक्षलक्षणलक्षितत्वात् । तुलना–"यदेकलक्षणलक्षित तद्व्यक्तिभेदेऽप्येकमेव यथा वैशद्यैकलक्षणलक्षित चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यैकलक्षणलक्षितञ्च शब्दादीनि ।"–**प्रमेयक० पृ० १९२ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । स्या० र० पृ० २८३** । (७) रूपादिसुखादिलक्षण । (८) चक्षुरादि-मानसादिरूप । (९) **लघीयस्त्रयस्य** 'ज्ञानमाद्य स्मृति' (का० १०) इति कारिकायाम्, **परीक्षामु० ३।२ । प्रमाणनय० ३।२ । प्रमाणमी० १।२।२।** इत्यादिपु च । (१०) तुलना–**प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० र० पृ० २८३** ।

1 अनिनियने आ० । 2–न्तरतासिद्धे. श्र० । 3 **प्रमाणपञ्चकस्य** व० । 4 **अन्योन्यवैल**–आ०, व० । 5 **सङ्कलनं** श्र० ।

सङ्कलनस्वभावञ्च, अतः कथं प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद् दर्शनस्मरणकारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तत्कारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्चोपमानमिति ।

'तद्' इत्यादिना प्रकृतोपसंहारमाह–यस्माद् उपमानादेः परोक्षेऽन्तर्भावः तत् तस्मात् **समञ्जसम्** उपपन्नम् **'प्रत्यक्षं परोक्षञ्च इति एव द्वे एव प्रमाणे'** इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**'अन्यथा'** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन प्रकारेण **तेषां** प्रमाणानां **सङ्ख्याया अनवस्थानादिति** ॥छ॥

मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रज्वाल्य निःशेषतः,
सम्यग्युक्तिमहांशुभिः पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता ।
येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,
भास्वानेष जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः ॥छ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥छ॥



प्रमाणप्रवेशे चतुर्थ आगमपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमखिलं व्याख्याय साभासताम्,
तस्यं ख्यापयितु कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रक्रमः ।
मिथ्यैकान्तमहान्धकूपपतनव्यामुग्धबुद्धेः स्फुटम्,
कः सन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशलः स्याद्वादभानोः परः ॥ १ ॥

अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वथेति प्रदर्शयन्नाह–

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद्यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥ २२ ॥

विवृतिः–तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा तत्सङ्ख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्। नहि ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षणात्। कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः? कृतस्य करणायोगात्, तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणानिष्टेः। तदस्य विसंवादोऽपि अवस्तुनिर्भासात्, चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानामविसंवादकत्वात्।

प्रकारेण प्रमाण मतमिष्ट परीक्षकैरिति। तथाहि–सर्वं संशयादिकं प्रमाणाभासं स्वरूपापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा प्रमाणं भवति तत्राविसंवादित्वात्, यद्यत्राविसंवादि तत्तत्र प्रमाणं यथा रसे रसज्ञानम्, अविसंवादि च संशयादिकं स्वरूपे द्रव्यरूपादौ वा, ततस्तत्र कथञ्चित्प्रमाणमिति। विसंवाद एव खल्वप्रामाण्यनिबन्धनम् अविसंवादश्च प्रामाण्यनिबन्धनमिति न्यायस्य सकलवादिसम्मतत्वात् सर्वथा प्रमाणाभासस्य न्यायशून्यत्वात्। 'बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभञ्च ते' (आप्तमी० श्लो० ८३) इति वचनात्। न हि ज्ञानं स्वरूपे विसंवादि तस्याहम्प्रत्ययसिद्धत्वात्। प्रसिद्धे च विषये प्रवर्तमानं कथमप्रमाणं स्यादिति।"–लघी० ता० पृ० ४२। अस्याः कारिकाया यद्दिग्नागादिना तैमिरादिकं प्रत्यक्षाभासमुक्तम्, तस्य कथञ्चिदेव प्रत्यक्षाभासतां दर्शयति। दिग्नागादेः प्रत्यक्षाभासस्वरूपप्रदर्शका ग्रन्थास्त्वित्थम्–"भ्रान्तिस्संवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम्। स्मरणञ्चाभिलापश्चेत्यक्षाभासं सतैमिरम्॥ अथ मरीचिकादिषु जलादिकल्पनात् भ्रमज्ञानं प्रत्यक्षाभासम्। संवृतिसत्यं हि स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभासम्। अनुमानं तत्फलञ्च पूर्वानुभवकल्पनान्न प्रत्यक्षम्।"–प्रमाणसमु०, वृ० १।८। "त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम्। अविकल्पकमेकञ्च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम्॥ त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभम्–मरीचिकायां जलाध्यवसायि भ्रान्तिज्ञानम्। संवृतौ विसंवादिव्यवसायसांवृतज्ञानम्, पूर्वदृष्टैकत्वकल्पनाप्रवृत्तं लिङ्गानुमेयादिज्ञानम्। अविकल्पकञ्चैकं प्रत्यक्षाभासम्, कीदृशम्? आश्रयस्य इन्द्रियस्य उपप्लवस्तिमिराद्युपघातः तस्माद्भवो यस्य तत्तथा। एवञ्च चतुर्विधं प्रत्यक्षाभासम्। नन्वविकल्पकं प्रत्यक्षम्, ततस्त्रयमपीदं सविकल्पकत्वादेकः प्रत्यक्षाभासः। तत्किम्? भ्रान्तिज्ञानं मृगतृष्णिकायां जलावसायि। संवृतिमतो द्रव्यादेर्ज्ञानम्। अनुमानं लिङ्गज्ञानम्, आनुमानिकं लिङ्गिज्ञानम्। स्मार्तम् स्मृतिः। आभिलापिकञ्चेति विकल्पप्रभेद आचार्यदिग्नागेनोक्तः।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८८। तुलना–"पीतशङ्खादिषु विज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्, सस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्, ततोऽनुमानं सस्थाने संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणञ्च।"–प्रमाणवार्तिकाल० प्रथमपरि०। (५) तुलना–"यथा यत्र विशदं तथा तत्र प्रत्यक्षम्। यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता॥ (पृ० ६५ B) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ८६ A। "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। सिद्धिवि० टी० पृ० ६९ B.। "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात्।"–अष्टसह० पृ० १६३। "यद्यथैवासंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम्। विसंवाद्यप्रमाणञ्च तदध्यक्षपरोक्षयोः॥"–सन्मति० टी० पृ० ५९५।

(१) तुलना–"येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः सङ्कीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७। "अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम्। तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु॥"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। उद्धृतेयं समग्रा विवृतिः–सन्मति० टी० पृ० ५९५।

प्रत्यक्षाभम् इत्युपलक्षणम्, तेन परोक्षाभमपि यदेकान्तेन वादिनां लोकानां

कारिकार्थ – वा प्रसिद्धं **तत्कथञ्चित् स्याद्** भवेत् **प्रमाणम्** नैकान्तेन तदा-भासम् इत्यभिप्राय.। किं तद् ? इत्यत्राह–**तैमिरादिकमिति**। तिमिरादागतं तैमिरम् आदिर्यस्य आशुभ्रमणादिज्ञानस्य तत्तथोक्तम्। कुत एतद् ? इत्याह– **'यद्यथा'** इत्यादि। यतो यद्विज्ञानं येनैव प्रकारेण **अविसंवादि तद्** विज्ञान तेनैव प्रकारेण **प्रमाणमभि**प्रेतम्। तथा च *"कल्पनापोढमभ्रान्तम्"* [न्यायबि० १।४] इत्यत्र, *"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि"* [न्यायसू० १।४] इत्यत्र, *"सत्सम्प्रयोगे"* [जैमिनिसू० १।१।४] इत्यादौ च यदभ्रान्तादिग्रहणं भ्रान्तनिवृत्त्यर्थं तद् यदि सर्वथा अप्रत्यक्षत्वात् तेनापसार्यते तदा प्रमाणविरोधः। अथ कथञ्चित्, तदा एकान्तहानिरित्युक्तं भवति।

विवृतिव्याख्यानम्– कारिकां व्याचष्टे **'तिमिर'** इत्यादिना। **तिमिरादीनां** कार्यभूतं यद् उपप्लवज्ञानं द्विचन्द्रादिविषयं तत् **चन्द्रादौ** आदिशब्देन धावल्यवर्तुलत्वादिपरिग्रहः तत्र **प्रमाणम्**। कुत एतत् ? **अविसंवादकं** यत. तत्राऽपि। अत्र दृष्टान्तमाह–**यथा** इत्यादि। **यथा तत्** तिमिराद्युपप्लवज्ञान **संख्यादौ** द्वित्वस्थिरत्वादौ **विसंवादकत्वादप्रमाणम्**। यदि नाम तत्तथाविध किमेतावता प्रमाणेनररूपं भविष्यति इत्याशङ्क्य आह–**'प्रमाण'** इत्यादि। **प्रमाणञ्च इतरच्च** अप्रमाणं तयोः **व्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्** संवादविसंवादलक्षणत्वात्। ननु कथं तदेव प्रमाणमितरच्च युक्तं विरोधादिति चेत् ? अत्राह–**'नहि'** इत्यादि। हिर्यस्मात न ज्ञान भवत्कल्पितं निर्विकल्पकवेदनं **यदपि** इत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे, परमार्थेन अर्थाकारताया ज्ञानेऽसभवात्, तदसंभवश्च प्रपञ्चत प्रागेवं तत्प्रतिषेधात् सिद्धः। अभ्यु-

---

(१) "तिमिरमक्ष्णोर्विप्लव, इन्द्रियगतमिद विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमण[illegible], मन्द [illegible] भ्राम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते, तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्, एतच्च विषय[illegible] विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्, वातादिषु हि क्षोभं गतेषु [illegible] [illegible] एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम्। सर्वैरेव च विभ्रमकारणै इन्द्रिय[illegible] [illegible]रिन्द्रियमेव विकर्त्तव्यम्। अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात्। [illegible] [illegible] गृह्यन्ते। आशुनयनानयनादयो विपर्यस्ता। आशुनयनानयने हि [illegible] [illegible]दण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति। हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्था [illegible] [illegible]तयो गृह्यन्ते।"–न्यायबि० टी० पृ १६–१७। (२) [illegible] [illegible]सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्। –न्यायसू० १।१।४। (४) [illegible] [illegible]सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्त [illegible] –जैमिनिसू०

पगम्याप्युच्यते–[1]यथोक्तं ज्ञानं **यदपि वस्त्वनुकरोति** यदाकारं भवति **तत्र** वस्तुनि **प्रमाणमेव, 'नहि'** इत्यभिसम्बन्धः, किन्तु अप्रमाणमपि इत्येवकारार्थः । कुत एतद् ? [2]इत्याह–**'समारोप'** इत्यादि । [1]क्षणिकेऽक्षणिकज्ञान **समारोपः** तस्य **व्यवच्छेदो** निरासः तस्य **आकाङ्क्षणात्** । तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**'कथम्'** इत्यादि । **कथमन्यथा** तदाकाङ्क्षणाभावप्रकारेण **दृष्टे** दर्शनविषयीकृते क्षणभङ्गादौ **प्रमाणान्तरस्य** अनुमानस्य **वृत्तिः** ? न कथमपि इत्यर्थः । नहि समारोपव्यच्छेदात् अन्यत्तस्य[2] फलम् । अथ न समारोपनिषेधार्था तत्रास्य प्रवृत्तिः । किं तर्हि ? ग्रहणार्था, इत्यत्राह–**'कृत'** इत्यादि । **कृतस्य** अनु[3]भवेन अनुभूतस्य क्षणभङ्गादेः अनुमानेन **करणस्य**[3] ग्रहणस्य **अयोगात्**, अन्यथा अनवस्था स्यात्, तद्गृहीतेप्यस्मिन् अनुमानान्तरेण ग्रहणप्रसङ्गात् ।

अथ अर्थदर्शनेन नीलादिकमेव गृहीतं न क्षणभङ्गादिकं तेनायमदोषः, अत्राह–**'तद्'** इत्यादि । **तदेकान्तः** [4]कृतै[4]कान्तः *"एकस्यार्थस्वभावस्य[5]"* [प्रमाणवा० ३।४२] इत्यादिवचनात् । यत्कृतं तत्कृतमेव तस्य **हानेः** हानिप्रसङ्गात् कथं प्रमाणान्तरवृत्तिः ? तद्धानिः कुतः ? इत्यत्राह–**'कथञ्चिद्'** इत्यादि । **कथञ्चित्** नीलादिरूपेण न[5] क्षणभङ्गादिरूपेण यत् **करणं** वस्तुनो ग्रहणं तस्या**ऽनिष्टेः**, अन्यथा गृहीतेतररूपता एकस्य स्यात् । उपसंहारव्याजेन दूषणान्तरमाह–**'तद्'** इत्यादि । यत एव **तत्** तस्मात् **अस्य** अर्थाकारदर्शनस्य **विसंवादोऽपि** वि[6]प्रलम्भोपि न केवलं कथञ्चित् प्रामाण्यमेव । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**अवस्तुनिर्भासात्** । **अवस्तुनो** भवन्मते बहिरन्तर्वाऽसत एव स्थूलाकारस्य **निर्भासाद्** अनुकरणाद् दर्शनं प्रमाणं न स्यादिति भावः । व्यवहारेण प्रामाण्येऽपि न सौगतस्य इष्टतत्त्वसिद्धिः । अथ निरन्वयविनश्वरादिवस्तुस्वरूपाननु[6]करणेऽपि नीलादिसच्चेतनादिवस्तुस्वरूपानुकरणात् तत्प्रामाण्यम्, इत्याह–**'चन्द्रादि'** इत्यादि । **चन्द्रादि** च तद् **वस्तु** च तस्य **निर्भासानाम्** उपप्लवज्ञानसम्बन्धिप्रतिभासानां प्रामाण्यं स्यात् **'प्रमाणम्'** इत्येतदनुवर्त्तमानं लब्धभावप्रत्ययमिह सम्बद्ध्यते । कुत एतद् ? इत्यत्राह–**अविसंवादकत्वात्** । न खलु चन्द्रादिविप्लवज्ञानं धावल्यवर्त्तुलत्वादौ विसंवदति इति । एवं तावत् यत् परेण प्रत्यक्षाभं [7]तैमिरिकादीन्द्रियज्ञानमुक्तं तदपि कथञ्चित् प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापितम् ।

(१) क्षणिकादेरग्रहणादप्रमाण निर्विकल्पकम्, यदि हि क्षणभगादि निर्विकल्पकप्रत्यक्षेणैव गृहीत स्यात्तदा तत्साधनार्थमनुमान किमर्थं प्रयुज्यत इति हृदयम्–आ० टि० । (२) अनुमानस्य । (३) निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण । (४) यद्धि वस्तु तत्सर्वात्मना कृत गृहीत निर्विकल्पेन इत्येकान्त कृतैकान्त । (५) "एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सत स्वयम् । कोऽन्यो भागो न दृष्ट स्यात् य प्रमाणै परीक्ष्यते ।।" –प्रमाणवा० । उद्धृतश्चायम्–न्यायमं० पृ० ९३ । अभि० आलोक० पृ० १५२ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४०५। प्रमेयक० पृ०२३६। सन्मति० टी० पृ० ५०७। न्यायवि० वि०पृ० ४९६ B.। स्या० र० पृ० ५३४। शास्त्रवा० यशो० पृ० १५८ B। (६) अग्रहणेऽपि–आ० टि ।

1 तथोक्त श्र० । 2 इत्यत्राह श्र०, ब० । 3 करणस्यायोगात् ब० । 4 क्षणैकान्त ब० । 5 न च क्षण–श्र० । 6 'विप्रलम्भोऽपि' नास्ति ब० । 7 तैमिरादीन्द्रि–श्र०, ब० ।

साम्प्रतं कल्पनापदेन यत् परेण विकल्पज्ञानं तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साधयन्नाह–

स्वसंवेद्यं[1] विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥ २३ ॥

विवृतिः–सर्वतः संहृत्य[2] चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं[3] स्वलक्षणम्, प्रतिसंहारव्युत्थित[1]चित्तस्य तथैवास्मरणात् । तस्मादविशदमेव अविकल्पकं प्रत्यक्षाभम् । न च विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरार्थप्रत्यक्षाणाम् एकार्थविषयतोपपत्तेः ।

स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनाध्यक्षग्राह्यम् । केषाम् ? इत्याह–**विकल्पानाम्** । किं तद् ?

कारिकार्थ – इत्याह–**विशदार्थावभासनम्** । कुत एतत् ? इत्याह–'**संहृत**' इत्यादि । **संहृता अशेषाश्चिन्ता** यस्यामवस्थायां तस्यामपि **सविकल्पकस्यैव** ज्ञानस्य **अवभासनात्** । ततो यदुक्तं परेण–"*न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता ।*" [प्रमाणवा० २।२८३] इत्यादि, "*प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति[6] ।*" [प्रमाणवा० २।१२३] इत्यादि च[3], तन्निरस्तम्; प्रत्यक्षबाधितत्वात् ।

---

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० ५२१ टि० ४। (२) "भवति । किम् ? स्वसंवेद्यम् स्वेन तत्त्वज्ञानात्मना संवेद्यं ग्राह्यम् स्वसंवेद्यं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः । वेद्यवेदकाकारद्वयाविरोधात् ज्ञानस्य अन्यथा अवस्तुत्वापत्तेः । किं विशिष्टम् ? विशदार्थावभासनम् अर्थस्य परमार्थसतोऽवभासनमवबोधनमर्थावभासनम् विशदं स्पष्टं तच्च तदर्थावभासनं च तत्तथोक्तम् । केषाम् ? विकल्पानाम्, घटोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं गायकोऽयमित्यादिनिश्चयज्ञानानाम् । कुतः ? सविकल्पावभासनात्, विकल्पो जात्याद्याकारावबोधः सह विकल्पेनेति सविकल्पकं तस्यावभासनादनुभवात् । कदा ? संहृताशेषचिन्तायाम्, संहृता नष्टा अशेषाः स्मृत्यादयश्चिन्ता विकल्पा यस्यामवस्थायां सा तथोक्ता तस्याम् । चक्षुरादिबुद्धौ जात्याद्याकारविशेषस्य अवबोधनस्य अप्रतिहतत्वात्, ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमयुक्तमित्यर्थः ।"–लघी० ता० पृ० ४३ । (३) धर्मकीर्तिनोक्तं यत्–शान्तचेतस्कतया चक्षुषा यद्रूपदर्शनं भवति तन्निर्विकल्पकम् । तन्निरस्तरूपस्वलक्षणं क्षणिक-परमाण्वात्मकं प्रतिभासते । तथाहि–"संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥"–(प्रमाणवा० २।१२४) ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्–यतस्तदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते । तुलना–"संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वञ्च स्पष्टं व्यवस्यति ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६ । (४) तुलना–"न हि जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात्, नानावयवरूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसञ्चयरूपस्य ।"–सिद्धिवि०, टी० पृ० ३६ B । (५) "न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता । न विकल्पेनानुबद्धस्य संस्पृष्टस्य ज्ञानस्य स्फुटार्थावभासिताऽस्ति ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८३ । उद्धृतोऽयम्–तत्त्वोप० पृ० ३४ । सिद्धिवि० टी० पृ० २८ B, ९५ A. । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२० । सन्मति० टी० पृ० ५०२ । न्यायवि० वि० पृ० ७७ A । 'न विकल्पानुबन्धस्य'–शास्त्रवा० यशो० पृ० १५९ B । 'निर्विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता'–न्यायबि० टी० टि० पृ० ३५ । (६) 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।'

1 प्रतिसंहार व्यु–ई० वि० । 2 अविकल्पानु–ब० । 3 च' नास्ति ब० ।

इदमपरं व्याख्यानम्–**स्वसंवेद्यं** स्वसंवेदनग्राह्यं यद्रूपम्। केषाम्? **विकल्पानाम्** अनुमानादिमानसज्ञानानाम्। तत्किम्? **विशदार्थावभासनम्** निर्विकल्पकमभ्रान्तम् इत्यर्थः। कदा? **संहृताशेषचिन्तायाम्।** केन रूपेण? 'स्वसंवेद्येन' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। किं कृत्वा? **सविकल्पावभासनात्** तदवभासनमाश्रित्य इत्यर्थः। ततस्ते विकल्पाः कथञ्चित् प्रत्यक्षाभा इति भावः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**सर्वतः**' इत्यादि। **सर्वतः** सजातीयाद् विजातीयाच्च

विवृतिव्याख्यानम्–

संहृत्य त्यक्त्वा। काम्? **चिन्ताम्** परामर्शबुद्धिम्। **स्थितोऽपि** प्रतिपत्ता। केन रूपेण? इत्याह–'**स्तिमितेन**' इत्यादि। **स्तिमितः** स्थिरीभूतः अपरिस्पन्दः **अन्तरात्मा** मनः, तेन[1]। स किं करोतीत्याह–'**चक्षुषा**' इत्यादि। चक्षुर्ग्रहणमुपलक्षणं श्रोत्रादेः, तेन **रूपं पश्यति**, रूपग्रहणमपि रसादीनामुपलक्षणम्। कथम्भूतम्? **संस्थानात्मकं** वर्त्तुलत्वादिधर्मस्वभावम्। पुनरपि कथम्भूतम्? **स्थूलात्मकं** स्थूलस्वभावमेकम्। पुनरपि किंविशिष्टम्? **सूक्ष्मानेकस्वभावम्**, सूक्ष्मोऽनेकः स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम्। ननु संस्थानादिकं गुणत्वाद् द्रव्यस्य न रूपस्य, अस्य गुणत्वेन निर्गुणत्वात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, अनेकान्ते द्रव्यगुणयोरभेदार्पणया रूपस्यापि द्रव्यधर्माऽविरोधात्। ननु चक्षुषा रूपं दृश्यमानम् अन्योन्यविलक्षणानेकांशपरमाणुस्वभाव[2]स्वलक्षणरूपमेव दृश्यते न तु स्थूलादिस्वरूपम्, इत्यत्राह–'**न पुनः**' इत्यादि। **पुनरिति** भावनायाम्, **न स्वलक्षणं** पश्यति, कथम्भूतम्? **असाधारणम्**[3], असाधारणः सजातीयविजातीयव्यावृत्तः[4] **एको**ऽसहायः **अन्तो** धर्मो यस्य तत्तथोक्तम्। कुत एतत्? इत्याह–'**प्रतिसंहार**' इत्यादि। संहारः अशेषविकल्पाभावः, **प्रतिसंहारः** पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः, तमाश्रित्य **व्युत्थितं** प्रतिबुद्धं **चित्तं** यस्य स तथोक्तः तस्य, **तथैव** असाधारणैकान्तप्रकारेण **असरणात्** स्मरणाभावात् स्वलक्षणस्य, अतो न तस्य कदाचिद् दर्शनम् स्थूलादिस्वभावस्यैव[5] तु स्मरणात् सदा दर्शनमि[6]ति।

'**तस्मात्**' इत्यादिना उपसंहारमाह–यस्मान्निर्विकल्पकं ज्ञानं परस्य प्रत्यक्षत्वेनाऽभिप्रेतं न कदाचिद् विशदस्वरूपतया प्रतिभाति **तस्माद् अविशदमेव अविकल्पकं**[7] **प्रत्यक्षाभम्।** ननु विशदेतरज्ञानानां विभिन्नप्रतिभासतया विभिन्नविषयत्वान्न 'स्थूलादि-

प्रत्यात्मवेद्य सर्वेषा विकल्पो नामसश्रय. ॥ यत्तत्प्रत्यक्षमिति प्रसिद्ध तत्कल्पनाया अपोढं द्रष्टव्य कल्पनार्थरहितमित्यर्थ । तच्चैतदीदृश प्रत्यक्षेणैव स्वसवेदनेनैव सिद्धयति । कल्पनारहितस्यार्थस्य रूपस्य सवेदनस्यापरोक्षत्वात् । यदि तु कल्पनास्वभावत्वमस्य स्यात्तथैव प्रकाशेत विकल्पस्यापरोक्षत्वात् । तथाहि –प्रत्यात्मवेद्य सर्वेषा प्राणिना विकल्पो नामसश्रय शब्दससर्गवान् । स यदि स्यादुपलभ्य एव भवेत् ।" –प्रमाणवा० मनोरथ० २।१२३। उद्धृतोऽयम्–अनेकान्तजय० पृ० २०७। न्यायवा० ता० पृ० १५४। सिद्धिवि० टी० पृ० १७ A, ३१ A। प्रमेयक० पृ० ३२। सन्मति० टी पृ० ५०३। न्यायवि० वि० पृ० ४५ A, ८३ B, ४९५ A। स्या० र० पृ० ८२। शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B

1 तेन किं श्र०। 2–स्वभावलक्षणरूपमेव श्र०। 3 'असाधारणम्' नास्ति आ०, ब०। 4–व्यावृत्त य एको–ब०। 5–वस्यैवानुस्म–ब०। 6–मिति यस्मा–ब०। 7 अविकल्प प्र–श्र०।

स्वभाव रूपं पश्यति' इत्यादि युक्तम्, [1]ययोर्विभिन्नप्रतिभासत्व तयोर्विभिन्नविषयत्वं यथा रूपरसज्ञानयो., विभिन्नप्रतिभासत्वञ्च प्रत्यक्षेतरज्ञानयोरिति । तथा च, विशदस्वभावस्य अध्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वं सिद्धम्, अविशदस्वभावस्य तु विकल्पस्य स्थूलादिविषयत्वम् इत्याशङ्क्याह–'**नच**' इत्यादि । **नच नैवं विशदेतरविकल्पयोः** अवग्रहादिस्मरणाद्योः **विषयभेदैकान्तः**, 'परमार्थवस्तुनि विशदविकल्पः प्रवर्त्तते, कल्पिते अविशदविकल्पः' इति, किन्तु विशदविकल्पविषय एव अविशदविकल्पस्य विषयः । यच्च 'विभिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनैकान्तिकमित्युपदर्शयन्नाह–'**प्रत्यासन्न**' इत्यादि । **प्रत्यासन्नश्च इतरश्च** अप्रत्यासन्न अर्थो येषां तानि च तानि **प्रत्यक्षाणि** तेषां विशदेतररूपप्रतिभासभेदसंभवेऽपि **एकार्थविषयतोपपत्तेः** । नहि दूरासन्नपुरुषाणां पादपादिप्रत्यक्षेषु प्रतिभासभेदोऽसिद्धः । नापि विषयाभेदेः, पादपादेरेकस्यैव तद्विषयत्वात् ।

यदप्युच्यते–'[2]प्रत्यक्षे न सन्ति कल्पना उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलब्धे., यद्यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्त सन्नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घट., नोपलभ्यन्ते च प्रत्यक्षे तथाविधाः सत्यः कल्पना इति । न च उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्व तासामसिद्धम्, '[3]नहि इमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिता· स्युः' इति; तद्दूषयन्नाह–

[4]प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥ २४ ॥

---

(१) प्रत्यक्षेतरज्ञाने विभिन्नविषये विभिन्नप्रतिभासत्वात् । (२) [अ]सिद्ध इत्यत्रापि योज्यम्–आ० टि० । (३) "यदाह–न चेमा कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते नेति । नापि तत्प्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकारसमारोपसंशय शक्यते कल्पयितुम् "–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।५० । (४) "न लक्ष्येरन् विविच्येरन् । का ? कल्पना विकल्पा । केषु ? प्रत्यक्षेषु स्वसंवेदनादिषु । किं विशिष्टा अपि ? सत्योऽपि विद्यमाना अपि । पुन कथम्भूता ? प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्यया, उत्पत्ति स्वरूपलाभ व्ययोऽभावप्रत्यय, प्रतिसंविदितौ प्रतिप्राणि समुपलब्धौ उत्पत्तिव्ययौ यासां तास्तथोक्ता । न खलु सत्त्व विना उत्पादव्ययवत्त्वमनुभूयते, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । ननु सतां विकल्पानां प्रत्यक्षवृद्धावनुपलक्षणे किं कारणमिति चेत्, प्रतिपत्तुरन्यत्रप्रणिधानञ्चेति ब्रूम । अत्र निदर्शनमाह–तदित्यादि । तेषां विकल्पानां स्वलक्षण स्वरूप तस्य भेद सजातीयविजातीयव्यावृत्ति स इव तद्वत् । अयमर्थ –यथा प्रतीतोत्पादव्यया सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्ति कल्पनासु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धे तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना अपि न लक्ष्यन्त इति । तर्हि कथमलक्षितानां तासां तत्रास्तित्वसिद्धिरिति चेत् ? न, पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धे । सहृतसकलविकल्पावस्था हि अश्व विकल्पयतो गोदर्शनावस्था, तत्रापि गोदर्शनं निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्ते ।'–न्यायवि० ता० पृ० ८४ । तुलना–"न हि सवित्ते स्पष्टस्पष्टविधप्रभृत्यात्मतया स्वयमसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते वा यत सत्योऽप्यनुपलक्षिता स्यु कल्पनाः ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० ९८ A ।

1 नैव द० । 2–विशदस्वस्य [illegible] । 3 'प्रत्यासन्नेत्यादि' [illegible] । 4 प्रत्यक्षेण सन्ति [illegible], द० । 5 सतोऽप्यनु–[illegible] ।

विवृतिः–सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टेः। प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत्। कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेरन् ?

प्रति प्राणि **संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ** यासां ता. तथोक्ता. ताः तथाविधाः

कारिकार्थ – **सत्योऽपि** विद्यमाना अपि न केवलमसत्यः, **प्रत्यक्षेषु**, बहुवचनं चतुर्विधस्यापि[2] प्रत्यक्षस्य सङ्ग्रहार्थम्। **कल्पना न लक्ष्येरन्।** न च सत प्रतिसंविदिताविर्भावविनाशवतोऽनुपलक्षणं विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थनार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह–'**तत्स्वलक्षणभेदवत्**' इति। तासां कल्पनानां स्वलक्षणं स्वस्वरूपं तस्य भेदः सजातीयाद्विजातीयाच्च[1] व्यावृत्तिः स इव तद्वदिति। एतदुक्त[2] भवति–यथा प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययः सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो[3] न लक्ष्यते, अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थकं स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्त इति।

विवृतिव्याख्यानम्– तद्भेदानुपलक्षणे परकीयां युक्तिं सदूषणां '**सदृश**' इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थं '**प्रतिसंहारैकान्त**' इत्यादिना दर्शयति–**सदृशस्य** समानस्य **अपरस्यापरस्य उत्पत्तिः** तया[3] **विप्रलम्भः** अलातचक्रवत्[4] चक्षुषो भ्रमः **तस्मात्तद्विशेषादर्शिनः** तं प्रकृतं सजातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम्[5] अलातचक्रवन्न पश्यतीत्येवंशीलस्य सौगतस्य **अनवधारणं** यद्[4] भेदानुपलक्षणम्, **तदसमीक्षिताभिधानम्**, कुत एतत् ? इत्यत्राह–'**सर्वथा**[5]' इत्यादि। **सर्वथा** भेदाभेदोभयानुभयप्रकारेण **तासां** कल्पनानां **सादृश्यस्य**[6] **अनिष्टेः** ततः तद्भेदोपलक्षणमेव[7] स्यात् इत्यभिप्रायः। नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेदः सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना इति। ततः **प्रतिसंहारैकान्तः** प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनाविरहैकान्तः '**संभवति न वा**' इति **चिन्त्यमेतत्** पर्यालोच्यमेतत्[8] 'न संभवति' इत्यर्थः। तत्स्वलक्षणभेदवत् तासां[9] तत्रानुपलक्षितानां संभवात्। ननु यद्यपि तासां तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाप[7]संसर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते। अतः अस्या[8]ऽनुपलक्षणात् अभावसिद्धेः[10] सिद्धः प्रतिसंहारैकान्तः; इत्यत्राह–'**कथञ्च**[11]' इत्यादि। **कथञ्च** न कथञ्चिदपि

(१) "स्वहेतोरेव तथोत्पत्ते क्षणस्थितिधर्मता तत्स्वभाव पश्यन्नपि मन्दबुद्धि सत्तोपलम्भेन सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा न व्यवस्यति।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।३४। "ता पुनरनित्यता पश्यन्नपि मन्दबुद्धि नाध्यवस्यति सत्तोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशङ्काविप्रलब्ध सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा।"–प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३७। (२) इन्द्रियमनस्स्वसंवेदनयोगिलक्षणस्य। (३) क्षणभङ्गित्वम्, स्वरूपभेदश्च। (४) उवाड(?)–आ० टि०। (५) भेदम्। (६) कल्पनानाम्। (७) कल्पनाया लक्षणमिदम्; तथाहि–"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना"–न्यायबि० पृ० १४। (८) अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य।

1 सजातीयाच्च व्या–आ०। 2 तदुक्त ब०। 3 तया आ०। 4 तद् श्र०। 5 'सर्वथेत्यादि' नास्ति श्र०। 6 सादृश्यानिष्टे. ब०। 7 ततस्तदभेदोप–आ०। 8 'पर्यालोच्यमेतत्' नास्ति आ०। 9 तत्र ब०। 10–सिद्धे. प्रति–श्र०। 11 कथञ्चेदित्यादि ब०।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेषाध्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, **सर्वथा** स्वरूपवद् बहिरपि **अविकल्पाः**, **पुनरिति** वितर्के **विकल्पेरन्** बहिर्विकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्तप्रसङ्गादिति मन्यते । अथवा तद्बुद्धयः **सर्वथाऽविकल्पाः** सत्यः **कथञ्च न पुनः** पश्चाद् **विकल्पेरन्** विकल्पान कुर्युः । न हि अविकल्पादनुभवाद् अर्थादिव विकल्प. सभवतीत्युक्त सविकल्पसिद्धिप्रघट्टके । ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह–

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।
व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विवृतिः–प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यस्था । तथैव श्रुतज्ञान-तदाभासव्यवस्था ।

कारिकार्थ – **अक्षाणां** चक्षुरादीनां कार्यभूता **धीर्बुद्धिः** अवग्रहाद्यात्मिका मतिः सा च **स्मृतिश्च संज्ञा** च ताभिः, **चिन्तया** तर्केण, **आभिनिबोधिकैः** अनुमानैः व्यक्त्यपेक्ष बहुवचनम् तैः समस्तैर्व्यस्तैश्च **व्यवहाराविसंवादः**, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, **अन्यथा** एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण **तदाभासः** प्रमाणाभासः । नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामाण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादिव्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'प्रत्यक्ष' इत्यादि । विवृतिव्याख्यानम्– **प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः** कारणाद् **अर्थेषु** घटादिषु तेषां प्रत्यक्षादीनां **प्रामाण्यम्**, **अन्यथा** एकान्तवादिकल्पितप्रकारेण **तदाभासव्यवस्था** प्रामाण्याभासव्यवस्था । एतदेव शाब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह–'**तथैव**' इत्यादि । स्मरणादिना अन्यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शाब्द श्रुत श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, **तथैव** व्यवहारसंवाद-विसवादप्रकारेणैव **श्रुतज्ञानं तदाभासश्च** तयोर्व्यवस्था ।

ननु श्रुतज्ञान प्रमाणमेव न भवति तत्कथ तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह–

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥ २६ ॥

(१) यथाहि अभिलाप-अभिलप्यमानजातिगुणक्रियादिरहितान् क्षणिकार्थान् न शब्दसंसर्गी विकल्पो जायते तथैव निर्विकल्पानुभवादपि शब्दशून्यात् न शब्दात्मको विकल्प समुत्पद्येत । (२)ता० ५१ । (३)"प्रमाणमित्यनुवर्तते । तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीना प्रथमान्तत्वम् 'अर्थस्याधिगमो ... निर्णा' इति न्यायात् तत एव व्याख्यायते–अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभि चिन्तयाऽभिनिबोधकैश्च व्यवहा... पादानत्वे अविसंवादादभिना... व्यवहारिणा प्रतीतिसिद्ध ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः ।' –लघी० ता० पृ० ४५ । (४)परोक्षस्य–आ० टि० । (५)परोक्षम्–आ० टि० । (६)"...

१ पश्चाच्च पुन आ० । २ विकल्पैरेव विक–ब० । ३ –निबोधकै ब० । ४ अभिनिबोधिकैः ब०, ई० । ५ तथैव आ० । ६ –संवादप्रकारे–ब० ।

विवृतिः–श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम्, कथमन्यथा द्वीपदेशनदीपर्वतादिकम् अदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निरारेकमविसंवादश्च[1] ?

कारिकार्थ –

श्रुतं धर्मि, **प्रमाणमिति** साध्यो धर्मः **'अविसंवादसिद्धेः'** इत्येतदनुवर्त्तमानं साधनं तेन 'अविसंवादकं श्रुतं प्रमाणं न सर्वम्' इत्युक्तं भवति। तदित्थम्भूतं[2] श्रुतं क्व प्रमाणमित्याह–**अर्थेषु**, न पुनः अभिप्रायमात्रे। किंविशिष्टेषु तेषु ? इत्याह–**द्वीपान्तरादिषु सिद्धं** शास्त्रान्तरे[3] लोके वा प्रसिद्धम्। ननु अर्थाभावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तत्तत्र प्रमाणमित्याह–**'अनाश्वासम्'** इत्यादि। अनाश्वासम् आश्वासाभावं **न कुर्वीरन् क्वचिद्** 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते'[3] इत्यादौ[4] **तस्य**[5] श्रुतस्य **व्यभिचारतो** व्यभिचारमाश्रित्य, इन्द्रियज्ञानेपि[4] अत एव तद्भावापत्तेरित्यभिप्रायः[5]।

श्रुतज्ञानमनुमानादतिरिक्त प्रमाणमनभ्युगच्छतोर्वैशेषिकबौद्धयो पूर्वपक्ष –

ननु श्रुतस्य अनुमानाद् व्यतिरेकाऽसिद्धितः[6] तत्प्रामाण्यप्रसाधनादेव प्रमाणप्रसिद्धेः **'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** इत्याद्ययुक्तम्, तथाहि–शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वाच्च, यद् यत् तथाविधं तत्तदनुमानान्न व्यतिरिच्यते यथा कुतश्चिदनुमानाद् अनुमानान्तरम्, तथाविधश्चायं शब्द इति। न चास्य तदभिन्न-

---

इत्यनुवर्तते। आप्तवचनादिनिबन्धन मतिपूर्वमर्थज्ञान श्रुत तच्च प्रमाण सिद्धमेव। केन सिद्धमिति चेत् ? व्यवहाराविसवादादित्युच्यते प्रत्यक्षादिवत्। केषु ? अर्थेषु प्रमेयेषु। कीदृक्षु ? द्वीपान्तरादिष, प्रकृतो जम्बूद्वीप तस्मादन्ये धातकीखण्डादयो द्वीपान्तराणि तान्यादिर्येषा कालस्वभावव्यवहिताना ते तथोक्ता तेषु देशकालाकारविप्रकृष्टेष्वित्यर्थः। न हि श्रुतादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानो रसायनादिक्रियाया विसवाद्यते ग्रहणादौ वा मलयादिप्राप्तौ वा। ततोऽनाश्वासमविश्वास न कुर्वीरन् परीक्षका। कुत ? क्वचित्तद्व्यभिचारत। क्वचिन्नदीतीरे मोदकादिप्रतिपादने तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विसवाद तस्मात्। नहि क्वचिद्विसवादादप्रामाण्ये ज्ञानस्य सर्वत्राप्रामाण्य शङ्कनीय प्रत्यक्षादिष्वपि तथात्वप्रसङ्गात् सकलव्यवहारविलोपापत्ते।"–**लघी० ता० पृ० ४६।**

(१) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादौ, नैयायिक-मीमासकादिग्रन्थे वा। (२) श्रुतमर्थे। (३) तुलना–"एतत्साख्यपशो कोऽन्य सलज्जो वक्तुमीहते। अदृष्टपूर्वमस्तीति तृणाग्रे करिणा शतम्।"–**प्रमाणवा० १।१६७। प्रश० व्यो० पृ० ५८१।** "अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च"–**परीक्षामु० ६।५३।** (४) क्वचिद् द्विचन्द्रादिज्ञाने चाक्षुषप्रत्यक्षस्य व्यभिचारोपलम्भात् एकचन्द्रविज्ञानेऽपि अविश्वासप्रसङ्गात्। (५) अनाश्वासापत्तेः। (६) "शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भाव समानविधित्वात्। यथा प्रसिद्धसमयस्य असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेव शब्दादिभ्योऽपीति। श्रुतिस्मृतिलक्षणोप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्ष ·"–**प्रश० भा० पृ० ५७६।** "अन्तर्भावव्यवहारे च समानविधित्वात् समानलक्षणयोगित्वादिति हेतूपन्यासः ·" –**प्रश० व्यो० पृ० ५७७।** "प्रसिद्धः समयोऽविना-

---

1 **'च'** नास्ति ई० वि०, ज० वि०। 2–**म्भूतं क्व** आ०। 3 **शास्त्रे लोके** श्र०। 4 **इत्याधारस्य श्रुतस्य** श्र०। 5 **तस्य व्यभि–**ब०। 6–**काप्रसि–**श्र०, ब०।

विषयत्वमसिद्धम्; शब्दानुमानयोरविशेषतः सामान्यगोचरचारित्वात्[१]। सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वाच्च, न हि शब्दः असम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात्, सम्बद्धञ्च त प्रतिपादयन्नसौ तल्लिङ्गतां नातिवर्त्तेत। नापि तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमसिद्धम्, धूमादिवत् शब्दस्य अर्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्। अन्वयव्यतिरेकवत्त्वाच्च[३], यो हि शब्दो यत्रार्थे लोके दृश्यते स तस्य वाचकः यत्र तु न दृश्यते न तस्य वाचक.। पक्षधर्मत्वोपेतत्वाच्च, तथाहि–विवक्षितः शब्दः अर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दवत्, यथा अयं धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। यथा च प्रत्यक्षतो धूम दृष्ट्वा वह्निः प्रतीयते तथा शब्दं श्रुत्वा तदर्थोऽपि। दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्च अभ्यस्तविषये द्वयोरप्यनयोरविशिष्टम्[४]।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाण न बाह्ये व्यभिचारात्। न हि 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानां बाह्येऽर्थे प्रामाण्यमुपपद्यते प्रतीतिविरोधात्। तस्याञ्च[६] एतस्य लिङ्गतैवेति ॥छ॥

भावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्धयनुस्मरणाभ्या लिङ्गदर्शन यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवम्भूताया प्रसिद्धेरनुस्मरणञ्च ताभ्या यथाऽतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमान तथा शब्दादिभ्योऽपीति। तावद्धि शब्दो नार्थ प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्येव नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्ग स्यात् "–प्रश० कन्द० पृ० २१४। "अत्र हेतुमाह–समानविधित्वात्। समानप्रवृत्तिकारणत्वात् विजातीयलक्षणानाक्रान्तत्वादिति यावत्। अप्रतिबन्धकत्वे अप्रामाण्यमेव, साक्षात्प्रतिबन्धकत्वे प्रत्यक्षान्तर्भाव, परम्पराप्रतिबन्धकत्वे चानुमान एवान्तर्भाव "–प्रश० किर० पृ० ३०९।

(१) तुलना–"परोक्षविषयत्व हि तुल्य तावद् द्वयोरपि। सामान्यविषयत्व च सम्बन्धापेक्षणाद् द्वयो ॥"–न्यायम० पृ० १५२। (२) "यद्यप्येते पदार्था मिथ ससर्गवन्तो वाक्यत्वादिति व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चानैकान्तिकम्, पदै स्मारितार्थससर्गवन्ति तत्स्मारकत्वादित्यादौ साध्याभाव, तथापि आकाङ्क्षादिमद्भि पदै स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थवदिति स्यात्।"–प्रश० किर० पृ० ३०९। वैशे० उप० पृ० ३३१। "पदानि स्मारितार्थविज्ञप्तिपूर्वकाणि योग्यतासत्तिमत्त्वे सति ससृष्टार्थपरत्वात् गामभ्याजेति परत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवदित्यनुमानादेव साध्यसिद्धे।"-न्यायली० पृ० ५५। (३) तुलना–"अन्वयव्यतिरेकौ च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत्। यो यत्र दृश्यते शब्द स तस्यार्थस्य वाचक ॥"–न्यायम० पृ० १५२। (४) लिङ्गशब्दयो। (५) "वचोभ्यो निर्विशेषेभ्योऽपि विवक्षैवानुमीयते। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्या तद्धेतु सा हि निश्चिता ॥१५१५॥ विवक्षायाञ्च गम्याया विस्पष्टैव त्रिरूपता। पुसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यत ॥१५२१॥ पादपार्थविवक्षावान् पुरुषोऽय प्रतीयते। वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात् पूर्वावस्थास्वह यथा ॥१५२२॥"–तत्त्वस० पृ० ४४१-४३। "प्रथम गोशब्दादुच्चरिताद्वक्तु ककुदादिमदर्थविवक्षा गम्यते स्वसन्ताने गोशब्दोच्चारणस्य तदर्थविवक्षापूर्वकत्वोपलम्भात्, तदर्थविवक्षया चार्थानुमानम्। अयञ्चात्र प्रयोग–पुरुषो धर्मी ककुदादिमदर्थविवक्षावान् गोशब्दोच्चारणकर्तृत्वात् अहमिवेति।"–प्रश० कन्द० पृ० २१५। (६) विवक्षायाम्। 'विवक्षाया[illegible]धिगमे लिङ्गत्वात्। यथाहि [illegible] सर्वं शब्दोऽनुमानम्, [illegible] विवक्षाभिधानेऽपि इति।'–प्रश० व्यो० पृ० ५७८।

1–हेतुत्वान्नहि द०। 2 तत्र लिङ्गता आ०, भ०। [illegible] आ०, ब०। 4 यत्र तत्र भ०।

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं श्रुतज्ञानस्य अनुमानादिभ्योऽतिरेकेण प्रामाण्यसमर्थनम्–

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[1]–'शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते' इत्यादि, तदसमीचीनम्, अभिन्न[2]विषयत्वस्य अनयोरसिद्धेः । अर्थमात्रं हि शब्दस्य विषयः, अनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी इति । किञ्च, अनयो[3]र्विषयाभेदः सामान्यमात्रगोचरचारितया, तद्वन्मात्रविषयतया, सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं सामान्यं नाम–सकलव्यक्त्यनुस्यूतं नित्यैकत्वादिधर्मोपेतम्, अन्यव्यावृत्तिरूपं वा ? पक्षद्वयमप्येतदनुपपन्नम्, उभयरू[4]पस्यापि सामान्यस्य सामान्यपरीक्षावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात्, अन्यापोहमात्रविषयत्वस्य अनयोः[5] प्रतिपेत्स्यमानत्वाच्च । नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे चानयोः मीमांसकमतानुप्रवेशः सौगतस्य स्यात्, स[6] चानुपपन्नः, तद्वि[7]षयत्वस्याप्यग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । अथ तद्व[8]न्मात्रविषयतया तयोर्विषयाभेदोऽभिप्रेतः, नन्वेवं प्रत्यक्षस्यापि अनुमानत्वप्रसङ्गः तथा[9] तदभेदस्यात्राप्यविशेषात्, सकलप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वप्रतिपादनात् ।

एतेन सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतयाप्यनुमानत्वं शब्दस्य प्रत्याख्यातम्; प्रत्यक्षस्यापि सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया अनुमानत्वानुषङ्गात् । तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत् तत्प्रतिपत्तिहेतुः नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ तत्र[10] सम्बद्धस्यास्य[11] प्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषेऽपि सामग्रीभेदाद् अनुमानाद्भेदः; कथमेवं शब्दस्यापि अतो[12] भेदो न स्यात् तद[13]विशेषात् ? तन्न अभिन्नविषयत्वात् शब्दस्यानुमानत्वं युक्तम् ।

नापि अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वात्, शब्दे[14] तदसंभवात् । पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयरूपा हि अनुमाने सामग्री, सा च शब्दे न संभवति । तथाहि–न तावत् शब्दस्य[15]

(१) पृ० ५३० पं० १३ । तुलना–"विषयोऽन्यादृशस्तावद् दृश्यते लिङ्गशब्दयो । सामान्यविषयत्वञ्च पदस्य स्थापयिष्यति । धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् । न तावदनुमान हि यावत्तद्विषय न तत् ॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५–५६ । "अर्थमात्र हि शब्दस्य गोचरोऽनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मीति ।"–स्या० र० पृ० ६२० । "विषयस्तावद्विसदृश एव पदलिङ्गयो । तद्वन्मात्र पदस्यार्थ इति स्थापयिष्यते । अनुमान तु वाक्यार्थविषयम् अत्राग्निरग्निमान् पर्वत इति प्रतिपत्ते ।"–न्यायम० पृ० १५३ । (३) अनुमानशब्दयो । तुलना–"अपि चानयोर्गोचराभेद सामान्यमात्रविषयतया तद्वन्मात्रगोचरतया वा भवेत् ?"–स्या० र० पृ० ६२० । (४) पृ० २८५, पृ० २८९ । (५) शब्दानुमानयो । (६) मीमासकमतानुप्रवेश (७) नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वस्यापि । (८) सामान्यवदर्थविषयतया । (९) सामान्यवदर्थविषयत्वेन विषयाभेदस्य । (१०) स्वविषये । (११) प्रत्यक्षस्य । (१२) अनुमानात् । (१३) सामग्रीभेदस्य समानत्वात् । (१४) तुलना–"तस्मादननुमानत्व शब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत् । त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९८ । स्या० र० पृ० ६२० । (१५) तुलना–"अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्ष कस्मान्न कल्प्यते । प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते । पक्षे धूमविशेषे च सामान्य हेतुरिष्यते । शब्दत्व गमकन्नात्र गोशब्दत्व निषेत्स्यते । व्यक्तिरेव विशेष्याऽतो हेतुश्चैका प्रसज्यते ॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६४ । "ननूक्त

1 शब्दानुमा–ब० । 2–रूपस्यापि सामान्यपरी–ब० ।

पक्षधर्मत्व संभवति, धर्मिण एवात्र कस्यचिदसभवात्। अत्र हि धर्मी शब्दः, अर्थो वा स्यात्? न तावत् शब्दः; तस्यैव धर्मित्वे तस्यैव च हेतुत्वे हेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गात्। अथ शब्दत्व हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्, न, शब्दत्वस्य सामान्यस्वभावस्य भवन्मते परमार्थसतोऽसभवात्। कल्पितस्य तु सत्त्वेऽपि न गमकत्वम् "*अर्थो ह्यर्थं गमयति*" [ ] इति च भवद्भिरेव अभ्युपगमात्।

एतेन 'शब्दोऽर्थवान्' इत्याद्यनुमान प्रत्याख्यातम्। अस्तु वा शब्दत्वं हेतुः, तथापि अत. शब्दस्य धर्मिणः किम् अर्थविशिष्टत्वं साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वम्, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्व वा? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; अचलानलयोरिव शब्दार्थयोः धर्मिधर्मभावाऽसभवात्, आश्रितो हि धर्मो भवति, न चार्थः शब्दाश्रितो विभिन्नदेशत्वात्। यद् यतो विभिन्नदेश न तत्तत्राश्रितं यथा सह्ये विन्ध्यः, शब्दाद् विभिन्नदेशश्चार्थ इति। यत्र च आश्रयाश्रयिभावो नास्ति न तत्र धर्मधर्मिभावः यथा चित्रकूटकश्मीरयोः, आश्रयाश्रयिभावाभावश्च शब्दार्थयोरिति। न चार्थविशिष्ट शब्द कश्चिदबालिशो मन्यते, शब्दात् पृथगेवार्थस्य आबाल सुप्रसिद्धत्वात।

अथ अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वमस्य साध्यते; तदप्यसत्; तदर्थतया शब्दप्रयोगाऽसंभवात्। न हि तच्छक्तिसिद्धये शब्दः प्रयुज्यते श्रूयते वा, किन्तु अर्थसिद्धये।

अथ अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्, सिद्धाऽसिद्धविकल्पानुपपत्तेः। असिद्धया हि अर्थप्रतीत्या तद्वत्त्व शब्दस्यायुक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। सिद्धायां त्वस्यां किमन्यदनुमीयताम्? स्वसंविदितस्वभावायामस्यां विसंवादाभावात् इत्यस्यानुमानस्य वैफल्यम्। न च धूमाद्यनुमानेऽप्ययं दोषस्तुल्य इत्यभिधातव्यम्, तत्र कार्यकारणभावा-

यथानुमाने धर्मविशिष्टो धर्मी साध्य एवमिहार्थविशिष्ट शब्द साध्यो भवतु, मैवम्, शब्दस्य हेतुत्वात्। न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति।"–न्यायम पृ० १५३। स्या० र० पृ० ६२०।

(१) सौगतमते। (२) अन्यापोहरूपस्य। (३) तुलना–"अर्थो ह्यर्थं गमयतीति भवद्भिरेव स्वीकरणात्।"–स्या० र० पृ० ६२०। (४) सौगतैरेव। (५) तुलना–"शब्दस्य धर्मिण किमर्थविशिष्टत्व वा साध्यते, प्रत्यायनशक्तिविशिष्टत्व वा, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्व वा?"–न्यायम० पृ० १५३। स्या० र० पृ० ६२०। (६) तुलना–"शैलज्वलनयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावाभावात्।'–न्यायम० पृ० १५३। "पर्वतपावकयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावासम्भवात्।'–स्या० र० पृ० ६२१। (७) शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावो नास्ति आश्रयाश्रयिभावाभावात्। (८) अर्थप्रत्यायनशक्तिप्रतीत्यम्। तुलना–'न शक्तिसिद्धये शब्द बध्यते श्रूयतेऽपि वा। अर्थमर्थमेवाम् [illegible] च वदन्ति च।" –न्यायम० पृ० १५४। स्या० र० पृ० ६२१। (९) तुलना–"सिद्धयसिद्धविकल्पानुपपत्ते। असिद्धयापि तद्वत्त्व शब्दस्यार्थधिया कथम्। सिद्धाया तत्प्रतीतौ वा किमन्यदनुमीयते।–न्यायम० पृ० १५४। "तदर्थप्रतीति शब्दोऽभ्यासान्यथा वा भवेत्।'–स्या० र० पृ० ६२१। (१०) स्वप्रतीतौ। (११) तुलना–'न हि तत्र अग्निधूमेन ज्ञायते अपि तु गम्यते। इह त्वर्थप्रतीतिर्नियते शब्देनैतस्यामेव सिद्धासिद्धविकल्पावसर।–न्यायम० पृ० १५४।

1 इति भव–[illegible], ब०। 2 अचलानिल–आ०। 3 शब्दार्थयोर्धर्मता–ब०। 4 सैवार्थ ब०। 5 शेष इत्य–आ०।

भावात्। न खलु धूमेन अग्निर्जन्यते किन्तु गम्यते, शब्देन तु अर्थप्रतीतिर्जन्यते अतः अस्यामेव सिद्धासिद्धविकल्पावतारः। तन्न शब्दस्य धर्मित्वं घटते।

नाप्यर्थस्य, तेन सह शब्दस्य भवद्भिः सम्बन्धानभ्युपगमात्। न हि शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिरूपो वा सम्बन्धः सौगतैरभ्युपगम्यते। "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा" [ ] इत्यादिवचनविरोधानुषङ्गात्। न च अर्थेनाऽसम्बद्धोपि शब्दः तस्य धर्मः अतिप्रसङ्गात्। अथ अर्थप्रतीतिहेतुत्वात् तद्धर्मोऽसौ; न, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–पक्षधर्मत्वसिद्धौ हि शब्दस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च पक्षधर्मत्वसिद्धिरिति। तत्प्रतीतिहेतुत्वेन चास्य तद्धर्मत्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मतासिद्धेः तत्प्रभवापि प्रतीतिः आनुमानिक्येव स्यात्। तन्न पक्षधर्मत्वं शब्दे संभवति।

नाप्यन्वयव्यतिरेकौ, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्। नहि यत्र देशे

---

(१) अर्थेन स्वलक्षणात्मकेन। (२) बौद्धैः। (३) "उक्तञ्च–न ह्यर्थे शब्दाः तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्नित्यादि।"–न्यायप्र० वृ० पृ० ३५। "यथाहि वह्नौ धूमो जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्ध उत्तरभावेन भवति एवं नार्थे जन्यजनकसम्बन्धसम्बद्धा शब्दा उत्तरभावेन सन्ति। एतेन तदुत्पत्तिसम्बन्धः समर्थ (शब्दार्थ) योर्नास्ति इत्याचष्टे। स एवार्थ आत्मा येषां शब्दानां ते तदात्मानः, अनेन तादात्म्यसम्बन्धोऽपि नास्तीत्याह तस्मिन्निति। अर्थे प्रतिभासमाने प्रत्यक्षेण परिच्छिद्यमाने प्रतिभासेरन् प्रदीप्येरन् शब्दा इति। अयमभिप्रायः–द्विविधो हि सम्बन्धः सौगतानां तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्च। तत्र तादात्म्यलक्षणो वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिव तदुत्पत्तिलक्षणस्त्वग्निधूमयोरिव। शब्दार्थयोर्द्विविधोऽपि सम्बन्धोऽपि न घटते। तथाहि–न तावत्तादात्म्यलक्षणः। तादात्म्ये हि शब्दार्थयोः शब्दो वा स्यादर्थो वा न द्वयम्। तथा शब्दार्थयोस्तादात्म्ये क्षुरिकामोदकादिशब्दोच्चारणे मुखपाटनपूरणादिप्रसङ्गः, न च दृश्यते। तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि न घटते। यतः केयं तदुत्पत्तिर्नाम? किं शब्दादर्थोत्पत्तिरर्थाद्वा शब्दोत्पत्तिः? यदि शब्दादर्थोत्पत्तिः स्यात्तदा विश्वमदरिद्रं स्यात् हिरण्यादिशब्दोच्चारणादेव तदुत्पत्तेः। नाप्यर्थाच्छब्दोत्पत्तिः, ताल्वादिकारणकलापानन्तरमुत्पत्तिदर्शनात्।"–न्यायप्र० वृ० प० पृ० ७६। "उक्तञ्च धर्मकीर्तिना–न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासेरन्।"–अनेकान्तजय० पृ० ११९। उद्धृतमिदम्–अष्टसह० पृ० ११८। सिद्धिवि० टी० पृ० ७५ B। स्या० र० पृ० ६२१। षड्द० बृह० पृ० १६। "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्नवद् व्यवहारः स्यादित्युक्तम्।"–न्यायवा० ता० पृ० १३३। (४) अर्थधर्मोऽसौ शब्दः। (५) तुलना–"गमकत्वाच्च धर्मत्वं धर्मत्वाद् गमको यदि। स्यादन्योन्याश्रयत्वं हि तस्मान्नैषापि कल्पना॥"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ७७। "प्रतीतिजनकत्वेन तद्धर्मत्वात् पक्षधर्मतायां पूर्ववदितरेतराश्रयत्वम्। पक्षधर्मादिबलेन प्रतीतिः, प्रतीतौ च सत्यां पक्षधर्मादिसम्भव इति।"–न्यायम० पृ० १५४। स्या० र० पृ० ६२१। (६) शब्दस्य। (७) चक्षुरादिजन्या। (८) तुलना–"अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते॥ व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं प्रतीयते। यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः। न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चयः। न तावत् देशकालाभ्यां तत्राऽर्थो नावगम्यते।"–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५-८६। "अन्वयव्यतिरेकावपि न स्तः शब्दार्थयोः, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्। नहि यत्र देशे शब्दः तत्रार्थः। यथोक्तं भाष्ये–नहि क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे भवत इति।"–न्यायम० पृ० १५५। स्या० र० पृ० ६१२।

१ सिद्धेश्च– ता०। २–त्वाद्धर्मोऽसौ आ०।

शब्दः तत्रार्थः "मुखे हि शब्द उपलभ्यते भूमावर्थः" [शाबरभा० १।१।५] इति भवद्भिरेवाभ्युपगमात्। नापि व्यवहारिणां तदन्वयाध्यवसायोऽस्ति; न खलु यत्र यत्र पिण्डखर्जूरादिशब्दं शृण्वन्ति तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थोऽस्तित्व व्यवहारिणः प्रतिपद्यन्ते। यत्र हि धूम. तत्रावश्यं वह्निरस्तित्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता भवति[2] धूमस्य, नत्वेव देशकृतः शब्दस्य अर्थेनाऽन्वयोऽस्ति। नापि कालकृतः, न हि यत्र काले शब्दः तत्र तदर्थोऽवश्य सभवति, रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्त्तमानाः तदर्थस्तु भूतो भविष्यंश्चेति कुतोऽर्थानां शब्दान्वेतृत्वम्? अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभाव. तत्पूर्वकत्वात्तस्य।

यदप्युक्तम्[3]–'यो हि शब्दो यत्रार्थे दृष्ट.' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; एवंविधाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्वाचकत्वस्य अस्माभिरभीष्टत्वात्। न चैवविधान्वयव्यतिरेकत्वमात्रेण अस्यानुमानत्व वाच्यम्, प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गात् तन्मात्रस्य तत्राप्यविशेपात्। यत्र हि घटसद्भावोऽस्ति तत्र तत् प्रत्यक्ष भवति, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्न भवतीति।

यदपि–'सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनुपपन्नम्, अननुमानेऽपि संशयोपमानादौ अस्य सद्भावेनाऽनैकान्तिकत्वात्, अननुमानत्वञ्च उपमानादेः प्रागेव प्रसाधितम्।

यच्चान्यदुक्तम्–'शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणम्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, तत्र तत्प्रामाण्यस्य '**वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्**' [लघी० का० ६४] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपत्स्यमानत्वात्।

ततः शब्दो नानुमानं तद्विभिन्नविषयत्वात् तद्विभिन्नसामग्रीसम्बन्धित्वाच्च प्रत्यक्षवत्। इतोऽप्यननुमानमसौ पुरुषैर्यथेष्टं नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यत्पुनरनुमानं न तत्तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्द, तस्मान्नानुमानमिति। न च साधनाऽव्यतिरेकोऽयं दृष्टान्त' इत्यभिधातव्यम, तथा तैर्नियुज्यमानस्यास्य साध्यप्रतीत्यजनकत्वात। न हि कृतकत्व नित्यत्वसाध्येच्छया धूमत्वादिकं वा जलादिसाध्येच्छया नियुज्यमान तत्प्रतीतिहेतु', अन्यथा न कश्चिद् विरुद्धो हेतुः स्यात। तथा.

(१) बौद्धादिभिः। (२) व्यतिरेकस्य। (३) पृ० ५३१ प० ५। (४) जैनैः। (५) शब्दस्य। (६) प्रत्यक्षेऽपि। तुलना–"अन्वयव्यतिरेकोपपत्तिः प्रत्यक्षेऽपि यथा यत्र घटस्तत्र घटज्ञानम्, यत्र नास्ति तत्र तदभाव इति।"–न्यायवा० पृ० २६१। (७) पृ० ५३१ प० ४। (८) तुलना–"सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वादनुमानं शब्द इति, नन्न, अनैकान्तात्। [illegible] इति।"–न्यायवा० पृ० २६०। (९) सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वस्य। (१०) पृ० ८९। (११) पृ० ५३२ प० १०। (१२) विवक्षायाम्। (१३) तुलना– [illegible] शब्द इति [illegible]।"–न्यायमं० पृ० १५५। (१४) तुलना–'[illegible]'–न्यायभा० २।१।५०-५६। '[illegible]'–मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १९। (१५) [illegible]।

1 यत्र हि धूम–ब०। 2 –ति [illegible]–ब०। 3 –भावे [illegible]–ब०। 4 शब्दो दृष्टार्थे [illegible] इत्यादि ब०।

शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनैवाऽव्यभिचारिज्ञानजनकत्वात्, यत् पुनरनुमानं न तत्तथा तज्जनकम् यथा कृतकत्वादि, तथा[1] तज्जनकश्च शब्द इति। कृतकत्वादिसाधनस्य हि साध्येऽव्यभिचारिज्ञानजनने अविनाभाव एव निमित्त नाप्तोक्तत्वमनाप्तोक्तत्वं[2] वा शब्दस्य तु आप्तोक्तत्वमेवेति।

'शब्द विकल्पवासनामात्रजन्यत्वादर्थाऽसस्पर्शी, अत एव च न तत्प्रामाण्यम्' इति बौद्धस्य पूर्वपक्ष –

सत्यम्, अननुमानस्वभाव एवायं शब्द· अप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे हि तस्य अनुमानेऽन्तर्भावप्रयास· फलवान्। न चास्यैतदस्ति, वस्तुनि सम्बन्धाऽसंभवात्। सम्बन्धो हि शब्दार्थयोर्भवन् तादात्म्यलक्षण:, तदुत्पत्तिस्वभावो वा भवेत्? न तावत् तादात्म्यलक्षण:, विभिन्नदेशतया तयो. प्रतीयमानत्वात्, मुखे हि शब्द: प्रतीयते भूमावर्थ इति। तत्तादात्म्ये च क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणप्रसङ्गः। नापि तदुत्पत्तिस्वभाव; 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानाम् अर्थाभावेऽप्युत्पत्तिप्रतीते:, स्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च। अतोऽर्थाऽसस्पर्शिनः शब्दा न बाह्यार्थे प्रतीतिं जनयितुमल तत्कथं प्रामाण्यभाजो भवेयुः? ते हि विकल्पमात्राधीनजन्मानः स्वमहिम्ना तिरस्कृतबाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते'[3] इति।

(१) तुलना–"आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थे सम्प्रत्यय। २।१।५२। स्वर्ग अप्सरस उत्तरा कुरव सप्त द्वीपा समुद्रो लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्यय। किर्तहि? आप्तैरयमुक्त शब्द इत्यत सम्प्रत्यय, विपर्ययेण सम्प्रत्ययाभावात् नत्वेवमनुमानमिति।"–न्यायभा०, न्यायवा०, २।१।५२। (२) "नान्तरीयकताभावाच्छब्दाना वस्तुभिस्सह। नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचका॥ अधुना नैव बाह्येऽर्थेऽस्य प्रामाण्यमित्याह–अपि चेत्यादि। वस्तुभि स्वलक्षणै सह शब्दनान्तरीयकताया अविनाभावस्याभावात् तेभ्य शब्देभ्यो नार्थसिद्धिर्न बाह्यवस्तुनिश्चय, यस्मात्ते वक्त्रभिप्रायसूचका।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।२१२। "वचसा प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वपि वस्तुषु। प्रतिपादयता तानि येनैषा स्यात्प्रमाणता॥ भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्यं न तदुद्भव। व्यभिचारान्न चान्यस्य युज्यते व्यभिचारिता॥ न हि वाच्यै वस्तुभि सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणो वा प्रतिबन्धो वचसामस्ति येन तानि वस्तूनि प्रतिपादयतामेषा वचसा प्रामाण्य स्यात्। तत्र तावन्न तादात्म्यलक्षणप्रतिबन्धोऽस्ति भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो हेतुभ्य। तत्र भिन्नाक्षग्रहण भिन्नेन्द्रियेण ग्रहणम्। तथाहि–श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते अर्थस्तु चक्षुरादिना। आदिशब्देन कालदेशप्रतिभासकारणभेदो गृह्यते' "–तत्त्वस० पृ० ४४०। न्यायप्र० वृ० पं० पृ० ७६। तुलना–"मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति।"–शाबरभा० १।१।५। (३) तुलना–"पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभाव।" –न्यायसू० २।१।५३। "स्याच्चेदर्थेन सम्बन्ध क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्।" –शाबरभा० १।१।५। शास्त्रवा० श्लो० ६४५। अनेकान्तजय० पृ० ४२ A। न्यायकु० पृ० १४४ टि० ३। (४) "विकल्पवासनोद्भूताः समारोपितगोचरा। जायन्ते बुद्धयस्तत्र केवल नार्थगोचरा। अनादि समानजातीयो यो विकल्पस्तेन आहिता या वासनाशक्तिस्तत उद्भूता उत्पन्ना यथागम समारोपिता य आकाशाद्याकारा तद्गोचरा त त्प्रतिभासिन्य एव केवल गता तत्र बाह्यत्वेन कल्पितेषु आकाशादिषु जायन्ते। न तु ता बुद्धयोऽर्थगोचरा नाकाशादिस्वलक्षणविषया।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२८८।

1 तथा तज्जनकश्च श्र०। 2 नाप्तोक्तत्वं वा श्र०। 3–यूथमास्ते ब०।

[1]पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानाम्, इत्यप्ययुक्तम्, दोषवतोऽपि मूकादेः[1] पुरुषस्य अनुच्चारितशब्दस्य ईदृशाऽसत्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसंभवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि [2]तानुत्पादयन्त्येव। अतः शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम्। [3]नन्वाप्ता [3]नेदृशि वाक्यानि प्रयुञ्जन्ते, प्रयुञ्जाना वा नाप्ता. स्युः, इत्यप्यसत्; एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः। यदि हि वक्तृदोषाभावे [4]अमून्यपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां [4]वक्तृदोषजत्वं शाब्दज्ञानस्य स्यात्। आप्तैस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विद्दोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चितः-सत्स्वपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः। न च[5]आप्तत्वम् ईदृग्वाक्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते, तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात्। तथाहि–[5]आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति। अतः शब्दस्यैवैष महिमा न वक्तृदोषाणाम्।

किञ्च, [6]बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानं जनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते, अतोऽर्थाऽसंस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मानः सिद्धाः। तदुक्तम्–

"[7]विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्दयोनयः।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥" [ ] इति।

---

(१) तुलना–"इहापि पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानामिति चेत्, मैवम्, दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्येदृशविप्लवोत्पादनपाटवाभावात्। असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानि विप्लवमावहन्त्येवेति शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम्।" –न्यायमं० पृ० १५७। स्या० र० पृ० ७००। (२) बाह्यार्थशून्यान् मिथ्याप्रत्ययान्। (३) तुलना–"न चाप्ता नेदृशानि वाक्यानि प्रयुञ्जते प्रयुञ्जाना वा नाप्ता स्युरिति चेत्, एतदप्यनुन्दरम्, एवमपि हि वक्तृदोषाणामयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धि, व्यतिरेकासिद्धे "–स्या० र० पृ० ७०१। (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादीनि। (५) तुलना–"उक्तञ्चैतदुम्वेकेन–यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषय वाक्य प्रयोक्तव्य यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति तथार्थव्यभिचार स्फुट इति।"–चित्सु० पृ० २६५। (६) तुलना–"अपि च न च[illegible] बाधकज्ञानोदये सति न विरमति, विपरीतवेदनजन्मन शुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्याप्यदर्शनात्। शब्दस्तु [illegible] बाध्यमानो यथैवोच्चरित [illegible] इति तदैव तथाभूत भूयोऽपि [illegible] पार्श्वमुत्पादयत्येवेति वि[illegible]धीनजन्मत्वाच्छब्दानामेवेद रूप यदर्थानंस्पर्शित्व नाम्नेति।"–न्यायमं० पृ० १५८। (७) तेषामन्योन्यसम्बन्धे–न्यायमं० पृ० १५८। 'तेषामन्य[illegible]'–तत्त्वसङ्ग्र० [illegible] पृ० १६७ A। 'तेषामन्योन्यसम्बन्धात्'–सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४४४ B। '[illegible] नार्थं शब्दा स्पृशन्त्यपि'–न्यायावतार० टी० पृ० ४४। रत्नाकरावता० पृ० १। स्या० म० पृ० १३५। प्रमेयरत्ना०–स्या० र० पृ० ७०१। पुरातन–अनेकान्तजय० पृ० ३३। अनेकान्तवाद० पृ० ८७। सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B। शास्त्रवा० यशो० पृ० ४०२ A।

1 इत्यपि–ज्ञा०। 2 प्रतारकादेः ज्ञा०, म०। 3 नेदृश्वा–म०। 4 सम्दोष–म०। 5 [illegible]

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं शब्दस्य परमार्थसदर्थवाचकत्वस्य प्रथक् प्रामाण्यस्य च समर्थनम्–

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[१]–'वस्तुनि सम्बन्धासंभवात्' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्, तत्र[२] शब्दस्य तद[३]भावाऽसंभवात्। तथाहि–शब्दः अर्थेन सम्बद्ध एव त प्रकाशयति प्रतिनियतत[४]त्प्रत्ययहेतुत्वात् चक्षुर्वत्। शाब्दप्रत्ययो वा सम्बद्धाभ्यां शब्दार्थाभ्यां जन्यते प्रतिनियतप्रत्ययत्वात् दण्डीत्यादिप्रत्ययवत्। ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धस्याऽपास्तत्वात् कथं सम्बद्धत्वम्? इत्यप्यनुपपन्नम्, [५]तदभावेऽप्य[६]नयोः योग्यतालक्षणसम्बन्धसंभवात्। तदभावे [७]सोऽपि कथम्? इत्यप्यवाच्यम्; चक्षूरूपयोस्तद[८]भावेऽपि तद्दर्शनात्। न खलु च[९]क्षुषो घटादिरूपेण सह तादात्म्यं तदुत्पत्तिः संयोगो वा सौगतैरभ्युपगम्यते प्रतीतिविरोधानुषङ्गात्, अप्राप्यकारित्वक्षतिप्रसङ्गाच्च। नाप्यस्य[१०] तद[११]भावे रूपप्रकाशनयोग्यतास्वभावसम्बन्धस्याप्यसंभवः; श्रोत्रादिवत् [१२]तस्यापि तद[१३]प्रकाशकत्वप्रसङ्गात्।

ननु योग्यतातः शब्दस्य अर्थवाचकत्वे अर्थस्यापि शब्दवाचकत्वं किन्न स्यात्? इत्यप्यसाम्प्रतम्, प्रतिनियतशक्तित्वाद् भावानाम्। योग्य[१४]ता हि शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत्। नच ज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणभावात् [१५]तत्प्रतिनियमो न योग्यतात इत्यभिधातव्यम्; [१६]तत्कार्यकारणभावस्य **'अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः'** [लघी० का० ५४] इत्यत्र विस्तरतो निराकरिष्यमाणत्वात्। कथञ्चैव चक्षूरूपयोः घटप्रदीपयोश्च प्रकाश्यप्रकाशकभावप्रतिनियमः स्यात्? योग्यतातोऽन्यस्य कार्यकारणभावादिप्रतिबन्धस्य[4] तत्र[१७] तत्[१८]प्रतिनियमहेतोरसंभवात्।

ननु योग्यतावशात् शब्दो [5]यद्यर्थं प्रतिपादयति तदा भूभवनवर्द्धितोत्थितस्यापि

(१) पृ० ५३६ पं० ६। (२) वस्तुनि। (३) सम्बन्धाभाव। (४) अर्थ। (५) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावे–आ० टि०। तुलना–"सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य।"–न्यायसू० २।१।५५। "स च वाच्यवाचकावलम्बन सङ्केतज्ञानमेव।"–प्रश० व्यो० पृ० ५८५। "तादृशो वाचक शब्द सकेतो यत्र वर्तते।"–न्यायवि० का० ४३२। "अन्ये त्वभिदधत्येवं वाच्यवाचकलक्षण। अस्ति शब्दार्थयोर्योगस्तत्प्रतीत्यादितस्तत॥"–शास्त्रवा० श्लो० ६५२। "सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतव।"–परीक्षामु० ३।१००। "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिवन्धन शब्द इति।"–प्रमाणनय० ४।११। (६) शब्दार्थयो। (७) योग्यतालक्षणोऽपि। (८) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि। तुलना–"नयनरूपयो क्वचित्तदभावेऽपि तदुपलम्भात्।"–स्या० र० पृ० ७०२। (९) चक्षूरूपयो संयोगाभ्युपगमे। (१०) चक्षुप–आ० टि०। (११) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावे–आ० टि०। (१२) चक्षुप–आ० टि०। (१३) रूपस्य–आ० टि०। (१४) तुलना–"सहजा स्वाभाविकी योग्यता शब्दार्थयो प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्ति ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत्।"–प्रमेयक० पृ० ४२८। स्या० र० पृ० ७०२। (१५) ज्ञाप्यज्ञापकप्रतिनियम। (१६) ज्ञानार्थयो कार्यकारणभावस्य। (१७) चक्षूरूपयो घटप्रदीपयोश्च। तुलना–"इतरथा ज्ञानमेव प्रकाशक ज्ञेयमेव च प्रकाश्य नपुनर्ज्ञानमिति नियमस्यानटनात।"–स्या० र० पृ० ७०२। (१८) प्रकाश्यप्रकाशकप्रतिनियम।

1 इत्यन–आ०। 2 चक्षुपा ब०, श्र०। 3–ङ्गात् ना–ब०। 4–स्य तत्प्रति–ब०। 5 यथार्थं ब०।

प्रतिपादयेत् विशेषाभावात्, इत्यप्यपेशलम्, सङ्केतसचिवयोग्यतावशात्तस्य तत्प्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्, भूभवनवर्द्धितोत्थित प्रति चास्य तथाविधत्वाभावान्न तत्प्रतिपादकत्वप्रसङ्गः। सङ्केतो हि 'इदमस्य वाच्यम् इद वाचकम्' इत्येवविधो वाच्यवाचकयोर्विनियोग., स यस्यास्ति तस्यैव शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति नान्यस्य, अन्यथा धूमादिसाधनमप्यस्यै अग्न्यादिसाध्यं गमयेदविशेषात्, अविनाभावो हि साधनस्य साध्यगमकत्वे अङ्गम्, स च सर्वदा सर्वं प्रत्यस्यास्ति। येनैव साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीत तं प्रत्येव साधन साध्यस्य गमकमित्यभ्युपगमे येनैव शब्दार्थयोः सङ्केतो गृहीतः न प्रत्येव शब्दोऽर्थस्य वाचकः इत्यभ्युपगम्यतामविशेषात्।

ननु सङ्केतः पुरुषेच्छाकृतः, नच तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्, अतोऽर्थोपि वाचकः शब्दस्तु वाच्यः किन्न स्यात् तदिच्छाया निरङ्कुशत्वात्? इत्यप्यसुन्दरम्; तत्सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिबन्धनत्वाद् धूमाग्निवत्। यथैव हि धूमाग्न्योर्नैसर्गिक एवाविनाभावः सम्बन्धः, तद्व्युत्पत्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा शब्दार्थयोः स्वभाविक एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्धः, तद्व्युत्पत्तये तु सङ्केतः समाश्रीयते। सांसिद्धिकार्थशक्तिव्यतिक्रमे च चक्षुरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशकशक्तेर्व्यतिक्रमः स्यात्। तथा च चक्षुःप्रदीपादीना प्रकाश्यत्व घटादीनां तु प्रकाशकत्व स्यात्। प्रतीतिविरोधोऽन्यत्रापि न काकैर्भक्षितः।

ननु शब्दस्य स्वाभाविकी शक्ति. किमेकार्थप्रत्यायने, अनेकार्थप्रत्यायने वा? यद्येकार्थप्रत्यायने, तदा सङ्केतशतैरपि ततोऽर्थान्तरे प्रतीतिर्न स्यात् धूमादनग्निप्रतीतिवत्।

---

(१) शब्दस्य। (२) अर्थवाचकत्वस्वीकारात्। (३) तुलना–"स पुनरस्य समय? अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमित्यभिधानाभिधेयनियमनियोग, तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दार्थसम्प्रत्ययो भवति।" –न्यायभा० २।१।५५। "अभिधानाभिधेयनियमनियोग समय उच्यते।"–न्यायम० पृ० २८१। "अन्यार्थस्याय वाचक इत्यर्थकल्पन समय"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३०। "इद पदममुमर्थं बोधयतु इति अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति वेच्छा।"–तत्त्वचि० शब्दप्रि०। स्या० र० पृ० ७०२। (४) पुरुषस्य। (५) भूभवनगर्वर्द्धितोत्थितस्य। (६) पुरुषेण। (७) अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति। (८) तुलना–"न हि पुरुषकृत सङ्केत न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्पते, तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्। अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति। न चैवमस्ति, न हि [illegible] पुरुषो धूमात तत्प्रत्येति [illegible] तत [illegible] प्रतिपद्यते। तत्र यथा धूमाग्न्यो नैसर्गिक एवाविनाभावो नाम सम्बन्ध [illegible] तु भूयोदर्शनादि निमित्तमाश्रीयते एव शब्दार्थयो नैसर्गिक एव [illegible] सम्बन्ध तद्व्युत्पत्तये तु वृद्धव्यवहारप्रसिद्धिमाश्रयन्ते।"–न्यायम० पृ० २८१। [illegible] –स्या० र० पृ० ७०[illegible]। (९) अविनाभावग्रहणाय। (१०) [illegible] (११) [illegible] (१२) तुलना– [illegible] –प्रमाणवा० १।२२८।

१ प्रतिपादयत [illegible]। २–[illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]

अथ अनेकार्थप्रत्यायने, तदा युगपत् ततोऽनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिर्न स्यात्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्,, सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु प्रत्यायनशक्तिसभवात् । कथमन्यथा अनवगतसम्बन्धे शब्दे प्रयुक्ते सन्देह. स्यात्–'कमर्थं प्रतिपादयितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः' इति । नचैवं सकृत्सर्वार्थप्रतिपत्तिप्रसक्तेः प्रतिनियतेऽर्थे ततः प्रवृत्तिर्न स्यादित्यभिधातव्यम्; प्रतिनियतसङ्केतवशात्तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते, यथा मालवकादौ कर्कटिकाशब्दस्य फलविशेषे, गुर्जरादौ तु योन्यामिति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे, विशिष्टाञ्जनादिवशात् अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च विवक्षितरूपाभावेऽपीति । तयो यथा अनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुपो दूरतिमिरादिप्रतिनियतसहकारिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्वं तथा अनेकार्थप्रत्यायनयोग्यस्यापि शब्दस्य प्रतिनियतसङ्केतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमविरुद्धम् ।

अथ मतम्–चक्षुरादिवत् शब्दस्य अर्थे योग्यतालक्षणसम्बन्धसंभवे तद्वदेव अतः सङ्केतानपेक्षा अर्थप्रतीतिः स्यात्, तदप्यसङ्गतम्; तस्य ज्ञापकतया तत्सापेक्षस्यैव अर्थ-

(१) तुलना–"सर्वाकारपरिच्छेद्यशक्तेऽर्थे वाचकेऽपि वा । सर्वाकारार्थविज्ञानसमर्थे नियम कृत ॥"–मी० श्लो० पृ० २०२ । "सर्वशब्दाना सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्देशे केनचिदर्थेन व्यवहार । अत एव चानधिगतसम्बन्धे श्रुते सति सन्देहो भवति कमर्थं प्रत्याययितुमनेन शब्द प्रयुक्त· स्यादिति ।"–न्यायमं० पृ० २४२ । "समयापेक्षण चेह तत्क्षयोपशम विना । तत्कर्तृत्वेन सफल योगिना तु न विद्यते ॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दाना चित्रशक्तित । वाच्यस्य च तथाऽन्यत्र नागोऽस्य समयेऽपि हि ॥"–शास्त्रवा० श्लो० ६६३-६४ । "तथा च सर्वे शब्दा प्राय सर्वार्थवाचकशक्तिमन्त सर्वे चार्था सर्वशब्दवाच्यशक्तियुक्ता इति विचित्रक्षयोपशमादिसहकारियोगत तथा तथा प्रवर्तन्ते इति न काचिद्बाधा"–अनेकान्तजय० पृ० ३६ A । "सर्वस्य शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिवैचित्र्यसिद्धे । पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिनानात्वात् ।"–अष्टसह० पृ० १४३ । "शब्दस्यानेकार्थप्रतिपादने नैसर्गिकशक्तिसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्ते । "–स्या० र० पृ० ७०३ । (२) शब्दात् । (३) शब्दानाम् । (४) तुलना–"तथाहि–यवशब्द आर्यैर्दीर्घशूके पदार्थे प्रयुज्यते, ते हि यवशब्दात् दीर्घशूक पदार्थं प्रतिपद्यन्ते म्लेच्छास्तु प्रियङ्गु प्रतिपद्यन्ते । एवं त्रिवृत्शब्दमृषय स्तोत्रीयानवके प्रयुञ्जते, आर्यास्तु लताविशेषे ।"–न्यायवा० ता० पृ० ४२० । "एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियत सङ्केतोऽनुभूयते, यथा गुर्जरादौ चोरशब्दस्य तस्करे द्राविडादौ पुनरोदन इति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुष प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरसामर्थ्याच्चि सन्निहिते रूपे विशिष्टाञ्जनादिवशादन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिदूषणवलाच्च विवक्षितरूपाभावेऽपीति ।"–स्या० र० पृ० ७०३ । (५) "एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेया ।"–स्या० म० पृ० १७८ । (६) पीतरूपाभावेऽपि शङ्खे पीतज्ञानजनकत्वम् । (७) चक्षुर्वदेव । (८) शब्दात् । (९) शब्दस्य । तुलना–"वाच्यवाचकलक्षणो हि शब्दार्थयो प्रतिवन्धः, तथाहि वाच्यस्वभावा अर्था वाचकस्वभावाश्च शब्दा इति तज्ज्ञप्तिवाद । यदैवं

1 कथमर्थं श्र० । 2 मालवादौ ब०, श्र० । 3-शनयोग्य-श्र० । 4 अर्थस्य प्रती-श्र० ।

प्रतीत्यङ्गतोपपत्तेः । यज्ज्ञापकं तत् ज्ञाप्ये प्रतिपन्नप्रतिबन्धमेव प्रतीतिमुत्पादयति यथा धूमादि, ज्ञापकश्च शब्द इति । चक्षुरादीनां तु कारकत्वात् युक्तं स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षाणां तदुत्पादकत्वम् । स्वयं हि प्रतीयमानम् अप्रतीतार्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापकमुच्यते । तद्रूपता[1] च शब्दादेरेवास्ति न चक्षुरादेः, अतः स[2] एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धं स्वार्थं गमयति । शक्तिस्तु स्वाभाविकी यथा रूपप्रकाशने चक्षुरादेः तथा अर्थप्रकाशने शब्दस्य ।

यदप्युक्तम्[3]–'अतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यतः[4] किमाप्तप्रणीतस्य शब्दस्य अर्थासंस्पर्शित्वं प्रसाध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ? तत्राद्यपक्षे प्रत्यक्षबाधा, आप्तप्रणीतात् 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थप्रत्ययप्रतीतेः[5] ततः प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः । अथाऽनाप्तप्रणीतस्य, तर्हि तस्यैव अर्थाऽसंस्पर्शित्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा काचादिदोषदुष्टचक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्य[7] अर्थासंस्पर्शित्वोपलम्भात् गुणवच्चक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्यापि[8] तत्स्यात्[9] ।

एतेन तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः, आप्तानाप्तप्रणीतशब्दव्यतिरिक्तस्य शब्दमात्रस्याऽसंभवात् । नन्वाप्तप्रणीताद् अङ्गुल्यादिवाक्याद्[10] विपर्ययज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः शब्दस्यैष[11] महिमा न वक्तृदोषाणाम्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; आप्तैरेवंविधवाक्याऽप्रयोगात्[12][13] । यत्तु–'आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति' इत्याद्युक्तम्[13], तत्र[14] निषेधपरत्वेनास्यैव[15] यथार्थ-

कथन्न सङ्केतमन्तरेणैव ततस्तदवगतिः ? उच्यते–तथाविधक्षयोपशमाभावात् । न हि रूपप्रकाशनस्वभावोऽपि दीपोऽसति चक्षुषि तत्प्रकाशयति, चक्षुःकल्पश्च क्षयोपशमः, स च सङ्केतनपरश्चरणभावनादिजन्यस्तथोपलब्धेः ।"–अनेकान्तजय० पृ० ३६ A । "शब्दस्य ज्ञापकत्वात् । ज्ञापकस्य धूमादेरेतद्रूपं यत्सम्बन्धग्रहणापेक्षं स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम् । तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामग्र्यन्तर्गतत्वान्न व्युत्पत्त्यपेक्षा भवन्ति । शक्तिस्तु नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशिनी दीपादेस्तथा शब्दस्यार्थप्रतिपादने ।"–न्यायम० पृ० २४१ । (१०) सङ्केतग्रहणसहितस्य ।

(१) ज्ञापकरूपता । (२) शब्दादि । (३) पृ० ५३६ पं० १२ । (४) तुलना– यत किमाप्तनिगदितशब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वं "–स्या० र० पृ० ७०३ । (५) तुलना–"भवदेतदेवं यदि न कदाचिदपि यथार्थं शब्दः प्रत्ययमुपजनयेत् । अर्थसंस्पर्शित्वमेवास्य स्वभावः इत्यवगम्यते । भवति तु गुणवत्पुरुषभाषितान्नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थो यथार्थप्रत्ययः तत प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः ।"–न्यायम० पृ० १५८ । (६) आप्तोक्तशब्दात् । (७) शुक्ले शङ्खे पीताकारावभासिन । (८) शुक्ले शङ्खे शुक्लत्वावभासकस्यापि । (९) अर्थासंस्पर्शित्वलक्षणं मिथ्यात्वं स्यादिति भाव । (१०) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिवाक्यात् । (११) यत् [illegible] योत्पादकत्वम् । (१२) तुलना–"गुणवतामेवंविधवाक्योच्चारणप्रसङ्गाभावात् ।–न्यायम० पृ० १५८ । "आप्तैरेवंविधवाक्यस्याप्रयुक्तेः "–स्या० र० पृ० ७०४ । (१३) पृ० ५३७ पं० ११ । (१४) तुलना–"यत्तु आप्तोऽपि क्वचिदनुशास्ति स्म यथा [illegible] शतमास्ते इति, तत्र [illegible] यथार्थत्वमेव । अर्थपक्षे तु निषेधे [illegible] न स्यादिति । [illegible] स्त्वोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः पुरुषदोषानुषङ्गेन [illegible] ।–न्यायम० पृ० १५८ । स्या० र० पृ० ७०४ । (१५) अङ्गुल्यादिवाक्यस्य [illegible] ।

1 [illegible] । 2–[illegible] । –[illegible] ।

तैव, वाक्यै[1]कदेशस्यापि उदाहरणविवक्षायाम् इतिकरणावच्छिन्नस्य शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थतैव। अर्थपरत्वे तु निषेधेनैकवाक्यतैव न स्यात्। तस्माद् आप्तप्रणीतशब्दानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः, किन्तु पुरुषदोषवशात्।

नन्वाप्तैरेवंविधवाक्याप्रयोगेऽपि सन्दिग्धो व्यतिरेकः 'किं शब्दाभावादयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, वक्तृदोषाभावाद्वा', इत्यप्यविचरितरमणीयम्, [2]अनुच्चारितशब्दस्यापि दोषवतः पुरुषस्य हस्तसंज्ञादिना प्रतारकत्वप्रतीतेः। न च हस्तसंज्ञादिना शब्दानुमानं ततो वितथप्रत्यय इत्यभिधातव्यम्; [3]तथाप्रतीत्यभावात्। नद्यादिवाक्यादुत्पन्ने च क्वचिद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन् अनासादितफलः पुरुषः पुरुषमेवाधिक्षिपति 'दुरात्मनाऽनेन विप्रलब्धोऽस्मि' इति, न शब्दम्। ननु पुरुषस्य गुणवतो दोषवतो वा शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापारः, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति [4]तद्विपर्यये शब्दस्यैव व्यापारो न वक्तृदोषाणाम्; इत्यप्ययुक्तम् [5]यतो गुणवद्वक्तृप्रणीतात् 'तरङ्गिणीतीरे फलानि सन्ति' इति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽप्येवं शब्दस्यैव व्यापारः स्यात् तद्वक्तुः तदुच्चारणमात्रे चरितार्थत्वात्। अतः कथमेकान्ततः शब्दस्याऽर्थासंस्पर्शित्वमेव स्वरूपं स्यात्?

किञ्च, विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यावद्भिः सह [6]तद्भावभावित्वमवगम्यते तावतां तत्र व्यापारः, [7]सा चात्र शब्दोच्चारणे सत्यपि अनाप्तप्रयोगितां विना न दृष्टेति शब्दवत्तदा[8]शयस्यापि तत्र[9] व्यापारः।

[10]किञ्च[2], चक्षुरादिवदर्थप्रकाशकत्वमात्रं शब्दस्य[3] स्वरूपं न पुनः [4]यथार्थप्रकाशक-

(१) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति वाक्यस्य एकदेश 'अङ्गुल्यग्रे' इत्यादिरूप.। (२) तुलना–"अनुच्चरितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्भक। हस्तसज्ञाद्युपायेन जनयत्येव विप्लवम् ॥" –न्यायमं० पृ० १५८। स्या० र० पृ० ७०४। (३) तुलना–"इत्थमप्रतीते। उत्पन्ने च क्वचिन्नद्यादिवाक्याद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन्ननासादितफल प्रवृत्तबाधकप्रत्यय पुरुषमेवाधिक्षिपति 'धिग् हा तेन दुरात्मना विप्रलब्धोऽस्मि' इति न शब्दम्, प्राप्तफलश्च पुसामेव श्लाघते साधु साधुना तेनोपदिष्टमित्यत पुरुषदोषान्वयानुविधानात्तदभावकृत एव आप्तेषु तूष्णीमासीनेषु विभ्रमानुत्पाद इति न सन्दिग्धो व्यतिरेक। पुरुषदोषकृत एव शब्दाद्विप्लवो न स्वरूपनिबन्धन।"–न्यायमं० पृ० १५८। स्या० र० पृ० ७०४। (४) अर्थप्रतीतिविपर्यये। (५) तुलना–"हन्त तर्हि वक्तरि गुणवति सति सरितस्तीरे फलानि सन्तीति सम्यक्प्रत्ययेऽपि शब्दस्यैव व्यापारात् पुरुषस्य उच्चारणमात्रे चरितार्थत्वान्नैकान्तत शब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वमेव स्वभाव।"–न्यायम० पृ० १५९। (६) कार्यकारणभाव। (७) विपर्ययज्ञानोत्पत्ति। (८) अनाप्ताभिप्रायस्य। (९) विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ व्यापार। तुलना–स्या० र० पृ० ४०७। (१०) तुलना–"युक्तञ्चैतदेव यत् दीपवत् प्रकाशत्वमात्रमेव शब्दस्य स्वरूप न यथार्थत्वमयथार्थत्व वा, विपरीतेऽप्यर्थे दीपस्य प्रकाशत्वानतिवृत्ते। अय तु विशेष–प्रदीपे व्युत्पत्तिनिरपेक्षमेव प्रकाशकत्व शब्दे तु व्युत्पत्त्यपेक्षमिति। प्रकाशात्मनस्तु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीने यथार्थेतरत्वे। अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवचसि बाधितेऽपि पुन पुनरुच्चर्यमाणे भवति विभ्रम प्रकाशकत्वतद्रूपानपायात्, न त्वेष शब्दस्य दोष। पदार्थाना तु ससर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पत। वक्तुरेव प्रमादोऽय न शब्दोऽत्रापराध्यति।"–न्यायम० पृ० १५९। स्या० र० पृ० ७०४।

1–मेन रूप श्र०। 2 किञ्चक्षुरा–ब०। 3 शब्दस्वरूप श्र०। 4 यथार्थप्रकाश–आ०।

त्वमयथार्थप्रकाशकत्वं वा, तस्य गुणदोषोपनिबन्धनत्वात्। सति हि नैर्मल्यादिगुणे चक्षुर्यथावद्वस्तु प्रकाशयति काचादिदोषे तु सति अयथावत्, एवं शब्दोऽपि वक्तृगुणदोषापेक्षः सत्येतररूपं वस्तु प्रकाशयति। अत एव अङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवचसि बाध्यमानेऽपि पुनः पुनरुच्चार्यमाणे भवति भ्रान्तिः प्रकाशकत्वस्य तत्स्वरूपस्य बाधकशतोपनिपातेऽप्यनपायात्।

यच्चान्यैरुक्तम्–'नेन्द्रियवदुदास्ते' इति, तदप्युक्तिमात्रम्, बाधकप्रत्ययप्रवृत्तावपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिथ्याज्ञानजनकत्वप्रतीतेः। न च तत्प्रवृत्तौ तत् तद्विषयं विज्ञानं नोत्पादयतीत्यभिधातव्यम्, प्रतीतिविरोधात्।

यदप्युक्तम्–'विकल्पयोनयः शब्दाः' इत्यादि, तत् सविकल्पकसिद्धौ कृतोत्तरत्वादुपेक्षते। ततः प्रमाणं शब्दः अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षादिवत्, स्वपरपक्षसाधनदूषणसमर्थत्वाच्च सम्यग्ज्ञानवत्, तथा सकलतत्त्वविप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात् योगिज्ञानवत्। न खलु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाऽखिलार्थानां शब्दादन्यतो विप्रतिपत्तिनिवृत्तिः संभवति तदुपायान्तराऽसंभवात्। लिङ्गं तदुपायान्तरं संभवतीति चेत्, न; तत्प्रतिबद्धलिङ्गस्य कस्यचिदप्यप्रतिपत्तेः। ततो योग्यतालक्षणसम्बन्धात् शब्दस्यैव तत्र प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति ॥ छ ॥

'शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धसद्भावान्नास्ति पुरुषकृतः संकेतः' इति मीमांसकस्य पूर्वपक्षः-

नन्वस्तु शब्दस्यार्थे सम्बन्धः, स तु अनित्यः, नित्यो वा स्यात्? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, अनित्यस्य सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात्। समयो हि क्रियमाणः प्रतिपुरुषम्, प्रतिशब्दम्, प्रत्यर्थं सर्गादौ सकृदेव क्रियते प्रकारान्तरासंभवात्। उक्तञ्च–

"समयः प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा।
क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित् ॥"

[मी० श्लो० सम्बन्धा० ८। १२

प्रथमपक्षे पुरुषेण प्रतिपुरुषं सम्बन्धः क्रियमाणः किमेकः क्रियते, अनेको वा?

यद्येक[१]:, कथं कृत[1]कः[२]? पूर्वमप्यस्य[३] सद्भावतोऽकृतकत्वप्रसिद्धेः। नहि सतो वस्तुनः पुरुषाज्जन्म युक्तम्, अभिव्यक्तेरेवा[४]तस्तस्योपपत्तेः। अथानेकः; कथमेकार्थसङ्गतिः? यथा गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थः केस[2]रादिमानश्वशब्दस्येति।

किञ्च, प्र[५]तिपुरुष सम्बन्धकरणे किमेकस्तत्कर्त्ता, बहवो वा? यद्येकः; तदासौ देशान्तरव्यवस्थितानां कथं समयं विदध्यात्? तत्र तत्र गत्वाऽसौ करोति चेत्, तर्हि पुरुषायुषेणापि [६]तत्करणानुपपत्तिः ते[७]षामनन्तत्वात्। अथैकः सन्निहितेषु बहुषु समयं क[3]रोति, ते च कृतसमया अन्येषां तं[८] करिष्यन्ति, तेऽप्यन्येषाम्, इत्येवं सर्वत्र व्यवहारः उपपत्स्यते; तन्न; तेषां[९] प्रयोजनाभावतः सर्वत्र गमनानुपपत्तेः, अतो यत्रैव ते न गच्छन्ति तत्र व्यवहारो न प्राप्नोति। अथ बहवः समयस्य कर्त्तारः, तर्हि सकलदेशकालेषु एकरूपता समयस्य न प्राप्नोति, त[१०]स्यां निमित्ताभावात्। न च[११] ते सर्वे सभूय पर्यालोच्य वा एकमेव समयं कुर्वन्ती त्यभिधातव्यम्, परस्परानपेक्षाणां स्वातन्त्र्येण समयं कु[१२]र्वतां त[१३]था तत्करणानुपपत्तेः।

प्रतिशब्दमपि उच्चार्य समयः क्रियेत, अनुच्चार्य वा? न तावदनुच्चार्य[4]; अ[१४]स्य निराश्रयत्वप्रसङ्गात्। न च निराश्रयः सम्बन्धो युक्तः अतिप्रसङ्गात्। नापि उच्चार्य, पुरुषायुषेणापि त[१५]था सम्बन्धस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्।

किञ्च, प्र[१६]तिशब्दमुच्चार्य अभिनवः सम्बन्धो विधीयते, प्राक्तन एव वा? अभिनवस्य विधाने कथम[१७]स्य अर्थप्रत्यायनसामर्थ्यावगतिः? त[१८]दनवगतौ च सम्बन्धकरणानुपपत्तिः। प्राक्तन[१९]स्य तु पूर्वमपि सत्त्वात् क[5]रणानुपपत्ति। एकस्य हि वस्तुनो ज्ञप्तिरेव अस[२०]कृदावर्त्तते न तूत्पत्तिः।

नापि प्रत्यर्थं सम्बन्धः कर्त्तुं शक्यः; अर्थानामानन्त्याद् विदूर[२१]त्वाच्च। सर्गादा-

(१) "प्रत्येक वाऽपि सम्बन्धो भिद्येतैकोऽथवा भवेत्। एकत्वे कृतको न स्यात् भिन्नश्चेद्भेदधीर्भवेत्॥ एकत्वे तावत्कृततैव न स्यात्, न हि एकस्य बहुभि क्रिया संभवतीत्याह एकत्व इति।" –मी० श्लो० न्याय० र० सम्बन्धा० श्लो० १४। "एकत्वपक्षे जातिवद्देशकालभेदानुयायित्वात्कृतको न स्यात्, नित्य एव स्यादिति यावत्।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ६२२। (२) गगनैकपरमाण्वादीनामेकत्वस्य नित्यत्वाविनाभूतत्वात्, एकत्व ह्येकरूपत्वम्, तच्च क्रियमाणत्वे विनश्यति–आ०टि०। (३) सम्बन्धस्य। (४) पुरुषव्यापारात्। (५) "यथाऽस्मिन्देशे सास्नादिमति गोशब्द एव सर्वेषु दुर्गमेष्वपि। बहव सम्बन्धार कथ संगंस्यन्ते? एको न शक्नुयात्। अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्त्ता।"–शाबरभा० १।१।५। (६) सङ्केतकरणानुपपत्ति। (७) देशान्तराणाम्। (८) समयम्। (९) अन्यपुरुषाणाम्। (१०) सङ्केतस्य एकरूपतायाम्। "बहुभि कृतसम्बन्धे न चैको गमको भवेत्।"–मी०श्लो० पृ० ६४४। ११) "समुच्चयोऽपि नैतेषा व्यवहारेऽवगम्यते।"–मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १७। (१२) पुरुषाणाम्। (१३) मिलित्वा सङ्केतकरणे प्रयोजनाभावात्। (१४) सङ्केतस्य। (१५) प्रतिशब्दमुच्चार्य उच्चार्य। (१६) तुलना–"प्रत्युच्चारण प्राक्तन एव क्रियते, नूतनो वा? नवस्य तावत्क्रियमाणस्य कथमर्थप्रत्यायनसामर्थ्यमवगम्यते तदवगतौ वा किं तत्करणेन? पूर्वकृतस्य तदकृतत्वादेव पुन. करणमनुपपन्नम्। एकस्य वस्तुनो ज्ञप्तिरसकृदावर्तते नोत्पत्ति।"–न्यायम० पृ० २४२। "प्रत्युच्चारणनिर्वृत्तिर्न युक्ता व्यवहारत।"–तत्त्वसं० का० २२७४। (१७) नूतनसङ्केतस्य। (१८) अभिनवसङ्केतस्य अर्थप्रत्यायनशक्तिपरिज्ञानाभावे। (१९) सङ्केतस्य। (२०) पुन पुनः। (२१) विप्रकृष्टदेशवर्तित्वात्।

1 कृतः श्र०। 2 केशरा–आ०। 3 करोतीति ते च आ०। 4 –च्चार्य निरा–श्र०। 5 कारणानुप–आ०।

वेपि सङ्केतसम्बन्धकरणमयुक्तम्, तत्राखिलवाच्यवाचकानां सङ्केतसम्भवाभावात्। शब्दार्थव्यवहारविकल्पस्य कालस्य चाऽसम्भवात्। अतो नित्य एव शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः ।

तत्प्रतीतिश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्या, तथाहि–यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपादयति 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थोऽन्योऽव्युत्पन्नसङ्केतः शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टोपलम्भादनुमानतो गवादिविषयां प्रतिपत्तिं प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या च शब्दस्यैव तत्र वाचिकां शक्तिं परिकल्पयतीति। उक्तञ्च–

"शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥
अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम् ।" [मी०श्लो०सम्बन्धा०१४०-४१] इति।

तन्निरसनपुरस्सरम् पुरुषकृतादनित्यसङ्केतवशादेव शब्दानाम् अर्थप्रतिपादकत्वसमर्थनम्—

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्[1]–'अनित्यो नित्यो वा' इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; तत्सम्बन्धस्य[2] नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपत्तितो नित्यत्वानुपपत्तेः। यद्[3] यद्रूपतया विचार्यमाणं नोपपद्यते न तत् तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगदद्वैतरूपतया, नित्यरूपतया विचार्यमाणो नोपपद्यते च शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति। न चास्य तद्रूपतया[4] विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वमसिद्धम्, तथाहि–तत्सम्बन्धस्य नित्यत्वं स्वभावतः[1], सम्बन्धिनित्यत्वाद्वा[5] स्यात्? यदि स्वभावतः[6]; तर्हि सर्वदा सर्वस्य अर्थमसौ प्रकाशयतु[2] स्वरूपतस्तस्य[3] प्रकाशकत्वात्। नहि प्रदीपः स्वरूपतो रूपप्रकाशकः सन् कञ्चित्प्रति तत्[8] प्रकाशयति कञ्चिन्नेति नियमो दृष्टः। अथ सङ्केतव्यक्तोऽसौ[9] तत्प्रकाशकः[10] तेनायमदोषः; कथमेवमस्य[11] नित्यैकरूपता, व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गात्? नित्यैक-

मेतस्माद्वाक्यादयमर्थः प्रत्यायित इत्येव सम्मुग्धरूपेणावगत प्रत्यायकत्वं पश्चाद्बहुषु प्रयोगेषु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यभागाना पदानां पदभागानाञ्च प्रकृतिप्रत्ययाना वाक्यार्थभागेषु पदार्थेषु विविच्यते तस्मान्न पौरुषेय सम्बन्धः." –शास्त्रदी० पृ० ४६३। 'तु बुद्धे शक्तिं'–स्या० र० पृ० ६७७।

(१) पृ० ५४२ पं० १६। (२) शब्दार्थसम्बन्धस्य। तुलना–"शब्दवदर्थवच्च तृतीयस्य तस्य प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात्।"–न्यायम० पृ० २४३। (३) न शब्दार्थसम्बन्धो नित्य नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वात्। (४) नित्यरूपतया। (५) सम्बन्धिनो शब्दार्थयो नित्यत्वाद्वा। तुलना–"असौ नित्यः सन् स्वभावतोऽर्थं प्रकाशयेत्, सङ्केताभिव्यक्तेर्वा"–स्या० र० पृ० ७०१। (६) तुलना–" सम्बन्धापौरुषेयत्वे स्यात्प्रतीतिरसविद । सम्बन्धापौरुषेयत्वेपीष्यमाणे स्यादर्थाना प्रतीतिरसविदोऽविद्यमानसङ्केतप्रतीते पुस । न चेच्छब्दार्थयोः साङ्केतिको वाच्यवाचकता सम्बन्धः किन्तु स्वाभाविक, तदाऽगृहीतसङ्केतोऽपि श्रुताच्छब्दादर्थं प्रतिपद्येतेति।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२७। "यद्यर्थप्रतिपादने शब्दस्य स्वभावेन शक्ति स्यात्; एवन्तर्हि सन्देहलक्षणमस्याप्रामाण्य स्यात् इष्टेऽनिष्टे चार्थे प्रकाशनशक्तिसंभवात्। यदि चास्य स्वभावत एव सा शक्ति किं सङ्केतेन ?" –प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२९। "अर्थद्योतनशक्तेश्च सर्वदैव व्यवस्थिते । तद्धेतुरर्थबोधोऽपि सर्वेषां सर्वदा भवेत्॥"–तत्त्वस० पृ० ७१०। "सांसिद्धिके हि तथात्वे अभिमत्वादिप्रयुक्तादन्यतो वा यत कुतश्चिदभिनवादपि दीपादिव शब्दादर्थप्रतिपत्ति स्यात्।"–न्यायम० पृ० २४३। (७) शब्दार्थसम्बन्धस्य। (८) रूपम्। (९) सम्बन्ध.। (१०) शब्दार्थप्रकाशक। तुलना–"सङ्केतात्तदभिव्यक्तावसदर्थाव्यवस्थापना। न वै सम्बन्धो विद्यमानोऽप्यनभिव्यक्तोऽर्थप्रतीतिहेतु । सङ्केत खल्वेनमभिव्यक्तिमे (ति) तर्हि भिन्नोऽस्थायी किमकारण पोष्यते ?"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२९। "यथा दीपस्यार्थप्रकाशने चक्षुरादीन्द्रियापेक्षा तथा शब्दस्येन्द्रियापेक्षा तथा शब्दस्यापि सङ्केतापेक्षेति चेत्, न, प्रदीपेन्द्रिययो. प्रत्येकमभावेऽप्यर्थप्रकाशनस्वाभावात् तत्रान्योन्यापेक्षत्व युक्त नैव शब्दशक्तिसङ्केतयो, सङ्केतमात्रेणैवार्थप्रतिपत्ति तस्मान्न स्वभावेन शब्दोऽर्थप्रतिपादनसमर्थ इत्युत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यम्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२९। प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२७। "तस्मिन् सङ्केतसापेक्षा शक्तिश्चेत्परिकल्प्यते। [illegible] नोपकारी च सा भवेत्॥"–तत्त्वस० पृ० ७१०। "अथ सङ्केताभिव्यक्ते ; कथमस्य नित्यैकरूपता [illegible] व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसक्ते।"–स्या० र० पृ० ७०९। (११) शब्दार्थसम्बन्धस्य।

1 स्वभावात् ब०। सम्बन्धस्वभावत. श्र०। 2 प्रकाशयेत् श्र०। 3–पस्तत्स्वरूपतोऽतत्प्रकाशक: ब०। 4 प्रकाशक स–ब०।

रूपं हि वस्तु यदि व्यक्तं तदा सर्वदा व्यक्तमेव अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य।

किञ्च, सङ्केतः पुरुषाश्रयः, स च अतीन्द्रियार्थज्ञानविकलतया अन्यथापि वेदे सङ्केतं कुर्यात् अतो मिथ्यात्वलक्षणमस्याऽप्रामाण्यं स्यात्।

किञ्च, नित्यसम्बन्धवशात् शब्दः एकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा स्यात्? एकार्थनियतश्चेत्, किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, तेनाऽस्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्। चौरशब्दो वा नित्यसम्बन्धात् तस्करे रूढः कथं दाक्षिण्यं ओदने प्रयुक्तः तमभिदध्यात्। अथैकदेशेनासौ तन्नियतः, स किमेकदेशः अभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा? अनभिमतैकार्थनियमे मिथ्यात्वलक्षणं वेदस्याऽप्रामाण्यं स्यात्। अथाऽभिमतैकार्थनियतः, किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा? प्रथमपक्षे अस्यापौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः। पुरुषो हि रागाद्यन्ध-

(१) नित्यैकरूपस्य सम्बन्धस्य। (२) तुलना–"अर्थज्ञापनहेतुर्हि सङ्केतः पुरुषाश्रयः। गिरामपौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसम्भवः॥ किं ह्यस्यापौरुषेयतया? यतो हि समयादर्थप्रतिपत्तिः, स पौरुषेयो वितथोऽपि स्यात्, यथा साधनं स्वर्गवचनम्, अन्यथा समयेन विपर्यासयेत् तेनायथार्थमपि प्रकाशनसम्भवात्।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२८। "सङ्केतमन्तरेणापौरुषेयादपि वाक्यादर्थप्रतीतेरभावात्। अर्थज्ञापनहेतुरिह सङ्केतः स्वीकर्त्तव्यः, स च पुरुषकृतत्वात्पुरुषाश्रयः। अतः सङ्केतस्य पुरुषाश्रयत्वात् गिरामपौरुषेयत्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सम्भवः। सङ्केतवशेन वाचोऽर्थं ब्रुवते। स च दोषाश्रयेण पुरुषेण क्रियते इति तासां न विसंवादशङ्कानिरासः पौरुषेयवाक्यवदिति व्यर्थमपौरुषेयत्वकल्पनम्।"–प्रमाणवा० मनोरथ०

त्वात्[1] प्रतिक्षिप्यते तस्माच्चेद् वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्येत किमपौरुषेयत्वेन ? स्वभावादभिमतैकार्थनियमे[2] तु भावनाद्यर्थभेदानुपपत्तिः[3] । अनेकार्थनियतत्वे[4] तु वेदस्य सकलार्थसाधारणत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकारः समयं कुर्यात् ?

"तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम[5] इति श्रुतौ ।
खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा[6] ॥" [प्रमाणवा० ३।३१८]

तन्न स्वरूपतः सम्बन्धो नित्यः ।

नापि[7] सम्बन्धिनित्यत्वात्; यतः कोऽत्र नित्यः[1] सम्बन्धी–शब्दः, अर्थः, द्वयं वा ? न तावच्छब्दः; तस्या[8]ग्रेऽनित्यत्वप्रसाधनात् । नाप्यर्थः; घटादेस्तदर्थस्य[9] अनित्यतया प्रत्यक्षादितः प्रतीतेः । अथ सामान्यं तदर्थः[10], तच्च नित्यम्, अतस्तदाश्रितः[11] सम्बन्धोऽपि नित्य इत्युच्यते, तदसत्; सामान्यस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः, तद्वानेव[12] शब्दार्थः इत्यग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्, परपरिकल्पित[13]सामान्यस्य निपिद्धत्वाच्च[14] । उभयपक्षोऽपि उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गादयुक्तः[2] ।

र्थाभिधाय्यपि शब्द पुरुषेण सङ्केतादभिमतार्थाभिधायित्वेन नियम्यते तदा–अपौरुषेयतायाञ्च व्यर्था स्यात्परिकल्पना । वाच्यश्च हेतुर्भिन्नाना सम्बन्धस्य व्यवस्थिते ॥"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२९ ।

(१) तुलना–"असस्कार्यतया पुभि सर्वथा स्यान्निरर्थता । सस्कारोपगमे मुख्य गजस्नानमिद भवेत् ॥"–प्रमाणवा० ३।२३० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (२) तुलना–"प्रकृत्यैव स्वभावेनैव वैदिका शब्दा नियता अभिमतेऽर्थे ततो न पुरुषसस्कारकृतो दोष इति चेत्, एव सत्यर्थप्रकाशने नोपदेशमपेक्षेरन्, अपेक्षन्ते च, स्वतस्तेभ्योऽर्थप्रतीतेरभावात् । यदि च ते स्वभावत एव प्रतिनियता स्यु तदा यत्र क्वचिदर्थे एकदा समिता पुन कथञ्चित् ततोऽन्यथा सङ्केतेनार्थान्तर न प्रकाशयेयु, प्रकाशयन्ति च ततो न प्रकृत्यैकार्थनियता इति । स्वभावतश्चैकार्थनियमे योऽय वैदिकेषु वाक्येषु व्याख्यातॄणा व्याख्याविकल्पश्च अपरापरव्याख्याभेदश्च न स्यात् एकार्थप्रतिनियमात्, भवति च, तस्मात् पौरुषेयवाक्यवन्नैकार्थनियता वैदिका शब्दा इति ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । (३) भावनाविधिनियोगरूपेण भाट्टवेदान्तिप्राभाकाराणा वेदार्थविषये व्याख्याभेदो न स्यादिति भाव । (४) तुलना–"सर्वत्र योग्यस्यैकार्थद्योतने नियम कुत ।"–प्रमाणवा० ३।३२६ । "नानार्थद्योतने शक्तिर्भवत्येकस्य हि ध्वने । नाग्निहोत्रादयस्त्वर्था सर्वे सर्वोपयोगिन । तदिष्टविपरीतार्थद्योतनस्यापि सभवात् । नित्यशब्दार्थसम्बन्धकल्पना वो निरर्थिका ॥"–तत्त्वस० पृ० ७११ । (५) "अग्निहोत्र जुहुयात्"–मैत्र्यु० ६।३६ । (६) व्याख्या "तेनेति अपरिज्ञातार्थत्वेन अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ वेदवाक्ये खादेच्छ्वमासमित्येष नार्थ किन्त्वन्योऽभिमतोऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ? नैव किञ्चित्प्रमाणम् ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३२० । "अग्नि हन्तीति अग्निह श्वा तस्योत्र मास जुहुयात् खादेत् । अथवा अगति गच्छतीत्यग्नि श्वा हूयतेऽद्यते यत्तत् होत्र मासम् अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्र श्वमास तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकाम पुमान् द्विज ।"–प्रमेयरत्नमा० टि० पृ० १३४ । उद्धृतोऽयम्–शास्त्रवा० श्लो० ६०५ । न्यायम० पृ० ४०५ । नन्दिमलय० पृ० १९ । (७) तुलना–"सम्बन्धिनामनित्यत्वान्न सम्बन्धेऽस्ति नित्यता ।"–प्रमाणवा० ३।२३१ । (८) शब्दस्य (९) सम्बन्धविषयभूतस्य अर्थस्य । (१०) शब्दार्थ –आ० टि० । (११) सामान्याश्रितः । (१२) सामान्यवानेव । (१३) मीमासकनैयायिकादि । (१४) पृ० २८५ ।

1 नित्यसम्बन्धी आ० । 2–त्वात् उभ–ब० ।

अस्तु वा कुतश्चिन्नित्यः सम्बन्धः; तथाप्यसौ किमैन्द्रियः, अतीन्द्रियः, अनुमानगम्यो वा स्यात् ? न तावदैन्द्रियः, नित्यस्वभावस्य कस्यचिदपीन्द्रियेऽप्रतिभासमानत्वात् । अथातीन्द्रियः, कथमर्थप्रतिपत्त्यङ्गम् अज्ञातस्य ज्ञापकत्वविरोधात् ? "नाज्ञात ज्ञापकं नाम" [ ] इत्यभिधानात् । सन्निधिमात्रेण ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । नाप्यनुमानगम्यः, सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वे तत्पूर्वकत्वेनात्रानुमानस्याऽप्रवृत्तेः । न ह्यगृहीतप्रतिबन्धं किञ्चिल्लिङ्गमनुमानमाविर्भावयत्यतिप्रसङ्गात् । अथास्याप्रत्यक्षत्वेऽपि अनुमानात् प्रतिबन्धग्रहो भविष्यति, ननु किमत एवाऽनुमानात्, अनुमानान्तराद्वा तद्ग्रहः स्यात् ? यद्यत एव, अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि अनुमाने तद्ग्रहसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चानुमानसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात्तत्सिद्धौ अनवस्था, तत्रापि तद्ग्रहस्य अनुमानान्तरात् प्रसिद्धेः । न चात्र किञ्चिल्लिङ्गमस्ति ।

नित्यसम्बन्धस्य हि लिङ्गम्–अर्थज्ञानम्, अर्थः, शब्दो वा ? न तावदर्थज्ञानम् सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात् । नाप्यर्थः, तस्य तेन सम्बन्धासिद्धेः, नहि सम्बन्धार्थयोस्तादात्म्य सम्भवति घटाद्यर्थवत् सम्बन्धस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् । नापि तदुत्पत्तिः संयोगादिर्वा, अनभ्युपगमात् । नापि शब्दो लिङ्गम् अर्थपक्षोपक्षिप्तदोषानु-

पङ्गात्। ततो नित्यसम्बन्धस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः अनित्य एवाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः।

यदपि तदनित्यत्वे 'प्रतिपुरुषम्' इत्यादि दूषणमुक्तम्[1], तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अनादित्वात् शाब्दव्यवहारस्य। नहि सर्वथा सतो जगतो निर्मूलनाशलक्षणो महाप्रलयः असतश्चात्मलाभलक्षणा सृष्टिः अस्माकं[2] भवतां[3] वा प्रसिद्धा येन अपूर्वसृष्टिप्रादुर्भावाश्रयणेन *'समयः प्रतिमर्त्यं वा'* इत्याद्युक्तं शोभेत। नित्यत्वेऽपि च तत्सम्बन्धस्य अभिव्यक्तिरनित्याऽभ्युपगन्तव्या, अतस्तत्रा[4]पीदं दूषणं तुल्यम्। कथञ्चैवंवादिनो[5]ऽग्निधूमयोरपि सम्बन्धः सिद्ध्येत् तत्राप्युक्तविकल्पानां समानत्वात्। अथाग्निधूमत्वसामान्ययोर्नित्यस्वरूपयोः सम्बन्धित्वेन तत्स[6]म्बन्धनित्यत्वसंभवात् नोक्तविकल्पानां तत्रावकाशः; तदप्यपेशलम्; केवल[7]सामान्ययोः सम्बन्धित्वस्य व्याप्तिविचारप्रघट्टके[8] प्रतिषिद्धत्वात्। नित्यत्वञ्च सामान्यस्य प्रागेव[9] प्रतिषिद्धम्। अतो यथा सादृश्यप्रधानतया सादृश्योपलक्षितानां सा[10]ध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणामनन्तानामपि व्याप्तिज्ञानेन क्रोडीकरण तथा वाच्यवाचकव्यक्तिविशेषाणामपि। अतः *"सम्बन्धस्त्रिप्रमाणकः"* [मी० श्लो० पृ० ६८०] यत्त्वयो[11,12]च्यते, तत्र *'शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति'* इति युक्तम्। *'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया'* इत्यप्युपपन्नम्, *'अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम्'* इत्येतत्त्वनुपपन्नम्, नित्यश[13]क्तौ सम्बन्धाख्यायामन्यथानुपपत्तेरभावात्। वह्निधू[14]मादिशक्तिवत् शब्दार्थाश्रितायाः शक्तेरनित्यत्वेऽपि श्रोतुरर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः।

एतेनेदमपि निरस्तम्–

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सा[15]नुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः[16] ॥" [वाक्यप० १।२३] इति;

---

(१) पृ० ५४३ प० १३। (२) जैनानाम्। (३) मीमासकानाम्–आ० टि०। "तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना। समस्तक्षयजन्मभ्या न सिद्ध्यत्यप्रमाणिका।"–मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११३। (४) अभिव्यक्तावपि। (५) शब्दार्थयो नित्यसम्बन्धवादिनः। (६) अग्निधूमसम्बन्ध। (७) नाग्नित्वधूमत्वयोरविनाभावो गृह्यते किन्तु अग्नित्वविशिष्टाग्निना सह धूमत्वविशिष्टधूमस्याविनाभाव गृह्यते इति भाव। (८) पृ० ४२३। (९) पृ० २८५। (१०) साध्यसाधनव्यक्तीनामानन्त्येऽपि सादृश्याद् व्याप्तिज्ञानेन क्रोडीकृति एव वाच्यवाचकव्यक्तीनामपि सादृश्यवशात्तेन क्रोडीकरणम्, अस्ति तत्रापि सादृश्यम्, घटशब्दवाच्योऽय पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वात् पूर्वोपलब्धघटान्तरवत्। –आ० टि०। (११) तुलना–"अतएव च सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक इति यत्त्वयोच्यते तदस्माभिर्न मृष्यते। शब्दवृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यतीति सत्य श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टयेत्येतदपि सत्यम्। अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्ति द्वयाश्रितामित्येतत्तु न सत्यम्, अन्यथाप्युपपत्तेरित्युक्तत्वात्।"–न्यायमं० पृ० २८५। (१२) मीमांसकेन कुमारिलभट्टेन। (१३) ज्ञाप्यज्ञापकशक्ति–आ० टि०। (१४) यथाहि वह्निधूमयो ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिरनित्याऽपि अनुमेयार्थप्रतिपत्तिप्रयोजिका तथैव शब्दार्थयो वाच्यवाचकशक्तिरपि। (१५) सवृत्तिकाणा (ना) म्–आ० टि०। "अनुतन्त्र वार्त्तिकम्"–वाक्यप० पु० टी०। (१६) "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।"–पा० महाभा० पृ० ५५। "नित्य

---

1 भवतो वा श्र०। 2–वादिनो धूमाग्न्योरपि श्र०। 3–विद्ध यथा श्र०।

सम्बन्धस्यानित्यत्वसमर्थनात्, शब्दस्य तदर्थस्य चात्र अनित्यतया समर्थयिष्यमाणत्वाच्च, सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावप्रतिपादनाच्च। कथञ्चैवंवादिनः कार्येऽर्थे चोदनायाः प्रामाण्यं स्यात् कार्यस्याऽनित्यत्वात्? ततः सिद्धं कथञ्चिदनित्ययोग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वम्। अतः सूक्तम्–'संवादकं श्रुतं प्रमाणम्' इति ॥छ॥

शब्दस्यान्यापोहमात्राभिधायकत्वम् इति बौद्धस्य पूर्वपक्षः –

ननु श्रुतस्याविसंवादित्वमसिद्धम्, अर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भात्। य एव हि शब्दाः सत्यर्थे दृष्टाः ते तदभावेऽपि दृश्यन्ते, अतः शब्दानां विधिद्वारेणाऽर्थाभिधायकत्वानुपपत्तेः अन्यापोहमात्राभिधायकत्वमेवोपपन्नम्। उक्तञ्च–"*अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते*"

शब्दः नित्योऽर्थः नित्यः सम्बन्ध इत्येषा शास्त्रव्यवस्था। तथाम्नाता महर्षिभिः सूत्राणां प्रणेतृभिः। व्याकरण एव ये सूत्रादीनां प्रणेतारस्ते व्यपदिश्यन्ते। तत्र सूत्राणामारम्भादेव शब्दानां नित्यत्वमवगतम्। न ह्यनित्यत्वे शब्दादीनां शास्त्रारम्भे किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति। [illegible] न महान्तः शिष्टाः समनुगन्तुमर्हन्तीति तस्माद् व्यवस्थितसाधुत्वेषु शब्देषु स्मृतिशास्त्रं प्रवृत्तमिति।–वाक्यप० हरि० १।२३। उद्धृतोऽयम्–सिद्धिवि० टी० पृ० ५०५। प्रमेयक० पृ० ४२९।

(१) पृ० ३७२। (२) नित्यसम्बन्धवादिनः –आ०टि०। (३) "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् "–जैमिनिसू० १।२।१। "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः।"–शाबरभा० १।१।२। (४) [illegible]

[क्षणभङ्गाध्याय (?)] इति । प्रयोगः–यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषयः यथा अक्षजे संवेदने परिस्फुटप्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषयः, शब्दलिङ्गप्रभवे च प्रत्यये बहिरर्थतत्त्व¹रहितं स्वरूपमात्रमेव प्रतिभाति अतस्तदेव तस्य विषय इति । न च तत्प्रभवप्रत्यये बहिरर्थाऽसंस्पर्शिस्वरूपमात्रावभासित्वमसिद्धम्; शब्दलिङ्गयोर्बहिरर्थ-विषयत्वायोगतस्तत्सिद्धेः । तथाहि–शब्दस्य बहिरर्थो विषयो भवन् स्वलक्षणस्वभावो भवेत्, सामान्यस्वरूपो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्न², तत्र सङ्केताभावतः शब्दानां प्रवृत्त्य-नुपपत्तेः । सङ्केतो हि सङ्केतव्यवहारकालानुयायिस्वरूपेऽर्थे विधीयते, न च स्वलक्षणस्य तथावि³धं स्वरूपं सभवति देशकालाकारसङ्कुचितत्वेन अननुयायिस्वरूपत्वात् । यः सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दः सङ्केत्यते यथा उत्पन्नमात्र-प्रध्वंसिनि कचिदर्थे, नान्वेति च विवक्षितदेशादिभ्यः शाबलेयादिर्देशान्तरादाविति ।

किञ्च, 'अस्येदमभिधानम्' इति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धः प्रतिभाति न तत्र ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थस्वलक्षणयोः प्रतिभासः । न च तत्राप्रतिभासनयोः

प्रमाणवा० स्ववृ० १।४४ । "अन्यापोहविषया आचार्येण प्रोक्ता 'अपोह शब्दलिङ्गाभ्या प्रतिपाद्यते' इति ब्रुवता ।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१३३ ।

(१) शब्दलिङ्गप्रभवप्रत्यययो बहिरर्थरहित स्वरूपमात्रमेव विषय तत्र स्वरूपमात्रस्यैव प्रतिभातत्वात् । "उच्यते विषयोऽमीषा धीध्वनीना न कश्चन । अन्तर्मात्रानिविष्ट तु बीजमेषा निबन्ध-नम् । तथाहि–अस्माभिरिष्यत एवैषामन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तम्, न तु विषयभूत भ्रान्तत्वेन पूर्वस्य शब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात् । अन्तर्मात्रानिविष्टमिति विज्ञानसन्निविष्ट वासनेति यावत् । एतदेवागमेन सस्पदयन्नाह यस्य यस्येत्यादि–यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते । स स सविद्यते नैव वस्तूना सा हि धर्मता ॥"–तत्त्वसं०, प० पृ० २७५ । (२) "यत स्वलक्षण जातिस्तद्योगो जातिमास्तथा । बुद्ध्याकारो न शब्दार्थे घटामञ्चति तत्त्वत ।"–तत्त्वम० पृ० २७६ । (३) "शब्दा सङ्केतित प्राहु-र्व्यवहाराय स स्मृत । तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न ॥"–प्रमाणवा० ३।९१ । "तदा व्यव-हारकाले तत्स्वलक्षण नास्ति यत्र सङ्केत कृत । एकस्यापि स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरे तेनैव रूपेणानुगमो नास्ति, अक्षणिकत्वे वा सङ्केतज्ञानाभावादेव तद्विषयत्वस्य कालान्तरेऽनुगमो नास्ति किमुत देशकालभिन्नेषु स्वलक्षणेषु, तेन कारणेन तत्र स्वलक्षणेषु सकतो न क्रियते ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० । "तत्र स्वलक्षण तावन्न शब्दै प्रतिपाद्यते । सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिवियोगत ॥ एतदुक्त भवति–समयो हि व्यवहारार्थं क्रियते न व्यसनितया, तेन यस्यैव सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव समयो व्यवहर्तृणा युक्तो नान्यत्र । न च स्वलक्षणस्य सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति । तस्मान्न तत्र समय इति । व्यक्त्यात्मानोनुयन्त्येते न परस्पररूपत । देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदत ॥ तस्मात्सङ्केतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते । नचागृहीतसङ्केतो बोद्धयेतान्य इव ध्वने ॥"–तत्त्वस०, पं० पृ० २०७ । (४) एकपरमाण्वाकारतया एकक्षणस्थायितया निरशतया च न देशकालाकारान्तरव्याप्ति स्वलक्षणस्येति भाव । "तस्य देशकालभेदेष्वनास्कन्दनात्, तस्येति सङ्केतकालदृष्टस्य व्यवहारावस्था-नादिषु देशकालभेदेषु अनास्कन्दनात् अननुगमात् । न हि एकत्र दृष्टो भेदोऽन्यत्र संभवति ।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।९४ । (५) स्वलक्षणे नास्ति सङ्केत सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वात् । (६) यो हि विवक्षितदेशे सोऽन्य यश्च देशान्तर याति सोऽन्य क्षणिकत्वात्–आ० टि० । (७) श्रोत्रचक्षुषी ।

1–रहितस्वरूप–आ० । 2 तत्राद्य पक्षो–ब० । 3–विधस्वरूपं ब० ।

मर्थक्रियाकारित्वं सम्भवतीत्युक्तं सामान्यनिषेधावसरे। तन्नार्थगोचराः शब्दाः किन्तु अन्यापोहगोचराः।

स चार्थपक्षमाकारः, तथाहि—न जातिव्यक्त्योस्तद्वाच्यत्वं पूर्वोक्तदोषात्। नापि ज्ञानतदाकारयोः; तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात्, तस्य च सङ्केताविषयतया शब्दगोचरतानुपपत्तेः, किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पावेकीकृत्य बहिरारोपणया-ऽध्यस्तोऽर्थपक्षमाकारः अन्यापोहः। बाह्यत्वं हि तस्य अर्थाकारः।

अपोहश्च निषेधः। स च द्विविधः—पर्युदासः, प्रसज्यश्च। पर्युदासोऽपि द्विविधः-बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च। तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतैकरूपत्वेन अर्थेष्वध्यवसितः। अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम्। तत्र बुद्ध्यात्मनो

न[1]चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति येन अस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शाब्दप्रत्यये प्रतिभासेत; एकस्य द्वित्वविरोधात्। प्रयोग[2]:–यत्कृते प्रत्यये यन्न प्रतिभासते न तत्तस्य विषयः यथा रूपप्रभवप्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति। वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेन अर्थभेदाभिधायित्वानुपपत्तिः। उक्तञ्च–

"प[3]रमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु सम[4]यान्तरभेदिषु॥" [प्रमाणवा० ३।२०६] इति।

तन्न स्वलक्षणस्वभावः शब्दस्य विषयो घटते।

नापि सा[2]मान्यरूपः; वा[5]स्तवस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात्, तदसंभवश्च अश्वविषाणवदनर्थक्रियाकारित्वात् सुप्रसिद्धः। न खलु नित्यैकस्वभावस्य[6] क्रमयौगपद्याभ्या-

प० पृ० २८०। प्रमेयक० पृ० ४४७। सन्मति० टी० पृ० १७७, २६०। स्या० र० पृ० ७१०। तुलना–"(उष्णादिप्रतिपत्तिर्या) नामादिध्वनिभाविनी। विस्पष्टा (भासते नैषा) तदर्थेन्द्रियबुद्धिवत्॥ यथा ह्युष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धि स्फुटप्रतिभासा वेद्यते न तथोष्णादिशब्दभाविनी। न ह्युपहतनयनरसनघ्राणादयो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तद्रूपरसाद्यनुभाविनो भवन्ति यथाऽनुपहतनयनादय इन्द्रियधियाऽनुभवन्त।"–तत्त्वसं०, पं० पृ० २८०।

(१) "न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टास्पष्टम्। येनास्पष्ट वस्तुगतमेव रूप शब्दैरभिधीयते इति स्यात्, एकस्य द्वित्वविरोधात्।"–तत्त्वसं० पं० पृ० २८१। "न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुन स्त यत एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेत अन्येन विकल्पे। तथा सति वस्तुन एव भेदप्राप्ते।"–अपोहसि० पृ० ७। (२) स्वलक्षण न शब्दप्रत्ययविषय शब्दप्रत्ययेऽप्रतिभासमानत्वात्। "न स तस्य च शब्दस्य युक्तो योगो न तत्कृते। प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोधे यथा रस॥ प्रयोग–यो हि तत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थ यथा रूपजनिते प्रत्यये रस, न प्रतिभासते च शब्दे प्रत्यये स्वलक्षणमिति व्यापकानुपलब्धि"–तत्त्वस० पं० पृ० २८०। (३) व्याख्या–"परमार्थ स्वलक्षणम् तस्मिन् एकस्थान (एकस्तान) प्रवृत्तिर्येषा तद्भावस्तत्त्व तस्मिन् सति शब्दानामनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात् दर्शनान्तरभिन्नेष्वर्थेषु सिद्धान्तभेदभिन्नेषु।"–प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२०९। "परमार्थैकतानत्वे परमार्थैकपरत्वे शब्दानामर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु प्रतिदर्शन भिन्नाभ्युपगमेन नित्यत्वानित्यत्वत्रिगुणीमयत्वादिकल्पितभेदेषु अनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि परस्परविरुद्धा वहवो धर्मा एकत्र सन्ति।"–प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२०६। (४) 'दर्शनान्तरभेदिषु'–प्रमाणवा०। शास्त्रवा० श्लो० ६४७। अनेकान्तजय० पृ० ३५ A। प्रकृतपाठ–अष्टसह० पृ० १६८। सिद्धिवि० टी० पृ० २६८ A। 'तस्मात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु'–स्या० र० पृ० ७१०। (५) "अपि प्रवर्तेत पुमान् विज्ञायार्थक्रियाक्षमान्। तत्साधनायेत्यर्थेषु मयोज्यन्तेऽभिधायका॥ तत्रानर्थक्रियायोग्या जाति।–न खलु लोकोऽसकेतयन् शब्दानप्रयुञ्जानो वा दु खित स्यात्। व्यसनापन्न अथ किमिति चेत्, सर्व एवाधेय आरम्भ फलार्थ.। निष्फलारम्भस्य उपेक्षणीयत्वात्। तदयं क्वचिच्छब्द नियुञ्जान किञ्चित्फलमेवेहितु युक्तः। तच्चेत् सर्वम् इष्टानिष्टाप्तित्यागलक्षणम्। तेनायमिष्टानिष्टसाधनासाधन कृत्वा तत्र प्रवृत्ति निवृत्ति वा कुर्यात् कारयेय वेति नियोग आद्रियेत शब्दान् वा नियुञ्जीत अन्यथोपेक्षणीयत्वात्। तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या। नहि जातिर्वाहदोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता। न वा तादृगप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः।"–प्रमाणवा० स्ववृ० १।९५। (६) सामान्यस्य।

1 रूपप्रत्यये श्र०। 2 सामान्यस्वरूप श्र०, ब०।

मर्थक्रियाकारित्वं सम्भवतीत्युक्तं सामान्यनिषेधावसरे । तन्नार्थगोचरः शब्दः किन्तु अन्यापोहगोचरः ।

न चार्थपक्ष्माकारः, तथाहि—न जातिव्यक्त्योस्तद्वाच्यत्वं पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञानतदाकारयोः; तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात्, तस्य च सङ्केताविषयतया शब्दगोचरत्वानुपपत्तेः, किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य ... ऽपरस्तोऽर्थपक्ष्माकारः अन्यापोहः । बाह्यत्वं हि तस्य अर्थात्मा ।

अपोहश्च निषेधः । स च द्विविधः—पर्युदासः, प्रसज्यश्च । पर्युदासोऽपि द्विविधः—बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च । तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतस्वरूपेण अर्थत्वेनाध्यवसितः । अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम् । तत्र बुद्ध्यात्मनो

विशेषलक्षणम्–स्वभावतः परस्परविलक्षणानर्थानेकार्थकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्य यदेकप्रत्यवमर्शरूपमर्थप्रतिबिम्बस्वभावं ज्ञानमुत्पन्नं तस्य 'अपोह' इति संज्ञा । वस्तुभागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो बाह्यत्वेनाऽभिमन्यमानो विकल्पाकारः स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकोऽपोहः 'अपोह्यते अनेन' इति, विकल्पान्तरवर्त्याकाराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासमानत्वात् । 'अपोह्यते अन्यस्मात्' इत्यन्यापोहः, अयं हि मुख्यतयैव अन्यापोहशब्दाभिधेयः । त्रिभिस्तु कारणैः औपचारिकः–कारणे कार्यधर्मारोपात्, कार्ये कारणधर्मोपचाराद्वा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणेन सहैकत्वाध्यवसायाद्वा ? कार्यं हि यथोक्तान्यापोहस्य अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः, अतस्तत्कारणतया कार्यधर्मोऽन्यव्यावृत्तिः तत्राध्यारोप्यते । कार्ये कारणधर्मो वा; कारणं हि एकप्रत्यवमर्शात्मनोऽन्यापोहस्य अन्यासंसृष्टं स्वलक्षणं तदनुभवेन तस्य जनितत्वात्, अस्ति च कारणभूते स्वलक्षणे अन्यव्यावृत्तिः अतस्तस्याः कार्यभूते प्रत्यवमर्शे उपचारः । विजातीयव्यावृत्तं यत्स्वलक्षणं तेन सह प्रत्यवमर्शप्रतिभासिनो रूपस्य एकत्वेनाध्यवसितत्वाद्वा अन्यापोहतेति प्ररूपितः पर्युदासरूपोऽपोहः ।

प्रसज्यरूपस्तु 'गौरयम् अगौर्न भवति' इति व्यवच्छेदमात्रपर्यवसित इति । प्ररूपितप्रकारस्य अन्यापोहस्यैव वाचकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः । वाच्यवाचकभावश्च

भासो भाति तादात्म्येन तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञा उक्तेति सम्बन्धः । कल्पक इति–विकल्पके सविकल्प इति यावत् । एतच्च ज्ञानं इत्यनेन समानाधिकरणम् । अर्थात्मताभावेऽपि इति । बाह्यार्थात्मताया अभावेऽपि । निश्चितमिति अध्यवसितम् ।"–तत्त्वस०, पं० पृ० ३१७ ।

(१) अश्वादिविकल्पादन्यो गवादिविकल्पः– आ० टि० । (२) "अथ कथं तस्यापोह इत्येष व्यपदेश इत्याह–प्रतिभासान्तरादित्यादि । प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुनः । प्राप्तिहेतुतयाऽश्लिष्टवस्तुद्वारागतेरपि ॥ विजातीयपरावृत्तं तत्फलं यत्स्वलक्षणम् । तस्मिन्नध्यवसायाद्वा तादात्म्येनास्य विप्लुतैः । तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञोक्ता सनिबन्धना । चतुर्भिर्निमित्तैरपोह इति तस्याख्या । विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यतः,अपोह्यत इत्यपोहः, अन्यस्मादपोहोऽन्यापोह इति व्युत्पत्तेः । उपचारात्तु त्रिभिः । १–कारणे कार्यधर्मारोपाद्वा, यदाह अन्यव्यावृत्तवस्तुनः प्राप्तिहेतुतयेति । २–कार्ये वा कारणधर्मोपचारात्, तद्दर्शयति–अश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपीति । अश्लिष्टम् अन्यासम्बद्धम् अन्यतो व्यावृत्तमिति यावत्, तदेव वस्तु द्वारमुपाय, तदनुभवबलेन तथाविधविकल्पोत्पत्तेः । ३–विजातीयापोहपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति चतुर्थं कारणम् । तद्दर्शयति–विजातीयेत्यादि । अस्येति । विकल्पबुद्ध्यारूढस्य अर्थप्रतिबिम्बस्य सनिबन्धनेति । सह निबन्धनेन प्रतिभासान्तराद् भेदादिनोक्तेन चतुर्विधेन वर्तत इति सनिबन्धना ।"–तत्त्वस०, पं० पृ० ३१७ । (३) अन्यापोहः कारणम् अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः कार्यम्–आ० टि० । (४) अपोहे कारणे–आ० टि० । (५) एतत्कार्यम् । (६) एतत्कारणम्–आ० टि० । (७) अन्यापोहस्य–आ० टि० । (८) अन्यापोहस्वरूपे–आ० टि० । (९) "प्रसज्यप्रतिषेधश्च गौरगौर्न भवत्ययम् । अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते ॥"–तत्त्वस० पृ० ३१८ । (१०) "तदेव त्रिविधमपोहं प्रतिपाद्य प्रकृते शब्दार्थत्वे योजयन्नाह–तत्रायमित्यादि । तत्राय प्रथमः शब्दैरपोहः प्रतिपद्यते । बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात्समुद्भवात् ॥ प्रथम इति यथोक्तार्थप्रतिबिम्बात्मा । तत्र कारणमाह–बाह्यार्थाध्य-

1–नाध्यवसितत्वाद्वा आ० ।

र्थक्रियाकारणभावान्नान्य ; बुद्धिसम्बन्धिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तेनात्मना तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अपोहस्यासिद्धत्वेन पूर्वपक्ष शब्दस्य परमार्थसत्सामान्यविषयत्वसमर्थनाच-स्वपक्षसमर्थनम्-

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्—'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्याम्' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यतः प्रमाणेन कुतश्चित्सिद्धौ तस्य तद्विषयत्वं युक्तम्. न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्प्रसिद्धः, तथाहि—अपोहः प्रत्यक्षतः सिद्धः, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षतः, स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य। नाप्यनुमानतः, तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। नहि अन्यनिवृत्त्या अपोहितवस्त्या चाविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति। नाप्यन्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धः-

विशेषलक्षणम्–स्वभावतः परस्परविलक्षणानर्थानेकार्थकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्य यदेकप्रत्यवमर्शरूपमर्थप्रतिबिम्बस्वभावं ज्ञानमुत्पन्नं तस्य 'अपोह' इति संज्ञा। वस्तु-भागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो बाह्यत्वेनाऽभिमन्यमानो विकल्पाकारः स्वाकार-विपरीताकारोन्मूलकोऽपोहः 'अपोह्यते अनेन' इति, विकल्पान्तर[1]वर्त्याकाराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासमानत्वात्। 'अपोह्यते अन्यस्मात्' इत्यन्यापोहः, अयं हि मुख्यतयैव अन्यापोह[2]-शब्दाभिधेयः। त्रिभिस्तु कारणैः औपचारिकः–कारणे कार्यधर्मारोपात्, कार्ये कारण-धर्मोपचाराद्वा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणेन सहैकत्वाध्यवसायाद्वा? कार्यं हि यथो-क्तान्यापोहस्य अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः, अतस्तत्कारणतया कार्य[3]धर्मोऽन्यव्यावृत्तिः तत्रा[4]-ध्यारोप्यते। कार्ये कारणधर्मो वा, कारणं हि एकप्रत्यवमर्शात्मनोऽन्या[5]पोहस्य अन्यासं-सृष्टं स्व[6]लक्षणं तदनुभवेन तस्य[7] जनितत्वात्, अस्ति च कारणभूते स्वलक्षणे अन्यव्या-वृत्तिः अतस्तस्याः कार्यभूते प्रत्य[8]वमर्शे उपचारः। विजातीयव्यावृत्तं यत्स्वलक्षणं तेन सह प्रत्यवमर्शप्रतिभासिनो रूपस्य एकत्वे[1]नाध्यवसितत्वाद्वा अन्यापोहतेति प्ररूपितः पर्युदासरूपोऽपोहः।

प्रसज्यरूप[9]स्तु 'गौरयम् अगौर्न भवति' इति व्यवच्छेदमात्रपर्यवसित इति। प्र[10]रूपितप्रकारस्य अन्यापोहस्यैव वाचकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः। वाच्यवाचकभावश्च

भासो भाति तादात्म्येन तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञा उक्तेति सम्बन्धः। कल्पक इति–विकल्पके सविकल्प इति यावत्। एतच्च ज्ञानं इत्यनेन समानाधिकरणम्। अर्थात्मताभावेऽपि इति। बाह्यार्थात्मताया अभावेऽपि। निश्चितमिति अध्यवसितम्।"–तत्त्वसं०, प० पृ० ३१७।

(१) अश्वादिविकल्पादन्यो गवादिविकल्पः–आ० टि०। (२) "अथ कथं तस्यापोह इत्येष व्यपदेश इत्याह–प्रतिभासान्तरादित्यादि। प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुनः। प्राप्तिहेतुतयाऽश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपि॥ विजातीयपरावृत्तं तत्फलं यत्स्वलक्षणम्। तस्मिन्नध्यवसायाद्वा तादात्म्येनास्य विप्लुतैः। तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञोक्ता सनिबन्धना। चतुर्भिर्निमित्तैरपोह इति तस्याख्या। विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासनात् मुख्यतः,अपोह्यत इत्यपोह, अन्यस्मादपोहोऽन्यापोह इति व्युत्पत्तेः। उपचारात्तु त्रिभिः। १–कारणे कार्यधर्मारोपाद्वा, यदाह अन्यव्यावृत्तवस्तुनः प्राप्तिहेतुतयेति। २–कार्ये वा कारणधर्मोपचारात्, तद्दर्शयति–अश्लिष्टवस्तुद्वारा गतेरपीति। अश्लिष्टम् अन्यासम्बद्धम् अन्यतो व्यावृत्तमिति यावत्, तदेव वस्तु द्वारमुपायः, तदनुभवबलेन तथाविधविकल्पोत्पत्तेः। ३–विजातीयापोहपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति चतुर्थं कारणम्। तद्दर्शयति–विजातीयेत्यादि। अस्येति। विकल्पबुद्ध्यारूढस्य अर्थप्रतिबिम्बस्य सनिबन्धनेति। सह निबन्धनेन प्रतिभासान्तराद् भेदादिनोक्तेन चतुर्विधेन वर्तत इति सनिबन्धना।"–तत्त्वसं०, प० पृ० ३१७। (३) अन्यापोहः कारणम् अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः कार्यम्–आ० टि०। (४) अपोहे कारणे–आ० टि०। (५) एतत्कार्यम्। (६) एतत्कारणम्–आ० टि०। (७) अन्यापोहस्य–आ० टि०। (८) अन्यापोहस्वरूपे–आ० टि०। (९) "प्रसज्यप्रतिषेधश्च गौरगौर्न भवत्ययम्। अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते॥"–तत्त्वसं० पृ० ३१८। (१०) "तदेव त्रिविधमपोहं प्रतिपाद्य प्रकृते शब्दार्थत्वे योजयन्नाह–तत्रायमित्यादि। तत्रायं प्रथमः शब्दैरपोहः प्रतिपद्यते। बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात्समुद्भवात्॥ प्रथम इति यथोक्तार्थप्रतिबिम्बात्मा। तत्र कारणमाह–बाह्यार्थाध्य-

1–नाध्यवसितत्वाद्वा आ०।

कार्यकारणभावान्नान्यः; बुद्धिसम्बन्धिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्यत्वं तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्[१]–'अपोह. शब्दलिङ्गाभ्याम्' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यतः प्रमाणतः कुतश्चित्तत्सिद्धौ तस्य[२] तद्विषयत्वं युक्तम्, न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्प्रसिद्धः, तथाहि–अपोहः[३] प्रत्यक्षतः सिद्ध्येत्, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षतः; स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य । नाप्यनुमानतः; तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । नहि असन्निवृत्त्या अगोनिवृत्त्या चाविनाभूतं[१] किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-

अपोहवादनिरसनपुरस्सरं शब्दस्य परमार्थसत्सामान्यविशेषात्मकार्थवाचकत्वसमर्थनम्–

वसायिन्या इत्यादि । यदेव हि शाब्दे ज्ञाने प्रतिभासते स एव शब्दार्थो युक्त । न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधाध्यवसायोऽस्ति, न चापीन्द्रियज्ञानवत् स्वलक्षणप्रतिभास । किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवल शाब्दी बुद्धिरुपजायते । तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शाब्दे ज्ञाने साक्षात्तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्तो नान्य इति भाव । एवं तावत्प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोह साक्षाच्छब्दैरुपजन्यमानत्वान्मुख्य शब्दार्थ इति दर्शितम् । शेषयोरप्यपोहयो गौण शब्दार्थत्वमुपवर्ण्यमानमविरुद्धमेवेति दर्शयन्नाह–साक्षादावाग एतस्मिन्नेवञ्च-प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ।। न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभि. ।। व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यत ।। तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थ इत्युपचर्यते । न तु साक्षादयं शाब्दो द्विविधोऽपोह उच्यते ।। एवञ्चेति । जन्यत्वेन । कस्मात्पुन सामर्थ्येन प्रसज्यप्रतिषेध· प्रतीयत इति दर्शयन्नाह–न तदात्मेति । तस्य गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा य परस्य अश्वादिप्रतिबिम्बस्यात्मा स्वभावो न भवतीति कृत्वा । एवं प्रसज्यलक्षणापोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीतेर्गौण शब्दार्थत्वं प्रतिपाद्य स्वलक्षणस्यापि प्रतिपादयन्नाह–सम्बन्धे सतीत्यादि । तत्र सम्बन्ध शब्दस्य वस्तुभि पारम्पर्येण कार्यकारणभावलक्षण प्रतिबन्ध । प्रथम यथावस्थितवस्त्वनुभव ततो विवक्षा ततस्ताल्वादिपरिस्पन्द तत शब्द इत्येवं परम्परया शब्दस्य वस्तुभि बाह्यैरग्न्यादिभि सम्बन्ध स्यात्तदा तस्मिन् सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगमो भवति । अतो द्विविधोऽपि प्रसज्यप्रतिषेध अन्यव्यावृत्तवस्त्वात्मा चापोह शब्दार्थ इत्युपचर्यते । अयमिति स्वलक्षणात्मा, अभिगन्तान प्रसज्यात्मा च ।"–तत्त्वसं०, प० पृ० ३१८–१९ ।

(१) ननु सौगतैस्तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्ध उच्यते तत्कथं वाच्यवाचकभावोऽभ्युप्यते इत्याह–आ० टि० । "यद्यपि शब्दस्यार्थेन न वाच्यवाचकभावलक्षण सम्बन्ध प्रसिद्ध नासौ कार्यकारणभावादन्योऽवतिष्ठते, अपि तु कार्यकारणभावात्मक एवेति दर्शयति–तद्रूपप्रतिबिम्बस्येत्यादि । तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धिय शब्दाच्च जन्मनि । वाच्यवाचकभावोऽयं जातो हेतुफलात्मक ॥ [illegible] प्रतिबिम्बस्य जनकत्वाद्वाचक उच्यते, तच्च प्रतिबिम्ब शब्देन जन्यमानत्वाद्वाच्यम् ।'–तत्त्वसं० प० पृ० ३१८–१९ । (२) तेन शब्देन तत्प्रतिबिम्बस्य वाच्यत्वम्–आ० टि० । (३) पृ० ५५१ पं० ९ । (४) [illegible] स्य । (५) शब्दलिङ्गगोचरत्वम् । (६) तुलना– "[illegible] प्रथम [illegible] । [illegible] शब्दवृत्तिरत्र [illegible] दृष्ट्वा न प्रयुज्यताम् ॥९८॥ पूर्वोक्तेन प्रकारेण [illegible] । [illegible] येन नैवोपपद्यते ॥९९॥ [illegible] ॥१०६॥ [illegible] ॥१०७॥'–मी० श्लो० अपोह० ९८–९९, १०६–७ । प्रमेयक० पृ० ४३५ [illegible] ३।१०१ । (७) [illegible] ।

१ चाविनाभूत ब० ।

प्रकारेण हि [1]भवन्मते अविनाभावो व्यवस्थितः। नचान्यव्यावृत्तेः केनचित्सह तादात्म्यतदुत्पत्ती घटेते। तथाहि–अक्कृतकत्वव्यावृत्तिः कृतकत्वम्, तत् स्वलक्षणात्मकम्, नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकं वा स्यात्? न तावत्स्वलक्षणात्मकम्; अवस्तुरूपत्वात्, [2]यदवस्तुरूपं न तत् स्वलक्षणात्मकं यथा खरविषाणम्, अवस्तुरूपञ्च अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपतया कृतकत्वमिति। नापि नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकम्; [3]उभयो नीरूपतया तादात्म्यसम्बन्धाभावात्। [4]ययो नीरूपत्वं न तयोस्तादात्म्यसम्बन्धः यथा खपुष्पवन्ध्यासुतयोः, नीरूपत्वञ्च अन्यव्यावृत्तिस्वभावयोः कृतकत्वानित्यत्वयोरिति। तन्नानयोस्तादात्म्यं घटते। नापि तदुत्पत्तिः, नीरूपत्वादेव। तथाहि–यन्नीरूपं तन्न कस्यचिज्जन्यं जनकं वा यथा खरविषाणम्, नीरूपञ्च साध्यसाधनत्वेनाऽभिप्रेतं प्रकृत[5]मन्यापोहद्वयमिति।

[1]ननु चार्थाभावेऽपि अर्थाकारं यत् प्रतिबिम्बमुत्पन्नं तदेवान्यापोहः, स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, इत्यनर्थकं तत्रानुमानम्; [3]इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; ज्ञानेऽर्थाकारधारित्वस्य तन्निराकारत्वसिद्धौ[6] प्रतिपिद्धत्वात्।

अस्तु वा त[7]त्, तथापि–अत्र कस्य प्रतिबिम्बनम्–स्वलक्षणस्य, सामान्यस्य वा? न तावत्स्वलक्षणस्य; त[4]स्य व्यावृत्ताकारत्वात्। अनुगतैकरूपञ्च प्रतिबिम्बम् अन्यापोहोऽभिप्रेतः, अतः स्वलक्षणेनापि त[8]थाविधेनैव भवित[5]व्यम्। तथाहि–यस्य[9] हि यदाकारं प्रतिबिम्बं तत् स्वयमपि तदाकारमेव यथा मुखचन्द्रादि, अनुगतैकाकारञ्च स्वलक्षणस्य ज्ञाने प्रतिबिम्बमिति। अथ सामान्यस्य ज्ञाने प्रतिबिम्बनमिष्यते; तदप्यसत्, तस्या[10]ऽसतः प्रतिबिम्बनानुपपत्तेः। [11]यदसन्न तत् क्वचित् प्रतिबिम्बति यथा खपुष्पम्, असच्च [12]भवन्मते सामान्यमिति। [13]तत्र त[14]त्प्रतिबिम्बाभ्युपगमे वा प्रतिबिम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि[6]विक्ततद्[15]रूपद्वयोपलम्भप्रसङ्गः। [16]यत्र यत् प्रतिबि[7]म्बति तद्द्वयं प्रतिबिम्बोदयात्प्रागन्योन्यविविक्तमुपलभ्यते यथा मुखादर्शादि, प्रतिबिम्ब[8]ति च ज्ञाने सामान्याकार इति।

अथ वाहदोहाद्येकार्थक्रियाकारितया स्वलक्षणमेवानुवृत्ताकारं सत् सामान्यम्, अतो नो[17]क्तदोषावकाशः; तदयुक्तम्; एकार्थक्रियामकुर्व[18]तस्तत्कारित्वाभावतः प्रतिबिम्बो-

(१) सौगतसिद्धान्ते। (२) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपं कृतकत्वं न स्वलक्षणात्मकम् अवस्तुरूपत्वात्। (३) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपकृतकत्व-नित्यत्वव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वयोश्च। (४) अन्यव्यावृत्तिरूपयोः कृतकत्वानित्यत्वयोः तादात्म्यं न भवति नीरूपत्वात्। (५) कृतकत्वमनित्यत्वञ्च–आ० टि०। (६) पृ० १६७। (७) प्रतिबिम्बम्। (८) अनुगतैकरूपेण। (९) स्वलक्षणमनुगतैकाकारम् अनुगतैकाकाररूपेण प्रतिबिम्बितत्वात्। (१०) सामान्यस्य अन्यापोहात्मकत्वेन अर्थक्रियाकारित्वाभावेन चासत। (११) न समान्यं ज्ञाने प्रतिबिम्बति असत्त्वात्। (१२) बौद्धमते। (१३) ज्ञाने। (१४) सामान्य। (१५) प्रतिबिम्बाधारस्य ज्ञानस्य प्रतिबिम्ब्यस्य च सामान्यस्य विविक्तं स्वरूपद्वयं प्रतिभासेत इति भावः। (१६) ज्ञानं सामान्यञ्च विभिन्नतया उपलभ्येताम् तत्र प्रतिबिम्ब्यमानत्वात्। (१७) प्रतिबिम्बाभावलक्षणो दोषः। (१८) सामान्यस्य।

1–क तयो श्र०। 2 ननु चार्थाकारं आ०। 3 इत्यसमी–श्र०। 4 'तस्य' नास्ति आ०। 5–तव्यं यस्य यस्य हि आ०, श्र०। 6–विविक्तस्तद्रूप–व०। 7–बिम्बते श्र०। 8–बिम्बते च श्र०।

द्वयाभावानुषङ्गात्। अर्थक्रियायाश्च कादाचित्कत्वात् तद्द्वयोऽपि कदाचिदेव स्यात्।

किञ्च, एकार्थक्रियाकारित्वं स्वलक्षणे यद्येकमभ्युपगम्यते तदा बाह्यावभासितयोपलभ्यमानप्रतिभासबलात् तदेव प्रतिभास्यमस्तु किं प्रतिविम्बाग्रहग्रहेण ?

किञ्च, यदि स्वप्रतिविम्बमात्राध्यवसायित्वं शाब्दविकल्पस्य स्यात् तर्हि अंतः कुतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? स्वप्रतिभासेऽनर्थे अर्थाध्यवसायाच्चेत्, ननु कोऽयमर्थाध्यवसायो नाम–बाह्यस्यार्थस्य ग्रहणम्, करणम्, योजनम्, समारोपो वा ? प्रथमपक्षे परमतसिद्धिः, शाक्यैः शाब्दप्रत्ययानां बहिरर्थग्रहणानभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, नहि बाह्यार्थकरणे ज्ञानानां सामर्थ्यम्, स्वसामग्रीतस्तेषामाविर्भावात्, अन्यथा अप्रतिहता सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिः स्यात्।

अथ स्वाकारं विकल्पो बाह्येनार्थेन योजयति, तदसत्, तथाप्रतीतेरसम्भवात्। नह्येव कस्यचित् प्रतीतिः 'योऽयमाकारो मदीयः स बाह्यार्थविशिष्टः' इति, बाह्यार्थेन सह स्वाकारस्य सम्बन्धाभावतो विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः। न च परम्परया तदुत्पत्तिसम्बन्धोऽस्यास्तीत्यभिधातव्यम्, व्यावृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिविम्बनहेतुत्वप्रतिषेधात्।

अथ बाह्यमर्थं विकल्पः स्वाकारे समारोपयति, तदप्यसाम्प्रतम्; समारोपो हि उभयग्रहणे सति स्यात्, असति वा ? न तावदसति; उभयग्रहणपुरस्सरत्वात्तस्य। यः समारोपः स उभयग्रहणपुरस्सरः यथा गोर्वाहीके समारोपः, समारोपश्च विकल्पाकारे बाह्यार्थस्येति। न चेदं निदर्शनं साध्यविकलम्, येनैव हि गौरनुभूतः वाहीकश्च, न

तद्धर्मान् वहुभारोद्वहनादीन् वाहीके निश्चित्य गोत्वमारोपयति 'गौर्वाहीकः'[1] इति । अथोभयग्रहणे सति आरोपः स्यात्; ननु[2] उभयोर्ग्रहणं विकल्पेन, निर्विकल्पेन वा स्यात् ? न तावन्निर्विकल्पेन, अस्य[3] स्वलक्षणगोचरतया अन्यापोहस्वरूपविकल्पाकारे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि विकल्पेन; अस्य बाह्यार्थ[4]परा[1]मर्शपराङ्मुखत्वात्, अतः कथमसौ[5] स्वाकारे बाह्यं तत्र[6] वा स्वाकारमारोपयेत् ?

अस्तु वाऽस्योभयग्रहणम्; तथापि[7]–पूर्वं[2] स्वप्रतिभासमनर्थमनुभूय पश्चादर्थमारोपयति, युगपदेव वा स्वप्रतिभासञ्चा[3]नुभवति अर्थञ्च समारोपयति, किं वा यावदेवोक्तं भवति–स्वाकारमनुभवतीति तावदेवोक्तं भवति अर्थमध्यवस्यतीति[8] ? न तावत्स्वरूपानुभवः पूर्वं पश्चादर्थसमारोपः; क्षणद्वयावस्थानविकलत्वाज्ज्ञानानाम्, अन्यथा क्षणभङ्ग[4]भङ्गप्रसङ्गः । अथ युगपदेव स्वप्रतिभासमनुभवति अर्थञ्च समारोपयति, तर्हि ग्राह्यग्राहकाकारात्मके विकल्पस्वरूपे संवेद्यमाने स्वानुभवसमानकाल एवार्थः समारोप्यमाणो विकल्पस्वरूपाद् बहिरे[9]वाऽवतिष्ठते तत्कथमात्मानम[10]नर्थम् अर्थमारोपयेदसौ ? अथ स्वाकारानुभव एव अर्थसमारोपः, तदप्यसुन्दरम्; अनुभवितव्यविकल्पयितव्ययोर्भेदात् । शब्दसंसृष्टं हि स्वरूपं विकल्पयितव्यम्, अशब्दसंसृष्टं तु स्वसंवेदनेनानुभवितव्यम्, तत्कथमनयोरेकत्वम् ?

एतेन 'दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य वहीरूपतयाऽध्यस्तः' इत्यादि[11] प्रत्युक्तम्; तदेकी-

(१) "जर्तिका नाम वाहीकास्तेषा वृत्त सुनिन्दितम् ।"–महाभार० कर्णपर्व अ० २०० । 'जाट' इति भापायाम् । "यथा गोशब्दस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीकः ।"–महाभा० प्र० १।१। १५ । (२) तुलना–"क खलु विकल्पमेव दृश्यमित्यध्यवस्यति । विकल्प एवेति चेत्, न, तत्र सामान्यावभासात् अन्यथा विकल्पत्वायोगात् । अन्य इति चेत्, न, आत्मवादापत्तेः तत्तथाध्यवसायनिमित्ताभावाच्च ।"–अनेकान्तजय० पृ० ३५ B । "नैकत्वाध्यवसायोऽपि दृश्य स्पृशति जातुचित् । विकल्पस्यान्यथा सिद्ध्येत् दृश्यस्पर्शित्वमञ्जसा ।"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०९ । "तदेकत्व हि दर्शनमध्यवस्यति तत्पृष्ठजो व्यवसायो ज्ञानान्तर वा ।"–प्रमाणप० पृ० ५३ । प्रमेयक० पृ० ३१ । सन्मति० टी० पृ० ५०० । स्या० र० पृ०८२ । (३) निर्विकल्पस्य । (४) अवस्तुविपयत्वात्–आ० टि० । (५) विकल्पः । (६) बाह्येऽर्थे । (७) तुलना–"न च स्वाकारमनर्थमर्थं आरोपयति । न तावदगृहीत. स्वाकार. शक्य आरोपयितुमिति तद्ग्रहमेपितव्यम् । तत्किं गृहीत्वा आरोपयति, अथ यदैव गृह्णाति तदैवारोपयति । न तावत्पूर्व· पक्ष, न हि विकल्पज्ञान क्षणिक क्रमवन्तौ ग्रहणसमारोपौ कर्तुमर्हति । उत्तरस्मिस्तु पक्षे वि[illegible]स्वसंवेदनप्रत्यक्षाद्विकल्पाकारादहङ्कारास्पदाद् अनहङ्कारास्पद समारोप्यमाणो विकल्पो नास्वगोचरो न शक्योऽभिन्न. प्रतिपत्तुम् । नापि बाह्यस्वलक्षणैकत्वेन शक्य· प्रतिपत्तु विकल्पज्ञानेन [illegible] बाह्यस्याप्रतिभासनात् ।"–न्यायवा० ता० पृ० ४८५ । (८) स्वाकारानुभवनमेव अर्थाध्यवसाय इति भाव । (९) यदि यदैव विकल्पाकार स्वप्रतिभासमनर्थमनुभवति तदैवार्थं समारोपयति; तदा [illegible] स्वानुभवव्यापृतत्वादर्थोऽवकाशमलभमान तत्स्वरूपाद् वहिरेवास्ते विकल्पे न सङ्क्रामति, [illegible] अनर्थभूते अर्थं विकल्पाकार आरोपयतीति तात्पर्यम् ।–आ० टि० । (१०) आत्मनि [illegible] । (११) पृ० ५५५ पं० ५ ।

1–[illegible] आ० । 2 पूर्वं प्रतिभासमानार्थमनु–आ० । 3–भासं वानुभ–ब० । 4–[illegible] ब० ।

करणञ्च किं तेनैव ज्ञानेन, ज्ञानान्तरेण वा ? न तावत्तेनैव स्वाकारद्वयञ्च पृथक् प्रतिपद्यैक्यं प्रतीयते, तथा प्रतीत्यभावात्, क्षणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तरेण, तद्धि एकम्, अनेकं वा ? यद्यनेकम्; कथमैक्यं प्रतिपद्येत ? स्वसंवेदनेन हि ज्ञानस्वरूपं प्रतीयते दर्शनेन तु दृश्यम् । एकं तु यदि द्वयं प्रत्येति, कथमैक्यम् ? अथैक्यं प्रत्येति, कथं द्वयं विरोधात् ?

किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य प्रतीयते, केवलो वा ? प्रथमपक्षे भावयोः प्रतीतिः किं शब्दादेव, प्रमाणान्तराद्वा ? न तावत् शब्दादेव, अस्य अपोहादन्यत्र प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा किं भावौ प्रतीत्य अतोऽपोहः प्रतीयते, अपोहं वा प्रतीत्य भावाविति ? तत्राद्यविकल्पे नान्यापोहः शब्दार्थः, मुख्यतो भावयोरेव तदर्थत्वात्, प्रतीत्युत्तरकालं सामर्थ्यादेव वा अन्यव्यावृत्तेः प्रतीतेः । नीलञ्च प्रतीत्य अनीलव्यावृत्तिप्रतीत्यभ्युपगमे स्खलन्ती तत्प्रतीतिः स्यात् । अतो नीलस्य अनीलव्यावृत्त्यात्मकस्यैव प्रत्यक्षादिव शब्दात्प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या । द्वितीयविकल्पे तु प्रतीतिविरोधः, न खलु केवलोऽपोहः प्रथमं शब्दात् प्रतीयते पश्चाद् भावाविति कस्यचित्स्वप्नेऽपि प्रतीतिरस्तीति । एतेन प्रमाणान्तरादपि तत्प्रतीतिः प्रत्याख्याता, ततोऽपि भावयोः प्रतीतौ उक्तदोषानुषङ्गाविशेषात् । अस्तु वा कुतश्चिदस्य प्रतीतिः, तथापि–भावाभ्यां भिन्नस्यापोहस्य प्रतीतौ कथमस्य भावसम्बन्धिता स्यात्, भावाभावयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् ?

'केवलोऽपोहः प्रतीयते' इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिव्यूढः, यदि च केवलोऽपोहः शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रतीयेत, तर्हि सर्वशब्दानां पर्यायता स्याद् अपोहमात्रस्याऽविशिष्टस्याशेषशब्दैः प्रतिपादनात् । एवञ्च विशेषणविशेष्यभेदः अतीतादिकालभेदः स्त्रीपुनपुंसक-

(१) तुलना–"नैतद् दृश्यविकल्प्यार्थैकीकरणेन भेदत । एकप्रमात्रभावाच्च तयोरन्यानुसन्धित ।"–शास्त्रवा० ११।१०। "अतीते तदात्मकतया अभावसमारोपानुपपत्तेः ।"–प्रश० कन्द० पृ० ३२०। (२) तुलना–"यश्चायमन्यापोह अर्थानं भवतीति गोशब्दस्याय न किं भावोऽर्थ आहोस्विदभाव इति ?"–न्यायवा० पृ० ३२९। इति प्रसज्य–आ० टि०। (३) शब्दस्य अपोहादन्यत्र भावे प्रवृत्तौ। (४) शब्दार्थत्वात्–आ० टि०। (५) भावस्य प्रतिनियतमसाधारणं स्वरूपं हि [illegible]त्मकं भवत्येव। (६) सापेक्षत्वात्–आ० टि०। (७) अनीलव्यावृत्तिप्रतीतिः। (८) [illegible] पुरुषस्य। (९) भावयोः प्रतीतिः। (१०) अपोहस्य। (११) अपोहस्य। (१२) तुलना–"अन्यसामान्यवचना विशेषवचनाश्च ये। सर्वे भवेयुः पर्याया यद्यपोहस्य वाच्यता ॥"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४२। न्यायम० पृ० ३०४। "अपि च ये विभिन्नसामान्यवचना गवादयो ये च [illegible]

लिङ्गभेदः एकद्विवहुवचनादिभेदश्च दुर्लभः । लिङ्गलिङ्गिभेदश्च दूरोत्सारित एव स्यात्, यदेव हि लिङ्गशब्दवाच्यमपोहमात्रं तदेव लिङ्गिशब्दस्यापि ।

अथापोहस्य[१] भेदाभ्युपगमान्नायं दोषः; तदयुक्तम्, तस्य[२] भेदाऽसिद्धेः । तस्य हि भेदः अपोह्यभेदाद्, वासनाभेदात्, विभि[1]न्नसामग्रीप्रभवत्वात्, विभिन्नकार्यकारित्वात्, आश्रयभेदात्, स्वरूपभेदाद्वा स्यात्? न ता[३]वदपोह्यभेदात्; सर्व-प्रमेयादिशब्दानामपोह्यभेदाभावतः पर्यायताप्रसङ्गात् । न हि असर्वं सर्वराशेर्व्यतिरिक्तम्, अप्रमेयं वा किञ्चिदस्ति यदपोहेन सर्वादिकं सिद्ध्येत् । कथं वा सत्त्व-कृतकत्वादिहेतोः सिद्धिः? न हि असदकृतकं वा जगति किञ्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वादिसाधनं सिद्ध्येत् । अपोह्यभेदादपो[४]हभेदे[2] चान्योन्याश्रयः[५]–सिद्धे ह्यपोह्यभेदे अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ चापोह्यभेदसिद्धिरिति । तन्नापोह्यभेदादपोहस्य भेदः । नापि वा[६]सनाभेदात्; त[७]द्भेदस्या[3]प्यनुपपत्तेः । अनुभवभेदनिबन्धनो हि वासनाभेदः, अपोहस्य चैक[८]रूपत्वे अनुभवभेदो दुर्घटः । नापि विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वा[4]दपोहभेदः; अ[९]स्य कल्पितरूपतया सामग्रीविशेषतः प्रा[5]दुर्भावस्यैवाऽनुपपत्तेः । य[१०]त् कल्पितरूपं तन्न कुतश्चित्प्रादुर्भवति यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, कल्पितरूपश्च भवन्म[११]ते अपोह इति । त[१२]तस्तदुत्पत्तौ वा कल्पितरूपत्वव्याघातः । य[१३]त् कुतश्चिदुत्पद्यते तन्न कल्पितरूप यथा स्वलक्षणम्, उत्पद्यते च सामग्रीविशेषतोऽपोह इति ।

---

(१) तुलना–"ननु भेदादपोहाना प्रसङ्गोऽस्य न युज्यते । सामान्यापोहक्लृप्त्या चेद्वस्तुमात्रे सम तव ।। भिद्यन्ते मम वस्तुत्वात्सामान्यानि परस्परम् । असङ्कीर्णस्वभावानि न चैकत्व वितन्वते। ससृष्टैकत्वनानात्वविकल्परहितात्मनाम् । अवस्तुत्वादपोहाना तव स्याद् भिन्नता कथम् ।।"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४३–४५ । (२) अपोहस्य । (३) तुलना–"अन्यापोहश्च शब्दार्थ इत्ययुक्तम्, अव्यापकत्वात् । यत्र द्वैराश्य भवति तत्रेतरप्रतिषेधादितर प्रतीयते यथा गौरिति पदे गौ प्रतीयमान अगौ प्रतिषिध्यमान । न पुन सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत्सर्वपदेन निवर्त्येत ।" –न्यायवा० पृ० ३२९ । "ननु चापोह्यभेदेन भेदोऽपोहस्य सेत्स्यति । न विशेष स्वतस्तस्य परतश्चौपचारिक ।। ४७ ।। प्रमेयज्ञेयशब्दादेरपोह्य कुत एव तु ।"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४७, १४४ । प्रमेयक० पृ० ४३४ । प्रमेयर० ३।१०१ । (४) तुलना–"यद्यप्यन्येषु शब्देषु वस्तुन स्यादपोह्यता । सच्छब्दस्य त्वभावाख्यान्नाऽपोह्य भिन्नमिष्यते ।।"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९८ । (५) तुलना–"अपोह्यभेदक्लृप्तिश्च नाभावाऽभेदतो भवेत् । तद्भदोऽपोहभेदाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसश्रयम् ।। गोसामान्यस्य भिन्नत्वादगौरित्येष भिद्यते । अगौरित्यस्य च भेदेन गोसामान्य च भिद्यते ।।"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६५–६६ । न्यायम० पृ० ३०४ । (६) तुलना–"नचापि वासनाभेदाद् भेद सद्रूपतापि वा । अपोहाना प्रकल्प्येत न ह्यवस्तुनि वासना ।। स्मृतिं मुक्त्वा नचास्त्यस्या शक्तियोग स्थितात्मने । तस्मान्नान्यादृशे माऽर्थे करोत्यन्यादृशी मतिम् ।। भवद्भि शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न लभ्यते ।'–मी० श्लो० अपोह० श्लो० १००–२ । प्रमेयक० पृ० ४३९ । (७) वासनाभेदस्य । (८) अभावरूपतया तुच्छैकस्वभावत्वे । (९) अपोहस्य । (१०) अपोहो न कुतश्चित्प्रादुर्भवति कल्पितरूपत्वात् । (११) सौगतमते । (१२) कारणसामग्रीत अपोहोत्पत्तौ । (१३) अपोहो न कल्पित कारणादुत्पद्यमानत्वात् ।

1 'विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्' नास्ति श्र० । 2–भेदे वान्यो–ब०, श्र० । 3 तद्भेदस्याप्यनुभव–श्र० । 4–त्वादपोहभेदस्य कल्पि–ब० । 5 प्रादुर्भावानुप–श्र० ।

एतेन विभिन्नकार्यकारित्वात्तद्भेदः प्रत्याख्यातः; अपरमार्थसतो विभिन्नकार्यकारित्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्। तत्कारित्वे वाऽपरमार्थसत्त्वाऽसम्भवात् स्वलक्षणवत्। कुतश्च कार्यकारणयोर्भेदः सिद्धो यतस्तद्भेदादपोहस्य भेदः सिद्ध्येत्–अपोहभेदात्, स्वरूपतो वा? अपोहभेदाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि कारणभेदे कार्यभेदे च तत्प्रभवतया तत्कारितया च अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यकारणयोर्भेदसिद्धिरिति। स्वरूपतस्तद्भेदसिद्धौ च अपोहकल्पनाऽनर्थक्यम्।

अथाश्रयभेदादपोहभेदः; तन्न, अवस्तुरूपस्यास्य क्वचिदाश्रितत्वानुपपत्तेः। यदवस्तुरूपं न तत् क्वचिदाश्रितम् यथा गगननलिनम्, अवस्तुरूपश्चापोह इति। आश्रितत्वे वा किमसौ प्रतिव्यक्ति भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात्? यदि भिन्नः, तदा द्रव्यगुणकर्मणां मध्ये अन्यतमरूपतैवास्याभ्युपगता स्यात्, प्रतिव्यक्त्यन्यस्य आश्रितत्वानुपपत्तेः। अथाभिन्नः, तदा सामान्यरूपतैव नामान्तरेणोक्ता स्यात् इत्युभयथाप्यन्यापोहरूपतानुपपत्तिः।

अथ स्वरूपभेदादपोहस्य भेदः; तन्न, अपरमार्थसत्त्वेऽस्य स्वरूपभेदानुपपत्तेः। यदपरमार्थसन्न तस्य स्वरूपभेदः यथा खपुष्पखरविषाणादेः, अपरमार्थसञ्चापोह इति। स्वरूपभेदे वाऽस्य स्वलक्षणवत् परमार्थसत्त्वप्रसङ्गः।

किञ्च, पर्युदासरूपः, प्रसज्यरूपो वाऽपोहः स्वरूपतो भिन्नः शब्दैरभिधीयेत? यदि पर्युदासरूपः, तदास्य भावान्तररूपताभ्युपगन्तव्या। भावान्तरञ्च 'विशेषः, सामान्यम्, तदुपलक्षितो वा विशेषः, तत्समुदायो वा स्यात्' इति पक्षचतुष्टयेऽपि विधिरेव शब्दार्थः स्यात्, नाऽपोहः। अथ प्रसज्यरूपः, तदा निषेधमात्रमेव शब्दैरभिहितं स्यात्, तथा च

तयाप्रतीत्यभावात्। परप्रतिपादनार्थो हि शब्दप्रयोगः, परश्च नीलार्थी न अनीलनिषेधमात्रं जिज्ञासते, अजिज्ञासितञ्च प्रतिपादयतः प्रतिपादकस्याऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः।

निषेधमात्राभिधायित्वे च नीलोत्पलशब्दयोः सामाना[1]धिकरण्यन्न प्राप्नोति, नीलशब्दो ह्यनीलव्यवच्छेदमात्रे चरितार्थः, उत्पलशब्दोऽपि अनुत्पलव्यवच्छेदमात्रे। न चैतौ व्यवच्छेदौ एकस्मिन् धर्मिणि सम्बद्धौ; भावाभा[2]वयोस्तादात्म्यादिसम्बन्धासंभवात्। नापि तौ श[3]ब्दौ एकधर्मिविषयौ; घटपटशब्दयोरिवाऽनयोः एक[4]धर्मिविषयत्वानभ्युपगमात्।

किञ्च, नञेव पर्युदासवृत्तिः प्रसज्यवृत्तिर्वा भवति, गौरिति च नायं नञ्, अतः कथमगोपर्युदासेन गोशब्दवृत्तिः? गौरयमिति विधिरूपेणैवास्य प्रवर्त्तमानत्वात्। ततः सामान्यविशेषवानर्थः शब्दस्य विषयोऽभ्युपगन्तव्यः अलं प्रतीत्यपलापेन। तस्य[5] च सङ्केतव्यवहारकालानुयायित्वप्रसिद्धेः नेत्थम्भूते[6] स्वलक्षणे सङ्केतकरणवैफल्यम्। भवत्क[7]ल्पितस्य तु स्वलक्षणस्य सुगतमतपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात्[8] तत्र[9] तत्करणं[10] विफलमेव। अतो यः 'सङ्केतव्यवहारकालाननुयायी' इत्यादि[11] सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम्।

सम्बन्धश्च वाच्यवाचकयोः ऊहाख्यप्रमाणेन प्रतीयते, सर्वत्र सम्बन्धप्रतीते[12]स्तदधीनत्वात्। अतः 'अस्येदमभिधानमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थयोर्न प्रतिभासः' इत्याद्य[13]प्ययुक्तमुक्तम्, सामान्यविशेषात्मनोरेव शब्दार्थयोः प्रतिनियतेन्द्रियविषयतोपपत्तेः, अतः कथं तयोः तत्कारिणि[14] ज्ञाने प्रतिभासाभावः?

ननु चातीतानागतार्थशब्दानां 'नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति' इत्यादिशब्दानाञ्च अर्थाभावेऽपि प्रवृत्तिप्रतीतेः कथमर्थे प्रतिबन्धसिद्धिस्तेषा[15]म्? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,

(१) "भिन्ननिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नधिकरणे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्"–प्रमाणवा०स्ववृ० टी० १।६४। तुलना–"यस्य चान्यापोहः शब्दार्थस्तेनानीलानुत्पलव्युदासौ कथं समानाधिकरणाविति वाच्यम्। यस्य पुनर्विधीयमानः शब्दार्थस्तस्य जातिगुणविशिष्टं नीलोत्पलशब्दाभ्यां द्रव्यमभिधीयते, जातिगुणौ द्रव्ये वर्तेते न पुनरनीलानुत्पलव्युदासौ, तस्मात् समानाधिकरणार्थो नास्तीति।"–न्यायवा० पृ० ३३१। न्यायम० पृ० ३०५। "सामानाधिकरण्यञ्च न भिन्नत्वादपोहयोः। अर्थतश्चैतदिष्येत तदृत्स्वात्मैकता तयोः॥ न चासावाश्रयो वस्तु गम्यतेऽन्यच्च नास्ति ते। अगम्यमानमेकार्थ्यं शब्दयोः क्वोपयुज्यते॥"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११८–१९। अनेकान्तजय० पृ० ४०। प्रमेयक० पृ० ४३६। (२) धर्मो भावात्मकः, अभावात्मकौ च अनीलानुत्पलव्यवच्छेदौ। (३) नीलमुत्पलमिति शब्दौ। (४) सामानाधिकरण्यं हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोः एकत्रार्थे वृत्तिः–आ०टि०। (५) सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य। (६) सामान्यविशेषात्मके। (७) सौगतकल्पितस्य। (८) पृ० ३७९। (९) [illegible]। (१०) सङ्केतकरणम्। (११) पृ० ५५२ पं० ९। (१२) ऊहाख्यप्रमाणाधीनत्वात्। (१३) पृ० ५५३ पं० ४। (१४) सङ्केतकारिणि। (१५) शब्दानाम्।

1 निरूपमपि ब०। 2–विषयौ घट–आ०। 3–शब्दप्रवृत्ति ब०, श्र०। 4–वास्य वर्त्त–आ०।

यतो न वयं सर्वशब्दानामर्थनान्तरीयकत्वं प्रतिपन्नाः। किन्तर्हि? सुनिश्चितासप्रणेतृकाणामेव। न च केषाञ्चिच्छब्दानामर्थव्यभिचारित्वदर्शनात् सर्वेषां तद्व्यभिचारित्वं युक्तम्; मरीचिकादौ जलाद्यवभासिनोऽध्यक्षस्य अप्रामाण्योपलम्भात् सत्यजलाद्यवभासिनोऽप्यस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गात्। मरीचिकादौ जलाद्यवभासिन एवास्याऽप्रामाण्यं बाधकसद्भावान्नेतरस्य इत्यन्यत्रापि समानम्। तन्न प्रत्यक्षशब्दयोः परमार्थविषयत्वे कश्चिद्विशेषः।

अतो निराकृतमेतत्–'*अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्*' इत्यादि। नहि प्रतिभासभेदो विषयभेदं प्रसाधयति, अभिन्नेऽप्यर्थे स्वसामग्रीविशेषात्तद्भेदस्योपपद्यमानत्वात् दूरासन्नार्थोपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत्। यथैव हि दूरासन्नदेशादिसामग्रीविशेषवशात् पादपादेरभिन्नस्यापि विभिन्नप्रतिभासविषयत्वं तथा शाब्द-प्रत्यक्षप्रत्यययोरभिन्नविषयत्वेऽपि शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदाद् अस्पष्टेतरप्रतिभासभेदो न विरोधमध्यास्ते। अत अन्धस्य चक्षुष्मतश्च अभिन्नेऽपि विषये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदोपपत्तेः अयुक्तमुक्तम्–'*शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो नतु प्रत्यक्षमीक्षते।*' इति।

यच्चान्यदुक्तम्–'वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणभावान्नान्य' इत्यादि, तदप्यचारु, यतः सति बुद्धिसम्बन्धिनि प्रतिबिम्बे अस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्यत्वं स्यात् शब्दस्य च तज्जनकत्वाद् वाचकत्वम्, न च तदस्ति, प्रागेवास्य प्रपञ्चेन प्रतिषेधात्। यदि च कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि शब्द·